आप्तवाणी

श्रेणी-14 (भाग-4)

दादा भगवान प्ररूपित

आप्तवाणी

श्रेणी - 14

भाग - 4

मूल गुजराती संकलन : दीपक देसाई

हिन्दी अनुवाद : महात्मागण

प्रकाशक : **अजीत सी. पटेल**
दादा भगवान विज्ञान फाउन्डेशन,
1, वरूण अपार्टमेन्ट, 37, श्रीमाली सोसायटी,
नवरंगपुरा पुलिस स्टेशन के सामने, नवरंगपुरा,
अहमदाबाद - 380009, Gujarat, India.
फोन : +91 79 3500 2100, +91 9328661166/77

कोपीराइट : © Dada Bhagwan Foundation,
5, Mamta Park Society, B\h. Navgujarat College, Usmanpura,
Ahmedabad - 380014, Gujarat, India.
Email : info@dadabhagwan.org
Tel : +91 9328661166/77
All Rights Reserved. No part of this publication may be shared, copied, translated or reproduced in any form (including electronic storage or audio recording) without written permission from the holder of the copyright. This publication is licensed for your personal use only.

प्रथम संस्करण : 2000 प्रतियाँ, दिसम्बर 2025

भाव मूल्य : 'परम विनय' और
'मैं कुछ भी जानता नहीं', यह भाव!

द्रव्य मूल्य : 250 रुपए

मुद्रक : अंबा मल्टीप्रिन्ट
एच.बी.कापडिया न्यू हाइस्कूल के सामने,
छत्राल-प्रतापपुरा रोड, छत्राल,
ता. कलोल, जि. गांधीनगर-382729, गुजरात
फोन : +91 79 3500 2142

ISBN/eISBN : 978-81-98166-75-3

Printed in India

त्रिमंत्र

नमो अरिहंताणं

नमो सिद्धाणं

नमो आयरियाणं

नमो ऊवज्झायाणं

नमो लोए सव्वसाहूणं

एसो पंच नमुक्कारो

सव्व पावप्पणासणो

मंगलाणं च सव्वेसिं

पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २ ॥

ॐ नमः शिवाय ॥ ३ ॥

जय सच्चिदानंद

'दादा भगवान' कौन?

जून 1958 की एक संध्या का करीब छः बजे का समय, भीड़ से भरा सूरत शहर का रेलवे स्टेशन पर बैठे श्री ए.एम.पटेल रूपी देहमंदिर 'दादा भगवान' पूर्ण रूप से प्रकट हुए और कुदरत ने सर्जित किया अध्यात्म का अद्भुत आश्चर्य। एक घंटे में उन्हें विश्वदर्शन हुआ। 'मैं कौन? भगवान कौन? जगत् कौन चलाता है? कर्म क्या? मुक्ति क्या?' इत्यादि जगत् के सारे आध्यात्मिक प्रश्नों के संपूर्ण रहस्य प्रकट हुए।

उन्हें प्राप्ति हुई, उसी प्रकार केवल दो ही घंटों में अन्य को भी प्राप्ति करवाते थे, उनके अद्भुत सिद्ध हुए ज्ञानप्रयोग से। उसे 'अक्रम मार्ग' कहा। क्रम अर्थात् सीढ़ी दर सीढ़ी, क्रमानुसार ऊपर चढ़ना! अक्रम अर्थात् बिना क्रम के, लिफ्ट मार्ग, शॉर्ट कट!

वे स्वयं प्रत्येक को 'दादा भगवान कौन?' का रहस्य बताते हुए कहते थे कि ''यह जो आपको दिखते हैं वे दादा भगवान नहीं हैं, हम ज्ञानी पुरुष हैं और भीतर प्रकट हुए हैं, वे 'दादा भगवान' हैं। जो चौदह लोक के नाथ हैं। वे आप में भी हैं, सभी में हैं। आपमें अव्यक्त रूप में रहे हुए हैं और 'यहाँ' हमारे भीतर संपूर्ण रूप से व्यक्त हुए हैं। मैं खुद भगवान नहीं हूँ। मेरे भीतर प्रकट हुए दादा भगवान को मैं भी नमस्कार करता हूँ।''

आत्मज्ञान प्राप्ति की प्रत्यक्ष लिंक

परम पूज्य दादा भगवान (दादाश्री) को 1958 में आत्मज्ञान प्रकट हुआ था। उसके बाद 1962 से 1988 तक देश-विदेश परिभ्रमण करके मुमुक्षुजनों को सत्संग और आत्मज्ञान की प्राप्ति करवाते थे।

दादाश्री ने अपने जीवनकाल में ही पूज्य डॉ. नीरू बहन अमीन (नीरू माँ) को आत्मज्ञान प्राप्त करवाने की ज्ञानसिद्धि प्रदान की थी। दादाश्री के देहविलय पश्चात् नीरू माँ उसी प्रकार मुमुक्षुजनों को सत्संग और आत्मज्ञान की प्राप्ति, निमित्त भाव से करवा रही थी।

आत्मज्ञानी पूज्य दीपक भाई देसाई को दादाश्री ने सत्संग करने की सिद्धि प्रदान की थी। वर्तमान में पूज्य नीरू माँ के आशीर्वाद से पूज्य दीपक भाई देश-विदेश में निमित्त भाव से आत्मज्ञान प्राप्त करवा रहे हैं।

इस आत्मज्ञान प्राप्ति के बाद हज़ारों मुमुक्षु संसार में रहते हुए, सभी ज़िम्मेदारियाँ निभाते हुए भी मुक्त रहकर आत्मरमणता का अनुभव करते हैं।

निवेदन

ज्ञानी पुरुष संपूज्य दादा भगवान के श्रीमुख से अध्यात्म तथा व्यवहारज्ञान से संबंधित जो वाणी निकली, उसको रिकॉर्ड करके, संकलन तथा संपादन करके पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया जाता है। विभिन्न विषयों पर निकली सरस्वती का अद्‌भुत संकलन इस पुस्तक में हुआ है, जो नए पाठकों के लिए वरदान रूप साबित होगा।

प्रस्तुत अनुवाद में यह विशेष ध्यान रखा गया है कि वाचक को दादाजी की ही वाणी सुनी जा रही है, ऐसा अनुभव हो, जिसके कारण शायद कुछ जगहों पर अनुवाद की वाक्य रचना हिन्दी व्याकरण के अनुसार त्रुटिपूर्ण लग सकती है, लेकिन यहाँ पर आशय को समझकर पढ़ा जाए तो अधिक लाभकारी होगा।

प्रस्तुत पुस्तक में कई जगहों पर कोष्ठक में दर्शाए गए शब्द या वाक्य परम पूज्य दादाश्री द्वारा बोले गए वाक्यों को अधिक स्पष्टतापूर्वक समझाने के लिए लिखे गए हैं। जबकि कुछ जगहों पर अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी अर्थ के रूप में रखे गए हैं। दादाश्री के श्रीमुख से निकले कुछ गुजराती शब्द ज्यों के त्यों *इटालिक्स* में रखे गए हैं, क्योंकि उन शब्दों के लिए हिन्दी में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जो उसका पूर्ण अर्थ दे सके। हालांकि उन शब्दों के समानार्थी शब्द अर्थ के रूप में, कोष्ठक में और पुस्तक के अंत में भी दिए गए हैं।

ज्ञानी की वाणी को हिन्दी भाषा में यथार्थ रूप से अनुवादित करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु दादाश्री के आत्मज्ञान का सही आशय, ज्यों का त्यों तो, आपको गुजराती भाषा में ही अवगत होगा। जिन्हें ज्ञान की गहराई में जाना हो, ज्ञान का सही मर्म समझना हो, वह इस हेतु गुजराती भाषा सीखें, ऐसा हमारा अनुरोध है।

अनुवाद से संबंधित कमियों के लिए आपसे क्षमाप्रार्थी हैं।

❖❖❖❖❖

समर्पण

अनंत जन्मों से था 'खुद', अपने ही स्वरूप से अनजान,
ज्ञानी की कृपा से जाना खुद को, पाकर ज्ञानामृत का रसपान।

देह से भिन्न 'मैं शुद्ध आत्मा', बरते प्रतीति अखंड दिन-रात,
पुरुष पद पर 'मैं' जाग्रत आत्मा, प्रकृति को ज्ञेय निहारूँ लगातार।

अकर्ता, अक्रिय 'मैं' ज्ञाता-द्रष्टा, नहीं बिल्कुल ज्ञायक को ज्ञेय का स्पर्श,
असंग, निर्लेप, निर्विकल्प आत्मा, स्पष्ट अनुभव से हुआ वीतराग।

अगुरु-लघु, अजन्म, अप्रतिबद्ध, स्वपरिणाम से निरालंब सदा ही,
गुण अनंत भिन्न-भिन्न, संयुक्त रूप में स्वभाव 'पूर्ण प्रकाश'।

आत्मा ही परमात्मा है, एब्सॉल्यूट अनंत गुणधाम,
अमर, अच्युत, अलख-निरंजन, ज्ञान-दर्शन-शक्ति-सुखधाम।

निज गुणों की सम्यक् आराधना से, अव्यक्त आत्मा होता है व्यक्त,
अंश-अंश केवलज्ञान प्रकाशित, 'बोध बीज' में से होती है पूर्णिमा।

अवर्णनीय, नि:शब्द आत्मा, शब्दों से कैसे उसे समझाया जाए?
निर्ग्रंथ ज्ञानी की संज्ञा-कृपा से, स्वपद का सर्वांग रूप से अनुभव हो जाए।

अनुभव का निचोड़ ज्ञानी के ज्ञान से, यहाँ एक-एक शब्द में स्वरूपित,
समर्पण 'अहो' यह 'आप्तवाणी', जगत्कल्याण के लिए सदा सुशोभित।

❖❖❖❖❖

अनुभव सिद्ध वाणी 'आप्तवाणी' में

प्रश्नकर्ता : दादा, आपकी आप्तवाणी पढ़ते-पढ़ते दो घंटों के लिए संसार अदृश्य ही हो गया!

दादाश्री : ऐसे दो घंटे तो आते ही नहीं न! संसार की उपस्थिति तोड़ना बहुत बड़ी बात है, और आप्तवाणी पढ़ते हुए जगत् विस्मृत हो जाए तो निरे पाप ही धो देती है। क्योंकि इसे पढ़ते समय न तो संसार में है और न ही मोक्ष में, बीच वाली स्टेज में है। उससे सारे पाप भस्मीभूत हो जाते हैं। इसमें संसार बिल्कुल भी नहीं है। इसलिए यह आप्तवाणी अपना काम *निकाल* दे, ऐसी है।

प्रश्नकर्ता : जिन्होंने ज्ञान नहीं लिया होता उन्हें भी आप्तवाणी पढ़कर ऐसा ही अनुभव होता है।

दादाश्री : हाँ, तब भी उसे अनुभव होता है। क्योंकि यह अक्रम विज्ञान है न! यह अक्रम विज्ञान संपूर्ण है, फुल स्टॉप है और क्रमिक में जो है वह ज्ञान है, विज्ञान नहीं है। इसलिए अनुभव नहीं होता। उस ज्ञान में करना पड़ता है और इस अक्रम में समझना पड़ता है। इन पुस्तकों को समझ जाएगा तो उसे अनुभव उत्पन्न हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : आप्तवाणी पढ़ते ही अंदर सेट हो जाता है कि हम जिस वस्तु की इच्छा कर रहे थे, वह वस्तु इसमें है।

दादाश्री : आप्तवाणी पढ़कर तो कितने ही लोगों के हृदय परिवर्तित हो जाते हैं! क्योंकि आप्तवाणी की यह पुस्तक और ही तरह की है! इसमें भी फिर आत्मा के अनुभव वाली वाणी है। अनुभव वाली वाणी कहीं होती ही नहीं है न कभी! अध्यात्म के अनुभव वाली पुस्तक हो ही नहीं सकती। अनुभव की पुस्तक कहाँ से लाएँगे? शास्त्रीय पुस्तकें होती हैं लेकिन उनमें कितना अनुभव है? वह बुद्धिजन्य अनुभव है, लेकिन आत्मा का जो ज्ञानजन्य अनुभव है वह कहीं भी नहीं है। वह अनुभव इन आप्तवाणियों में है।

आत्मा का पूर्ण अनुभव पुस्तकों में दिया ही नहीं गया है। अनुभव के स्टेशन पहुँचने तक की ही चीज़ दी गई है। तो अनुभव के स्टेशन

तक पहुँचकर 'अनुभव क्या है', उसका थोड़ा-बहुत पता चला और फिर रुक गया। क्योंकि जो-जो आत्मअनुभवी हुए हैं, वे 'आत्मा' बताने के लिए रहे नहीं। अनुभव हो जाने के बाद मौन होकर चले गए। वे पुस्तक लिखने भी नहीं रुके और कहने भी नहीं रुके।

प्रश्नकर्ता : लेकिन आत्मा का अनुभव पूरी तरह से लिखा जा सकता है क्या?

दादाश्री : वह अनुभव लिखा नहीं जा सकता, लेकिन इस पर से उसकी झलक मिलती है कि उन्हें वह कैसा अनुभव है, आत्मा का अनुभव क्या-क्या काम करता है! उन्हें ऐसा समझ में आ जाता है कि आत्मा के अनुभव के बिना ऐसी वाणी नहीं निकल सकती, ऐसा दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता।

प्रश्नकर्ता : आपकी ये सारी बातें ओरिजनल और मौलिक लगती हैं।

दादाश्री : हाँ, मौलिक बातें हैं सारी!

प्रश्नकर्ता : आप दृष्टांत ऐसे देते हैं कि अब सूक्ष्म बातों का भी पता चल जाता है।

दादाश्री : हाँ, चल जाता है। दृष्टांत हैं न! अनुभव के ही दृष्टांत हैं ये। अपनी आप्तवाणियाँ पूर्ण अनुभव वाली वाणी ही हैं।

ज्ञानी का एक वाक्य तो अनंत ज्ञानकला से भरा होता है। वे वाक्य तो अनुभव वाक्य कहलाते हैं। शास्त्रों में भी न लिखी हो, ऐसी वाणी होती है उनकी और उस वाणी का हमें अनुभव होता है कि, 'ओहोहो! कैसी सटीक वाणी है!' यह अनुभव वाली वाणी तो ठेठ तक चलेगी।

हमारी इन पुस्तकों का कोई रोज़ एक घंटे के लिए ही आराधन करेगा तो अंतिम दशा तक पहुँचा देंगी। क्योंकि निदिध्यासन किसका कर रहे हैं? ज्ञानी पुरुष द्वारा बोली हुई वाणी का, उसका आराधन कर रहे हैं। हमारे वाक्यों का आराधन ही तप है और वही धर्म है, तो आपको निरंतर परमानंद रहेगा।

❖❖❖❖❖

संपादकीय

इस जगत् की वास्तविकता क्या है? इस हकीकत का वर्णन तीर्थंकर भगवंतों ने केवलज्ञान में देखकर किया है। उन्होंने कहा है कि यह जगत् मूल स्वरूप में छः सनातन तत्त्वों से ही बना हुआ है और छहों तत्त्व अपने-अपने द्रव्य, गुण व पर्याय सहित रहे हुए हैं। इन छः तत्त्वों में से एक तत्त्व है 'आत्मतत्त्व', वही खुद 'मैं' है और उसी को रियलाइज़ करना है।

'*ज्यां लगी आत्मतत्त्व चिन्ह्यों नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी*' (जब तक आत्मतत्त्व नहीं पाया है तब तक सर्व साधना झूठी), तो वह आत्मा रियलाइज़ कैसे हो सकता है? उसकी प्राप्ति शास्त्रों के अध्ययन या क्रियाकांड से नहीं लेकिन जिन्होंने संपूर्ण रूप से आत्मा अनुभव कर लिया है और जो औरों को आत्मा की अनुभूति करवाने में समर्थ हैं, ऐसे प्रकट ज्ञानी पुरुष के माध्यम से हमें सहज रूप से आत्मा अनुभव में आ जाता है।

कृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि, 'ज्ञानी पुरुष ही मेरा आत्मा है और वे पापों को भस्मीभूत करके आत्मज्ञान प्राप्त करवा सकते हैं।' जबकि वेद, अंत में कहते हैं, 'नेति.. नेति.. नेति... तू जिस आत्मा को ढूँढता है, वह इसमें नहीं मिलेगा, जीवित आत्मज्ञानी के पास से मिलेगा। यदि तुझे उनसे आत्मज्ञान प्राप्त हो जाएगा, आत्मदृष्टि मिल जाएगी तो तुझे आगे की बातें समझ में आएँगी। अतः यदि तुझे मोक्ष चाहिए तो ज्ञानी के पास आना।' मोक्ष किसी पुस्तक में से प्राप्त नहीं हो सकता, उसके लिए तो प्रकट दीये से खुद का दीया प्रकट करवाने के लिए प्रत्यक्ष आना होगा।

क्रमिक मार्ग में जब सम्यक्त्व मोह बाकी रहता है तब, आत्मा क्या होगा, कैसा होगा, क्या करता होगा, उसका कैसा स्वरूप होगा, उसके गुण क्या होंगे, क्या धर्म होंगे, इस तरह जीवन में अनंत भेद (प्रकार) से आत्मा से संबंधित जानने के लिए प्रश्न उद्भव होते हैं और इस संसार में कहीं भी रुचि या मोह नहीं रहता। ऐसे करते-करते जब अंतिम आवरण टूटता है तब आत्मा का साक्षात्कार होने के बाद संपूर्ण अनुभव होता है। खुद संपूर्ण आत्मा रूप ही हो जाता है। मूल आत्मा अपने गुणधर्म-स्वभाव,

स्वरूप सहित पूरी तरह से अनुभव में आ जाता है। वे ही फिर जितना उदय होता है उतना खुद की अनुभव वाणी द्वारा आत्मा के अद्भुत रहस्यों का खुलासा कर सकते हैं।

अक्रम विज्ञानी परम पूज्य दादाश्री को 1958 में जब आत्मा का संपूर्ण अनुभव हुआ, आत्मा का स्वरूप और स्वभाव स्पष्ट रूप से समझ में आ गए, तब उसके प्रत्येक गुण को पृथक-पृथक अनुभव करने की ज़रूरत नहीं रही। संपूर्ण-सर्वांग अनुभव होने के बाद में खुद उसी रूप हो गए। प्रत्येक गुणधर्म सहित आत्मा का अनुभव बरता। इसीलिए वे आत्मा के गुणधर्मों को, स्वभाव को, स्वरूप को, जैसा है वैसा उदारहण सहित वाणी द्वारा समझा सके, और श्रोता को भी ऐसा दिखना शुरू हो जाए, ऐसी समझा दे पाए। यही अनुभवी ज्ञानी पुरुष की विशेषता है। खुद आत्मा के स्पष्ट वेदन में रहे और हमारे लिए उस दशा की प्राप्ति का संपूर्ण मार्ग खोल सके।

तीर्थंकर भगवंतों ने केवलज्ञान में जैसा आत्मा का अनुभव किया, वैसा आत्मा ज्ञानी पुरुष परम पूज्य दादाश्री को पूरी तरह से समझ में आया, सर्वांश रूप से अनुभव में आया और केवलज्ञान में कुछ ही अंशों की कमी रही। इसीलिए वे खुद आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ वर्णन दे सके। इस काल में, इस क्षेत्र में ऐसे ज्ञानी पुरुष अवतरित होना, वह ग्यारहवाँ ठोस आश्चर्य है, 'असंयति पूजा' नामक!

'ज्ञानी' अर्थात् जिन्हें खुद के स्वरूप और स्वभाव का चिंतवन ही होता रहता है। 'स्वरूप' अर्थात् 'खुद कौन है' ऐसा तय होना और स्वभाव अर्थात् जो आत्मा के गुणधर्मों में ही रहा करते हैं, उन्हें कहते हैं 'ज्ञानी'। 'ज्ञानी' निरंतर 'स्वरूप' में ही रहते हैं, एक क्षण भर के लिए भी संसार में नहीं होते!

'मैं आत्मा हूँ', यह और ये मेरे गुणधर्म हैं, ऐसा चिंतवन होना अर्थात् स्वरूप और स्वभाव में रहना, वह स्वरमणता है। -दादाश्री

किसी भी चीज़ को पहचानना हो तो उसके गुणधर्मों से पहचाना जा सकता है। जो आत्मा तत्त्व है, उसे पहचानने के लिए उसके गुणधर्मों को पहचानना होगा। अनंत गुणों में से मुख्य गुण हैं - अनंत ज्ञान, अनंत

दर्शन, अनंत सुख, अनंत शक्ति, अगुरु-लघु स्वभाव, अविनाशी, अमर, असंग, निर्लेप आदि।

एक-एक अंश करके जब गुण प्रकट होते हैं तब उसे गुण कहा जाता है। जब तक बारस, तेरस, चौदस जितना प्रकट हुआ हो तब तक वे गुण कहलाते हैं और पूर्णिमा होने पर परिपूर्ण प्रकट गुण, खुद स्वभाव में आ गया, ऐसा कहा जाता है। स्वभाव में आ जाने पर सर्वांश रूप से सभी गुण प्रकट हो जाते हैं। सिर्फ एक ही गुण नहीं लेकिन प्रत्येक गुण, अनंत गुण सभी सर्वांश रूप से प्रकट हो जाने पर 'खुद' आत्मस्वभाव में आ जाता है। सभी गुण संपूर्ण रूप से अनुभव में बरतते हैं और कहीं भी विरोधाभास नहीं रहता। निरंतर स्वपरिणाम में ही बरतते हैं।

अक्रम विज्ञान के भेदज्ञान से आपको (आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद) मूल आत्मा की प्रतीति बैठ जाती है। अब पाँच आज्ञा पालन करने से जागृति बढ़ती है और जागृति से पाँच आज्ञा का पालन किया जा सकता है। लेकिन शुद्ध उपयोग में आने के लिए आत्मगुणों का आराधन होना ज़रूरी है। ऐसे गुणों को पहचान कर उनका उपयोग करने से अनुभव दशा में पहुँचेंगे।

आत्मा के विविध गुणों को बार-बार स्टडी (अभ्यास) करने से, उपयोग में सेट करने से, धीरे-धीरे अभ्यास करने से उसका अनुभव होता जाएगा और अंत में सहज आत्मस्वरूप दशा में पहुँचा जा सकेगा। निरंतर मुक्ति, अखंड समाधि दशा का अनुभव होगा।

अपने यहाँ जो आत्मा के गुणों की *भजना* करने को कहा है, तो वह कैसे करनी है? उदाहरण के तौर पर, 'मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं असंग हूँ', तो मैं असंग किस प्रकार से हूँ? संगी क्रिया किसे कहते हैं? उसे स्टडी करते-करते, दिन भर में हुए घटनाओं में यह क्रिया संगी क्रिया है, उसमें मैं इस प्रकार से असंग हूँ, ऐसे जागृतिपूर्वक अभ्यास असंग दशा की अनुभव श्रणियों में आगे बढ़ाएगा।

आत्मगुणों की *भजना* से आत्मस्थिरता आती है, दृढ़ता आती है और आत्मा की तरफ जाने के लिए वह बहुत बड़ा आधार है। अत: शुरुआत में आत्मगुणों की *भजना* करना हितकारी है। क्योंकि कर्मों के

फोर्स, भरे हुए माल के सामने जागृति की स्थिरता आने में वे हेल्पिंग हैं। फिर, आगे की स्टेज में खुद का मूल स्वभाव जो ज्ञाता-द्रष्टा है, उसमें रहकर फाइल वन को (चंदू को) एक *पुद्गल* को देखना है।

उस दशा तक पहुँचने के लिए खुद के दोषों को देखकर, सामने वाले को निर्दोष देखकर आगे बढ़ना है। फिर जैसे-जैसे व्यवहार में टकराव और दखलंदाज़ी कम होती जाएगी वैसे-वैसे चंदू की प्रकृति को अलग देखना है। प्रकृति में उत्पन्न होने वाले कषाय, गाढ़ापन, प्रकृति स्वभाव, फिर कहाँ-कहाँ रस (रुचि) है? मन की गांठें विचार के रूप में, फिर चित्त कौन-कौन से संसारी चीज़ों में जाता है और चिपक जाता है? उसके बाद बुद्धि दोषित दिखाती है, अच्छा-खराब दिखाती है और अहंकार कहाँ-कहाँ तन्मयाकार होता है, भोगवटे में आ जाता है। इस प्रकार सूक्ष्मता से ज्ञेयों के स्वरूप को खुद के ज्ञाता-द्रष्टा पद में रहकर देखने का पुरुषार्थ करना है।

परम पूज्य दादाश्री की वाणी में 'यह सब रोज़, इतना करने जैसा है', ऐसा जो कहा गया है, तो उस ज्ञान को समझना है, जागृति में रखना है और जैसे-जैसे डिस्चार्ज कर्मों के हिसाब पूरे होते जाएँगे वैसे-वैसे जाने हुए ज्ञान के अनुसार वर्तन में आता जाएगा। खुद की तरफ से निश्चय और जागृति ही रखनी है कि, 'ऐसा होना चाहिए', और ऐसी सेटिंग करने में भी हर्ज नहीं है, लेकिन कर्ताभाव से करना शुरू कर देते हैं और फिर बिगड़ जाता है, या फिर धुनी हो जाते हैं और मिकेनिकली करते रहते हैं, हमें वैसा परिणाम नहीं चाहिए।

परम पूज्य दादाश्री की वाणी में आता है कि निरंतर, दिन भर आत्मगुणों की *भजना* करने के लिए गुण बोलने चाहिए, तो एकांतिक रूप से इसी को करना शुरू कर देते हैं। इसके बजाय समझकर और उपयोग जागृति सेट करके किया जाए तो काम का है। ये तो व्यवहार को धक्का दे देते हैं, तोड़ देते हैं, और व्यवहार में शिकायतें आती हैं और निश्चय की *भजना* में मज़ा आ जाता है, ऐसा नहीं होना चाहिए। व्यवहार *निकाली* चीज़ है, पाँच आज्ञा में रहकर, फाइलों का समभाव से *निकाल* करने के बाद में बाकी के समय में खुद आत्मभाव से आत्मगुणों

की *भजना* करनी है और स्वभाव जागृति बढ़े ऐसे पुरुषार्थ के लिए, विधि, वाचन, प्रतिक्रमण, सामायिक करने हैं।

रोज़ की तीन सामायिक करनी चाहिए ऐसा पढ़ा, यानी कि वह ज्ञान, जानना है। उस अनुसार करना शुरू नहीं कर देना है। हाँ, रोज़ कम से कम पंद्रह मिनट सामायिक ज़रूर की जा सकती है। पूज्य नीरू माँ को परम पूज्य दादाश्री रोज़ की तीन सामायिक करवाते थे, लेकिन तब उन्हें बाहर की किसी फाइल की दखल नहीं थी। बल्कि जो फ्री टाइम मिलता था उसे उपयोगपूर्वक सामायिक में सेट करते थे।

इस आप्तवाणी में परम पूज्य दादाश्री द्वारा अनुभव किए हुए आत्मा के गुणधर्मों और स्वभाव का वर्णन है। थ्योरीटिकल और उतना ही प्रैक्टिकल प्रकार से, उन गुणों को किस प्रकार से खुद उपयोग में ले सके, खुद उनमें रहे हैं और हमें भी इन्हें उपयोग में लेकर आत्मा में आ जाने की अद्भुत समझ दे पाए। और उन गुणों का उपयोग करके संसारी परिस्थितियों में किस प्रकार से वीतरागता रखी जा सकती है, वैसी बातें हमें सिद्ध स्तुति के अंतिम चैप्टर में प्राप्त होती हैं।

लौकिक मान्यताओं के सामने वास्तविकता क्या है? और मान्यताओं की विविध दशाओं में इन गुण और स्वभाव का किस प्रकार से उपयोग किया जा सकता है? ज्ञानी पुरुष को ऐसे गुण व स्वभाव किस प्रकार से यथार्थ रूप से बरतते हैं? और इससे भी आगे तीर्थंकर साहबों को सर्वोच्च दशा में कैसा बरतता होगा? ऐसी सारी बातें जो दादाश्री के श्रीमुख से निकली हैं वे यहाँ पर समाविष्ट हुई हैं। ज्ञानी की वाणी अलग-अलग निमित्तों के अधीन निकली है लेकिन संकलन करते समय ऐसा प्रयास किया गया है जैसे कि एक ही व्यक्ति के साथ अखंड सत्संग चल रहा हो। इनमें शुरुआत से लेकर अंत में पूर्णता तक की बातों की लिंक आगे बढ़ते क्रम में मिलती रहे। ताकि महात्मा इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद प्रगति के सोपान चढ़ते-चढ़ते आगे का ध्येय *लक्ष* में रख पाएँ और उन्हें ज़रूरत के माइल स्टोन मिल जाएँ।

वाचक को ऐसा समझ लेना है कि इस ग्रंथ में ज्ञान लेने से पहले वाली बातें मुमुक्षुओं के साथ हैं, जबकि ज्ञान लेने के बाद वाली बातें, आत्मज्ञान प्राप्त महात्माओं के साथ हुई हैं।

सुज्ञ वाचक को यह वाणी प्रथम बार पढ़ लेने के बाद में फिर से अनुकूलता के अनुसार और भी ज़्यादा बार पढ़ कर स्टडी (अभ्यास) करने की ज़रूरत है, क्योंकि यह खुद के ही आत्मस्वरूप का वर्णन है, खुद के स्व-गुणों का ही वर्णन है। इस अनुसार देखकर, विज़्युलाइज़ करके प्रकृति के परिणामों के सामने गुणों की सेटिंग करके स्वभाव दशा में आना है। जुदापन का अनुभव करना है। स्व-गुणों की *भजना* में आकर आखिर में आत्मा रूप होना है और सामने वाले को भी वैसे ही गुणधर्मों सहित शुद्ध आत्मस्वरूप से देखना है।

जैसे-जैसे इस वाणी का वाचन-मनन-निदिध्यासन करते जाएँगे वैसे-वैसे फिर परम पूज्य दादाश्री की इस ज्ञानवाणी का 'पॉइन्ट ऑफ व्यू' (आशय) समझ में आएगा। फिर भी, 'खुद को जो समझ में आया है, वही पूर्ण है', ऐसा मान लेने की भूल न हो जाए, इसके लिए सतत जाग्रत रहने जैसा है। 'अपना ध्येय तो अंत में प्रकट ज्ञानी के पास जाकर ही पूरा होगा', ऐसा वाचक को अवश्य *लक्ष* में रखना चाहिए।

वर्षों तक अलग-अलग व्यक्तियों के साथ परम पूज्य दादाश्री का सत्संग अलग-अलग क्षेत्र में, अलग-अलग काल में हुआ करता था। वह सारी ही वाणी पूज्य नीरू माँ ने कैसेट में रिकॉर्ड कर ली। जिसमें से यह वाणी ट्रान्स्क्राइब (कैसेट में से लिखी गई) होने के बाद बहुत सारे महात्माओं की मदद से अंत में आप्तवाणी के इस ग्रंथ के रूप में आपके हाथों में आ रही है कि जिसमें आत्मा के गुण और स्वभाव के बारे में विस्तृत विवरण का संकलन हुआ है।

मूल आत्मस्वरूप को जैसा है वैसा अनुभव करना, वही अपना ध्येय है। जहाँ शब्द नहीं पहुँच सकते, ऐसे अवर्णनीय, अवक्तव्य शब्दातीत आत्मा के रहस्य के संबंध में ज्ञानी पुरुष परम पूज्य दादाश्री द्वारा जितनी निमित्ताधीन वाणी निकली है, उसका यह संकलन हुआ है। ज्ञानी पुरुष की वाणी अविरोधाभासी, सैद्धांतिक, त्रिकाल सत्य ही होती है, समझ में अंतर को लेकर यदि इसमें कोई क्षति भासित होती है तो उसे संकलना की कमी समझें और उसके लिए क्षमा प्रार्थना।

– **दीपक देसाई**

उपोद्घात

[1] आत्मा के गुण और स्वभाव

आत्मा के गुणों का विकास करना पड़ता है ? नहीं, वे गुण विकसित ही हैं लेकिन खुद आत्मा को गुणधर्म सहित जान ले, उसका परिणाम प्राप्त करे तब आत्मज्ञान होता है।

आत्मा अर्थात् परमात्मा ही है, अनंत गुणधाम है। खुद के स्वाभाविक गुण, जो कभी भी इधर-उधर नहीं होते, ऐसे हैं। उनमें से दो मुख्य गुण - ज्ञान और दर्शन। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत शक्ति और अनंत सुख, ये चार बड़े-बड़े गुण हैं, ज़बरदस्त और बाकी तो कई गुण हैं, जैसे कि अमूर्त, अगुरु-लघु, अव्यय, अच्युत, अरूपी वगैरह।

आत्मा के सभी गुण परमानेन्ट (शाश्वत) हैं, जबकि उसके धर्मों का उपयोग हो रहा है। 'अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन', ये गुण परमानेन्ट हैं जबकि जानना और देखना, ये धर्म टेम्परेरी हैं।

आत्मा के गुणों का अनुभव आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद होता है। आकुलता-व्याकुलता नहीं, निरंतर निराकुलता। अनंत ज्ञान हो तब फिर कोई भी चीज़ उलझाती नहीं है। ज्ञान हाज़िर होकर समाधान देता है। फिर, अनंत दर्शन हो तो कोई भी चीज़ अड़चन नहीं डालती, समझ उत्पन्न होकर *निकाल* कर देती है। अनंत शक्ति हो तो फिर चाहे कैसी भी खराब परिस्थिति में भी समभाव से *निकाल* कर देता है, चिंता-*उपाधि* किए बगैर।

इस प्रकार एक-एक अंश करके अनुभव बढ़ता जाता है। सभी अंश इकट्ठे करने पर मूल स्वभाव आ जाता है।

भाव अर्थात् अस्ति और स्वभाव अर्थात् स्व का अस्तित्वपना। आत्मा का स्वभाव अर्थात् खुद, खुद के गुणधर्मों में और खुद की बाउन्ड्री में ही रहता है। आत्मा खुद उससे बाहर जाता ही नहीं।

खुद का मूल स्वभाव देखने और जानने का है। उसका फल परमानंद है। स्वभाव से बाहर निकलना, स्वभाव से विरुद्ध करना, वह है कर्म।

स्वभाव और गुण में इतना ही फर्क है कि गुणों को अलग-अलग बोलना पड़ता है जबकि स्वभाव में एक साथ सभी गुण आ जाते हैं। एक, दो, तीन, चार, इस तरह सभी गुण भर जाते हैं, वह स्वभाव कहलाता है। स्वभाव अर्थात् पूर्ण दशा।

चंद्रमा एकम, दूज में से धीरे-धीरे पूर्णिमा तक पहुँचता है। वह द्वादशी, तेरस, चौदस तक पहुँचता है तब तक वे उसके गुण कहलाते हैं और पूर्णिमा हो जाती है तब गुण नहीं कहते, स्वभाव कहते हैं।

ज्ञान लेने के बाद महात्मा जैसे-जैसे फाइलों का समभाव से *निकाल* करते जाएँगे, वैसे-वैसे अपने आप ही पूर्णिमा होती जाएगी, कुदरती रूप से। अभी तो समभाव से फाइलों का *निकाल* करने की ज़रूरत है।

ज्ञानी पुरुष आत्मा को वेदन से, गुणों से और लक्षण से जानते हैं। वेदन से जानते हैं अर्थात् स्वसंवेदन, परमानंद रहता है। फिर, गुण अर्थात् अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत शक्ति वह सब, और लक्षण अर्थात् क्षमा, आर्जवता, ऋजुता, शौच ऐसे दस लक्षण हैं, ऐसा सब हो तब आत्मा प्राप्त हो गया, ऐसा कहा जाएगा।

सहज क्षमा, सहज मृदुता, सहज ऋजुता, ऐसे लक्षण रहते हैं। ये आत्मा के गुण नहीं हैं और न ही प्रकृति के, लेकिन ये व्यतिरेक गुण हैं। क्रोध के अभाव को 'क्षमा' कहते हैं।

लक्षण तो लोगों को समझाने के लिए है, बाकी सिद्धक्षेत्र में ये लक्षण नहीं हैं। वहाँ शाश्वत गुण हैं, वे अलग हैं।

[2] अनंत ज्ञान-दर्शन

[2.1] ज्ञायक : ज्ञान : ज्ञेय

मूल आत्मा का द्रव्य, ज्ञान स्वरूप ही है, एब्सल्यूट ज्ञान मात्र है, ज्ञान प्रकाश ही है। अनंत ज्ञान उसका गुण है। जानने की चीज़ें, ज्ञेय वस्तुएँ अनंत हैं इसलिए जानने वाला ज्ञायक अनंत ज्ञान वाला है। ज्ञेय संख्यात नहीं हैं, असंख्यात नहीं हैं लेकिन अनंत हैं। उनके सामने ज्ञान भी अनंत हैं।

ज्ञेय अर्थात् जानने की चीज़, और जानने वाला अर्थात् ज्ञाता। आत्मा के अलग होने के बाद में (ज्ञान प्राप्त होने के बाद में) ज्ञाता कहा जाता है।

ज्ञेय-दृश्य विनाशी हैं और ज्ञाता-द्रष्टा अविनाशी है। जो कल्पना से दिखाई देते हैं वे ज्ञेय-दृश्य हैं, निर्विकल्प दिखाई देता है वह ज्ञाता-द्रष्टा है।

यहाँ पर ज्ञेयों का विशेष स्पष्टीकरण मिलता है।

मोची जो सिलाई करता है वह क्रिया ज्ञेय नहीं है, जिस ज्ञान से वह सिलाई करता है, वह ज्ञेय है। वकालत की क्रिया ज्ञेय नहीं है लेकिन जिस ज्ञान से वकालत करता है, वह ज्ञान ही ज्ञेय है।

क्रिया मात्र परसत्ता है, क्रिया वाला ज्ञान भी परसत्ता है। मोची का ज्ञान, वकालत का ज्ञान, डॉक्टरी का ज्ञान, ये सब अहंकारी ज्ञान हैं, ये सब परसत्ता में हैं। अहंकार को भी जो जानता है वह स्वसत्ता है।

मोची की क्रिया का जो ज्ञान हुआ है, उस ज्ञान का जानकार अहंकार है। क्रिया का जो ज्ञान है वह बुद्धि ज्ञान है। उसे जानने वाला बुद्धि का मालिक यानी अहंकार है। वकालत किस प्रकार से की जाती है, ऐसा जानता है। उसमें खुद भूल करता है तो फिर जान लेता है कि, 'मुझसे यह भूल हो गई, ऐसा नहीं होना चाहिए।' वह ज्ञान के आधार पर जानता है लेकिन वह बुद्धि ज्ञान है।

यानी पूरे जगत् के सभी सब्जेक्ट को जाने फिर भी वह ज्ञान, बुद्धि ज्ञान माना जाता है।

पाँच इन्द्रियों द्वारा जो भी जाना जाता है, क्या वह आत्मा के ज्ञान से है? नहीं! वह तो इन्द्रियज्ञान से जानता है। ऐसा तो अज्ञानी भी जानता है। अज्ञानी के और ज्ञानी के इन्द्रियज्ञान से जानने में कोई फर्क नहीं है लेकिन दोनों के अतीन्द्रियज्ञान में फर्क है। ज्ञानी में अतीन्द्रियज्ञान होता है। अतीन्द्रियज्ञान से... मन के और बुद्धि के ऐसे पर्याय जो आँखों से नहीं दिखाई देते, आत्मा उन्हें अतीन्द्रियज्ञान से जानता है। यह जो इन्द्रियज्ञान (बुद्धि) है, यह अहंकार का ज्ञान है, इसे भी आत्मा जानता है।

मूल आत्मा केवलज्ञान स्वरूप है, केवलज्ञान प्रकाश ही है जबकि यह 'मैं' खुद अनंत ज्ञान वाला है।

आत्मा के सभी गुणों में अभेद भाव से आत्मा ही है। वहाँ पर भेद नहीं है लेकिन यदि उनका वर्णन करना हो तो भेद दिखाई देगा, अलग-अलग कहना होगा, लेकिन मूल स्वरूप से अभेद ही है।

(क्रमिक मार्ग में) प्रतीति खंड (भेद) होते हैं, *लक्ष* खंड होते हैं लेकिन अनुभव खंड नहीं होते। अनुभव अर्थात् ज्ञान, वह अखंड (अभेद) ही होता है। (जो आने के बाद फिर जाता नहीं है)।

दृश्य अनंत हैं, उनके सामने दर्शन अनंत हैं। दृश्य अनंत हों और दर्शन ज़रा सा ही हो तो कैसे चलेगा? उन्हें देख नहीं पाएँगे। लेकिन द्रष्टा का दर्शन अनंत है।

ज्ञान और दर्शन में भिन्नता है। निश्चत होने से पहले, 'कुछ है', उसे दर्शन कहा जाता है और निश्चत हो जाए कि, 'यह है', उसे ज्ञान कहा जाता है।

द्रष्टा ने दृश्य को देखा तब दर्शन उत्पन्न हुआ और ज्ञाता ने ज्ञेय को जाना तब ज्ञान उत्पन्न होता है।

इस तरह ज्ञान, दर्शन आदि अनंत गुणों से खुद संपूर्ण शुद्ध है, सर्वांग शुद्ध है।

[2.2] अनंत ज्ञेयों को जानने में... शुद्ध हूँ

'अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई अनंत अवस्थाओं में मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ', यह वाक्य यदि यथार्थ रूप से समझ में आ जाए तो परमार्थ स्वरूप हो जाएगा। यह शास्त्रों का वाक्य नहीं है, खुद परमात्म स्वरूप हुए बिना यह वाक्य कोई नहीं बोल सकता। यह वाक्य ऐसा है कि उसे खुद को उस दशा में पहुँचना पड़ेगा समझने के लिए। यह वाक्य समझ में आ जाएगा तब दादा के इस ज्ञान की पूर्णाहुति हो जाएगी। जो आत्मा के अनुभव में रहता है वही इस वाक्य को समझ सकता है। यह वाक्य बहुत गहन है। इस वाक्य में परम

पूज्य दादाश्री ने महात्माओं को संसार में अबंध रहने की सभी सामग्रियाँ दे दी हैं!

पूरा जगत् ज्ञेयों से भरा हुआ है, अनंत ज्ञेय हैं। अब, उन ज्ञेयों को जानने में अनंत अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं फिर भी वे अवस्थाएँ खुद को स्पर्श नहीं करतीं। खुद शुद्ध ही रहता है।

आम को देखकर ज्ञान आम के आकार का हो जाता है लेकिन ज्ञान भी मुक्त और ज्ञेय भी मुक्त, और ज्ञाता भी मुक्त। जब असर नहीं होता तो वह शुद्ध ज्ञान कहलाता है, बुद्धिजन्य ज्ञान हो तो असर हो जाता है।

ज्ञेय के अनुसार ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है लेकिन खुद उनमें नहीं चिपकता। रोंग मान्यता से तद्रूपता भासित होती है। मान्यता सही हो जाए तब वह खुद के असल स्वरूप में ही रहता है।

पुद्गल की अवस्था में आम के बजाय दूसरा कुछ देख ले तब भी चेतन शुद्ध ही है। ज्ञेयों को जानने में परिणमित, तदाकार या ज्ञेयाकार हो चुकी अवस्थाओं में भी खुद शुद्ध ही है। ज्ञेय स्पर्श (असर) नहीं करता।

यह भौतिक प्रकाश ज्ञेय को एक तरफ से प्रकाशमान करता है तो दूसरी तरफ अंधेरा रहता है। जबकि आत्मा का प्रकाश तो ज्ञेय को एक्ज़ेक्ट रूप में चारों तरफ से रूप-रस-स्पर्श-गंध सहित सबकुछ प्रकाशित करता है, और फिर उसकी छाया भी नहीं पड़ती।

ज्ञान ज्ञेय के आकार का हो जाए तो उसे कहते हैं परिणमित हो चुका। ज्ञेय को जानने में ज्ञान की अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। ज्ञान के पर्याय ज्ञेयाकार हो जाते हैं लेकिन ज्ञान खुद ज्ञानाकार ही रहता है, खुद शुद्ध ही रहता है।

ज्ञेयों को वीतरागता से जानने में कोई दिक्कत नहीं है। ज्ञेयों के साथ राग-द्वेष से बंधन है, बाकी, ज्ञेय बाधक नहीं हैं।

ज्ञानी, ज्ञेय को जानने में परिणमित हो जाएँ तब भी संपूर्ण शुद्ध हैं जबकि संसारियों को स्वाद आता है, इच्छा होती है इसलिए उनका असर हो जाता है।

ज्ञानी वास्तविकता देखकर बोलते हैं। ज्ञेय को देखकर खुद ज्ञेयाकार जैसा हो जाता है फिर भी उसमें तन्मयाकार नहीं होता, लेपायमान नहीं होता। ज्ञेयाकार में दशा परिणमित होती है लेकिन खुद मुक्त ही है। यह कितनी ज़बरदस्त शक्तियों का धारक है!

आत्मा का ज्ञान प्रकाश, ज्योति स्वरूप है। वह ज्ञेय को देखता है और फिर खुद ज्ञेयाकार हो जाता है, फिर भी उसे कुछ स्पर्श नहीं करता। तब भी शुद्धता रहती है। फिर भी ऐसे में यह मान बैठा है कि इस कर्म का मुझ पर असर हो गया। ऐसा किसलिए मानता है? अंदर पाप-पुण्य के जो पर्याय हैं वे उससे ऐसा मनवाते हैं लेकिन इस ज्ञान के बाद में वे पाप-पुण्य के पर्याय ज्ञान से टूट जाते हैं। उसके बाद शुद्धता की जागृति आ जाती है।

ज्ञान ज्ञेय में परिणमित होता है फिर भी 'मैं' शुद्ध ही है। कोई कहे, 'यह चिपक गया?' 'नहीं, मैं शुद्ध ही हूँ।' इसलिए घबराना नहीं। 'मैं' (आत्मा) बिगड़ा ही नहीं है, यह तो अहंकार की मान्यता बिगड़ी है।

संसारी चीज़ें विनाशी हैं इसलिए ये ज्ञान के पर्याय विनाशी हैं लेकिन ज्ञान विनाशी नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान ही है, परमानेन्ट है। पर्याय निरंतर परिवर्तित होते ही रहते हैं। जैसे-जैसे अवस्थाएँ बदलती हैं वैसे-वैसे ज्ञान बदलता है, फिर भी ज्ञान शुद्ध ही रहता है। जो खुद के पर्यायों को जानता है, वही खुद है, आत्मा है।

ज्ञान, वह गुण कहलाता है क्योंकि मैं हूँ, मैं नित्य हूँ। फिर अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित, अनंत अवस्थाओं में जब उस ज्ञान का उपयोग होता है तब वह ज्ञान का धर्म कहलाता है, पर्याय कहलाता है और वे पर्याय विनाशी हैं।

आत्मा ज्ञेय में नहीं जाता, वह ज्ञान का पर्याय जाता है। पर्यायों द्वारा ज्ञेय को देखा जा सकता है। ज्ञेय-ज्ञाता एकाकार नहीं हों तो उसी को ज्ञान कहते हैं।

द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों साथ में हों तब वस्तु कहलाती है, तत्त्व कहलाता है। गुण के बिना पर्याय नहीं हो सकता। द्रव्य अविनाशी,

गुण अविनाशी और पर्याय विनाशी। यानी कि आत्मा, ज्ञान के अलावा अन्य कोई चीज़ नहीं है। केवल एब्सल्यूट ज्ञान मात्र ही है।

फिर, अनंत दृश्यों को देखने में परिणमित अर्थात् खुद दृश्य स्वरूप हो जाए फिर भी खुद शुद्ध ही है, द्रष्टा है। दृष्टि और द्रष्टा में अंतर है। दृष्टि तो द्रष्टा का पर्याय है। पर्याय, द्रव्य के गुणों की प्रतिक्षण उत्पन्न होती अवस्था है। द्रष्टा, दृष्टि से दृश्य को देखता है। वे अवस्थाएँ, पर्याय निरंतर बदलते हैं फिर भी द्रष्टा नहीं बदलता। गुण व द्रव्य नित्य हैं जबकि पर्याय बदलते रहते हैं।

ज्ञेयाकार से प्रकट होने वाला ज्ञान का पर्याय खुद के कारण ही प्रकट होता है। वह स्वतंत्र रूप से प्रकट होता है क्योंकि ज्ञान स्वतंत्र है। ज्ञेय होते हैं तभी ज्ञान होता है लेकिन ज्ञान प्रकट होने के बाद ही ज्ञेय को देख सकता है। बाकी ज्ञेय का और ज्ञान का कोई लेना-देना नहीं है। ज्ञान की वह अवस्था पूर्वनिश्चित नहीं है।

पुद्गल की अवस्थाएँ बदलती ही रहती हैं लेकिन हर एक अवस्था को देखने में खुद का ज्ञान मैला नहीं होता, शुद्ध ही रहता है। खुद की शुद्धता में कोई दिक्कत नहीं आती।

जलेबी को देखकर उसमें मेरापन करे या मोह करे तभी नुकसान है क्योंकि विशेष किया। सामान्य भाव से नहीं देखा, विशेष भाव से देखा कि लिपटा। 'यह अच्छा है' कहा कि चिपका। बाकी, अगर सभी जगह सामान्य भाव से रहे तो नहीं चिपकेगा।

मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ अर्थात् आत्मा के सर्व प्रदेशों में शुद्ध हूँ।

गटर को देखता हूँ, जानता हूँ, फिर भी मेरी शुद्धता नहीं बिगड़ती। इत्र को देखता हूँ, जानता हूँ, बाकी सब अच्छा या खराब देखता हूँ फिर भी मेरा ज्ञान उसमें एकाकार नहीं होता। अज्ञानता से लोग उलझन में पड़ जाते हैं कि यह खराब देखा कि आत्मा अंदर बिगड़ गया।

पर्याय वगैरह सभी बातें बहुत सूक्ष्मता से समझ में नहीं आए तो

क्या मोक्ष में नहीं जाएँगे? ऐसा नहीं है! वह तो, ज्ञानी पुरुष के आश्रय से मोक्ष में जाएँगे। फिर भी दादा के ज्ञान को पूरी तरह से समझने की भावना से सत्संग में दौड़-दौड़कर आते हैं, इसलिए उसका परिणाम आएगा ही!

अक्रम विज्ञान की यह अद्‌भुतता है कि भेदज्ञान के जो वाक्य ज्ञानविधि में बुलवाते हैं, उनसे अंदर आत्मा अलग ही हो जाता है। शास्त्रों में भेदज्ञान नहीं है। मूल द्रव्य और उसकी मूल बातें, मौलिक बातें होनी चाहिए इसीलिए इतनी परेशानियाँ होने के बावजूद भी शुद्धता नहीं जाती इसलिए इसे 'अक्रम विज्ञान' कहा जाता है। जबकि क्रमिक में ऐसा कहते हैं, संग छोड़ोगे तब असंग हो पाओगे।

अक्रम विज्ञान से महात्माओं को मूल आत्मा की प्रतीति-*लक्ष*-अनुभव प्राप्त हो जाते हैं। इसे आश्चर्य ही कहेंगे! आत्मा अपने गुणधर्मों सहित ही है। किसी को एक क्षण के लिए भी *लक्ष* नहीं बैठता, जबकि यहाँ तो निरंतर *लक्ष* रहता है, वही यह विज्ञान है।

रास्ते चलते यह ज्ञान मिला है तो रास्ते की धूल उड़ेगी, कंकड़ उड़ेंगे फिर भी वे ज्ञेय हैं और खुद ज्ञाता, इस प्रकार से ज्ञाता पद में रहकर सभी ज्ञेयों को जानना है। घर में किसी की मृत्यु हो जाए तब भी यदि वह ज्ञेय और खुद ज्ञाता रहे, तब यह विज्ञान पूर्ण रूप से प्रकट होगा।

आत्मा को, ज्ञेयों को जानने के लिए जहाँ पर ज्ञेय हैं वहाँ तक घूमने नहीं जाना पड़ता, ज्ञेय खुद के द्रव्य में ही झलकते हैं। जिस प्रकार दर्पण अपनी जगह पर ही रहता है लेकिन आने-जाने वाले सभी लोग उसमें दिखाई देते हैं उसी प्रकार ज्ञेय आत्मा के ज्ञान में ही झलकते हैं।

निज अवस्था को भी ज्ञेय के रूप में देखने पर तत्त्व रूपी ज्ञान खुद ही परमात्मा बन जाता है। ये चंदूभाई, ये ही निज अवस्था हैं, इन्हें खुद अवस्था के रूप में देखो, तो खुद ही परमात्मा हो।

देखना-जानना खुद का काम है और चंदूभाई का काम है क्रिया करना।

अक्रम विज्ञान द्वारा परम पूज्य दादाश्री ने महात्माओं को तो केवलज्ञान स्वरूपी मूल आत्मा प्राप्त करवाया है।

अनंत ज्ञेयों को जानने में... इस वाक्य को समझना मुश्किल है फिर भी इस वाक्य में इतना अधिक बल है कि बोलते ही खुद पूर्ण केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है।

[3] अनंत शक्ति

[3.1] अनंत शक्तियाँ कौन सी? कैसी?

आत्मा को अनंत शक्तियों का धनी कहा गया है, तो वह शक्ति क्या है? कौन सी है? कैसी है? हमें किस तरह से उनका अनुभव हो पाएगा, साधक, मुमुक्षु या महात्माओं को हमेशा ऐसा प्रश्न होता ही रहता है। आत्मा की जो अनंत शक्तियाँ हैं वे मिकेनिकल शक्तियाँ नहीं हैं। मिकेनिकल शक्ति तो मशीनरी में होती है। भोजन (इंधन) डालो, हवा भरो तो मशीन चलती है वर्ना बंद हो जाती है। ऐसी मिकेनिकल शक्ति जड़ की है और आत्मा (वास्तव) में अनंत शक्ति वाला परमात्मा है। वह ऐसी क्रियाएँ नहीं करता। ज़बरदस्त ज्ञानक्रिया-दर्शनक्रिया होती है। इस तरह चलने की, बोलने की शक्तियाँ आत्मा की नहीं हैं और जो शक्तियाँ हैं, उन्हें लोग जानते नहीं हैं। पूरे ब्रह्मांड को थरथरा दे उतनी उसकी शक्तियाँ हैं।

पूरी दुनिया में जितने जीव हैं, उन सभी जीवों में प्रकट हुई शक्तियाँ इकट्ठी की जाएँ तो उतनी शक्ति सिर्फ एक आत्मा में है। आत्मा में परमात्मापन की शक्ति है लेकिन (व्यवहार में) एक सेका हुआ पापड़ तोड़ने की भी शक्ति नहीं है।

जड़ में भी शक्ति है। अणु को तोड़कर जो अणु बम फोड़े हैं उससे शक्तियाँ बाहर निकली हैं। जबकि परमाणुओं में भी शक्ति है लेकिन परमाणु अविभाज्य होते हैं इसलिए शक्ति में बदलाव नहीं होता। परमाणुओं के इकट्ठे होने से अणु बनते हैं, उस अणु को तोड़ा जाए तो शक्ति दिखाई देती है।

किसी भी वस्तु (जड़ या चेतन) को उसके मूल स्वरूप में ले जाएँ तो उसमें अनंत शक्तियाँ हैं। मूल स्वरूप की मूल शक्ति का कभी भी नाश नहीं होता।

परमाणुओं की शक्ति है, इसके अलावा *पुद्‌गल* की भी शक्ति है। आत्मा की विभाविक दशा होने के कारण विभाविक परमाणु उत्पन्न हुए हैं, वे भी अनंत शक्ति वाले हैं। वे रूपी, सक्रिय और *पुद्‌गल* की करामात वाले हैं। *पुद्‌गल* ने तो भगवान को भी बाँधा हुआ है।

खुद ऐसा मानता था, 'मैं *पुद्‌गल* में हूँ', इसलिए उसकी शक्ति *पुद्‌गल* में चली गई और *पुद्‌गल* शक्ति वाला हो गया। जब से खुद को शुद्धात्मा का *लक्ष* बैठ गया तब से *पुद्‌गल* से अलग हो जाता है। उसके बाद खुद की शक्ति खुद में पूर्णतया व्यक्त होती है और *पुद्‌गल* भी नरम होता जाता है।

जिस प्रकार शराब पीने पर उसका नशा चढ़ता है उसी प्रकार हम अहंकार के नशे में हैं। इसलिए आत्मा की शक्ति आवृत्त हो गई है और इसका जड़ शक्तियों में मिक्स्चर हो गया है। अब जड़ शक्तियाँ ही चढ़ बैठी हैं, तो आत्मा को छूटना हो तब भी छूट नहीं पाता। ज्ञानी पुरुष के पास जाए तो छूटा जा सकता है।

आत्मा की शक्तियाँ दो प्रकार की हैं : एक, स्वक्षेत्र में रहकर खुद की स्व-शक्ति उत्पन्न होती है और दूसरा, परक्षेत्र में रहते हुए स्वक्षेत्र में मुकाम रहे तब परक्षेत्र में विभूति शक्ति उत्पन्न होती है।

आत्मा की अनंत ज्ञान शक्तियाँ हैं, उनके आधार पर तो ज्योतिष का ज्ञान, वकालत का ज्ञान, डॉक्टर का ज्ञान, ऐसे सभी अलग-अलग सब्जेक्ट्स के ज्ञान बाहर निकले हैं।

आत्मा की अनंत शक्तियाँ हैं, उसकी विपरीत स्फुरणा से इतना बड़ा ब्रह्मांड उत्पन्न हो गया, उल्टी तरफ का। तो सम्यक् स्फुरणा से क्या नहीं हो सकता?

आत्मा की अनंत शक्ति ऐसी है जो हर एक व्यक्ति के विचारों

को एक्सेप्ट (स्वीकार) कर ले। चोर चोरी करे या दानेश्वरी दान दे, सब एक्सेप्ट कर ले, ऐसी है आत्मशक्ति, यही परमात्मशक्ति है!

जब आत्मा की अनंत शक्तियों का अनुभव होता है तब समझ में आता है कि ये सारी पौद्‌गलिक शक्तियाँ दुःखदायी हैं, दुःख देने वाली हैं। फिर भी वे अनंत शक्तियाँ खुद पर इन सब का असर नहीं होने देतीं। पानी में रहने के बावजूद भी पानी को स्पर्श नहीं करने दे, वह शक्ति कैसी है! निर्लेप रखती है। भीड़ में असंग रखती है। मुश्किलें आने के बावजूद भी खुद उन्हें पार करके पूर्ण तक पहुँच जाता है इसीलिए तो आत्मा ही भगवान है!

उसे कोई चीज़ डरा नहीं सकती, कोई चीज़ उसे डिप्रेशन में नहीं ला सकती, कोई चीज़ उसे दुःखी नहीं कर सकती, तो वह अनंत शक्ति कितनी अधिक होगी!

अनंत सुख, जिस सुख को ढूँढने बाहर नहीं जाना पड़े, वह खुद का! उसमें आध्यात्मिक, वास्तविक शक्ति है। भौतिक शक्ति नहीं है लेकिन प्रकट होने पर काम आती है।

मोक्ष में जाते हुए अनेक प्रकार के विघ्न हैं, अनेक विघ्नों को हटाकर खुद मोक्ष में जा सके, ऐसी अनंत शक्तियों वाला है।

मुक्त होने के लिए ही अनंत शक्ति का उपयोग करना है लेकिन जब ज्ञानी पुरुष आत्मा को अलग कर देते हैं तभी उसका उपयोग होता है।

ये शक्तियाँ आवृत्त हैं। आवरण हटेंगे तो अभिव्यक्त होंगी। आवरण हटाने के उपाय करते रहना ही खुद का पुरुषार्थ है, तो उसके परिणाम स्वरूप शक्ति प्रकट होती जाएगी।

खुद की शक्ति व्यक्त हो जाए तो खुद परमात्मा है।

स्वरूप का अज्ञान और स्वरूप का अदर्शन, ये दो बड़े आवरण हैं। फिर लोगों का देख-देखकर सीख गए कि यह चाहिए और वह चाहिए, इससे अनंत शक्तियाँ आवृत्त हो गईं। इसके बाद घर्षण-संघर्षण में शक्तियाँ खत्म होती गईं।

सामान्य भाव से सभी जीव आत्मा ही हैं, परमात्मा ही हैं लेकिन शक्ति प्रकट नहीं हुई है। जिनमें शक्ति प्रकट हुई है, ऐसे ज्ञानी पुरुष के निमित्त से खुद की शक्ति प्रकट हो जाती है। जितनी आत्मशक्ति प्रकट हुई, उसे ऐश्वर्य कहते हैं।

अनंत शक्तियाँ अंदर अव्यक्त भाव से रही हुई ही हैं लेकिन उसे खुद को ताला खोलकर लेने का हक नहीं है। वह तो, जब ज्ञानी पुरुष खोल देंगे तब वे निकलेंगी।

परम पूज्य दादाश्री कहते हैं कि हमारी संपूर्ण शक्तियाँ व्यक्त हो चुकी हैं। उन्हें देखते ही हमें ऐसा लगता है कि इनमें कितनी अधिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं! उनकी उपस्थिति हमें आनंद देती है। सभी में उतनी ही शक्तियाँ रही हुई हैं।

आत्मा की शक्ति व्यक्त होने के बाद बाहर कोई भी झंझट नहीं करनी पड़ती। सिर्फ अंदर जो विचार आते हैं उस अनुसार बाहर सब अपने आप ही हो जाता है। व्यवस्थित शक्ति सब कर देती है। यह वैभव राजा के वैभव से भी बहुत उच्च प्रकार का है क्योंकि भगवान पद है न!

अनंत शक्तियाँ क्यों कहा है? अनंत काम कर सकती है। जितना एडजस्टमेन्ट लेना आए उतना खुद को प्राप्त होता है! खुद जैसी कल्पना करता है वैसा सिद्ध हो जाता है, ऐसी अनंत शक्तियाँ हैं!

कोई भी (रिलेटिव) चीज़ मुझे कुछ भी नहीं कर सकती, लेकिन खुद को 'मैं निरालंब हूँ', ऐसा भान हो जाना चाहिए। तब बहुत सारी शक्तियाँ प्रकट हो जाएँगी!

एक बार शुद्धात्मा का भान होने के बाद शुद्धात्मा स्वरूप में बरते, एक तार होने लगे, यानी मोक्षमार्ग की श्रेणियाँ चढ़ना शुरू हो गया। फिर शक्तियाँ प्रकट होती जाएँगी।

ज्ञाता-द्रष्टा मुख्य चीज़ है, उपयोग उसमें जॉइन्ट कर लें तो सभी शक्तियाँ उत्पन्न होती जाएँगी। जितने प्रमाण में ज्ञाता-द्रष्टा रहा जाएगा उतने प्रमाण में आनंद उत्पन्न होगा।

विभाविक शक्ति से तो इतना बड़ा जगत् उत्पन्न हो गया है! सीधी तरह से शक्ति का उपयोग ज्ञाता-द्रष्टा में ही करना है। अब अन्य किसी प्रकार से शक्ति का उपयोग नहीं करना है क्योंकि कुछ भी करना आत्मा का धर्म है ही नहीं। यदि खुद को सनातन सुख चाहिए तो ज्ञाता-द्रष्टा पद में आ जाओ।

मोक्ष में भी सभी शक्तियाँ हैं तो सही, लेकिन वहाँ पर खर्च नहीं होती हैं। मोक्ष में जाते हुए विघ्न अनेक प्रकार के हैं, उन्हें खुद की शक्ति से पार करके वह मोक्ष में जाता है। उसके बाद उसके पास उन शक्तियों का स्टॉक रहता है।

सेल्फ का रियलाइज़ करते ही अनंत शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं।

मन से या शरीर से निर्बलता महसूस हो तो 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', बुलवाने से शक्तियाँ प्रकट हो जाएँगी।

आत्मा की शक्ति अनंत है। जिस तरफ जितना घुमाना हो उतना घुमाया जा सकता है। लेकिन, 'क्या होगा', ऐसा कहते ही क्या से क्या हो जाता है! तो आत्मा से शक्तियाँ माँगना, अंदर ही हैं। या तो आत्मा को पहचान और उस रूप हो जा, तो शक्तियाँ व्यक्त हो जाएँगी।

[3.2] अनंत ऐश्वर्य

आत्मा परम ऐश्वर्य वाला है लेकिन खुद को उसका भान ही नहीं है। आवरणों को लेकर सारा ऐश्वर्य रुंध गया है। जितने अंश तक लाइट निकलती है उतने अंश तक उसका फल मिलता है। आत्मा तो सर्वांश ही है। अंश के रूप में होता तो सर्वांश हो ही नहीं पाता लेकिन ज्ञानी पुरुष ने प्रकट हो चुका सर्वांश आत्मा देखा है, सभी में उसी स्वरूप में है।

अनंत शक्ति है, अनंत ऐश्वर्य है लेकिन खुद को पता नहीं होने के कारण चिंता-*उपाधि*-मुश्किलें भुगतनी पड़ती हैं। बाकी, कोई किसी का *ऊपरी* नहीं है।

मनुष्य मूल स्वरूप में परमात्मा ही है। खुद का अनंत ऐश्वर्य प्रकट हो सके ऐसा है, लेकिन इच्छा की कि मनुष्य हो जाता है।

दादाश्री ज्ञानविधि करवाते हैं, वह पूरा केवलज्ञान ही है। दो घंटे में मोक्ष दे देते हैं, ऐसा ग़ज़ब का ऐश्वर्य प्रकट हुआ है उनमें। जगत् के लोगों को दादा के इस ऐश्वर्य का पता नहीं चला है। इस काल में भेद विज्ञानी प्रकट हुए हैं, यह बहुत बड़ा आश्चर्य है! जहाँ लाखों जन्मों में भी ठिकाना न पड़े, वहाँ दो घंटे में दृष्टि बदल जाती है और आत्मज्ञान हो जाता है।

ज्ञानविधि में खुद को 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसी प्रतीति बैठ जाती है। उसके बाद खुद को खुद के ऐश्वर्य का भान होता है। खुद ही चैतन्य परमात्मा है।

दादाश्री कहते हैं, लोगों को दुनिया जैसी दिखाई देती है, हमें भी वैसी ही दिखाई देती है। फर्क सिर्फ इतना है कि हमें राग-द्वेष नहीं होते हैं। बाकी, लोगों को जो नहीं दिखाई देता वैसा तो हमें बहुत कुछ दिखाई देता है और वही हमारे ज्ञान की विशालता है, ऐश्वर्यपना है। देह का मालिकीपना न रहे तभी ऐश्वर्य प्रकट होता है।

लोभ-लालच के प्रसंग में 'मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ', ऐसा बोलने से वे परमाणु झड़ जाते हैं और उनका असर नहीं होता।

चित्तवृत्ति जितनी बिखरती हैं, ऐश्वर्य उतना ही कम होता जाता है और जितनी वह मूल जगह पर स्टेबिलाइज़ (स्थिर) होती है उतना ऐश्वर्य उत्पन्न होता है।

ऐश्वर्य कम होता जाता है इसीलिए तो आप में कितने ही लोग दखल देते हैं, परेशान करते हैं, बॉस डाँटता है, वह सब सहन करना पड़ता है। ऐश्वर्य कम हो जाए तभी डाँटेंगे न! वर्ना ऐश्वर्यवान को तो कोई इस तरह डाँटने आए तो उनका चेहरा देखते ही घबरा जाए। यानी ऐश्वर्य की ज़रूरत है।

इन सभी महात्माओं को 'ज्ञान' मिलने के बाद में यह बिलीफ में आ गया है लेकिन वर्तन में नहीं रहता। वर्तन तो जो पहले रोंग बिलीफ थी, उसका फल आया है। उसे भुगतना ही होगा लेकिन अभी बिलीफ सम्यक् हो गई है, ऐश्वर्य प्रकट करने की ओर बिलीफ है, इसका फल बाद में आएगा।

[3.3] अनंत वीर्य

अनंत वीर्य यानी क्या? ज्ञान-दर्शन से चारित्र प्रकट होता है और स्व-चारित्र से अनंत वीर्य प्रकट होता है, वही अनंत वीर्य की दशा है। उससे हर एक पदार्थ व वस्तु दिखाई देते हैं, उनके द्रव्य-गुण व पर्याय, भूतकाल से लेकर भविष्यकाल, सभी कुछ दिखाई देता है।

आत्मज्ञानी आत्मा के गुणों की रमणता में रह सकते हैं लेकिन जिनमें अनंत वीर्य प्रकट होता है (तीर्थंकर या ज्ञानी पुरुष) वे तो यदि सिर पर हाथ रख दें तो सामने वाले का कल्याण कर देते हैं।

आत्मवीर्य अर्थात् आत्मा का उल्लास और शक्ति ज़बरदस्त होती है।

जहाँ आत्मवीर्य का अभाव है वहाँ कषायों से असर होता है। जो भौतिक सुख में ही रचा-बसा रहता है, उसका आत्मवीर्य खत्म हो जाता है। वह यदि भौतिक सुख का और देह की लालसाओं का अभाव कर दे तो आत्मवीर्य बढ़ता है। ज्ञानी पुरुष के पास आने पर वे संपूर्ण आत्मवीर्यवान बना सकते हैं।

आत्मशक्तियों को तो आत्मवीर्य कहा जाता है। जितना आत्मवीर्य कम, उतनी क्रोध-मान-माया-लोभ की कमज़ोरियाँ उत्पन्न होती हैं। अहंकार की वजह से आत्मवीर्य टूट जाता है। जैसे-जैसे अहंकार विलय होता है वैसे-वैसे आत्मवीर्य प्रकट होता है।

[4] अनंत सुखधाम

(खुद का) आत्मा अनंत सुख का धाम है फिर भी लोग बाहर सुख ढूँढते रहते हैं। सुख ऐसा होना चाहिए कि जिसके बाद फिर कभी दुःख न आए। ऐसा एक भी सुख हो तो ढूँढ निकाल। सुख खुद के स्व में है, वह शाश्वत सुख है लेकिन लोग नाशवंत चीज़ों में सुख ढूँढने निकले हैं।

आत्मा जाने बगैर तो वह सुख प्राप्त नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुष मिल जाएँ तो वे खुद के सुख का भान करवा देते हैं। फिर वह सुख बरतता रहता है।

उस परम सुख के आने के बाद दु:ख कभी रह ही नहीं सकता। फिर फाँसी पर चढ़ा दे तो भी दु:ख नहीं होता। *पुद्गल* फाँसी पर चढ़ता है, आत्मा फाँसी पर नहीं चढ़ता। जानने वाला जानता है और फाँसी पर चढ़ने वाला चढ़ता है।

स्वरूप ज्ञान के बाद में जैसे-जैसे आवरण टूटते हैं वैसे-वैसे आनंद उत्पन्न होता है। आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया है तब तक मन का आनंद रहता है, वह मस्ती वाला होता है जबकि आत्मा का आनंद निराकुल होता है।

आनंद और सुख में बहुत अंतर है। आनंद आत्मा का होता है, शाश्वत होता है जबकि ये (संसार के) सुख, ये तो वेदना हैं। बढ़ जाएँ तो दु:ख हो जाता है। सुख *शाता* वेदनीय है, ठंडक देता है, जबकि दु:ख *अशाता* वेदनीय है, गर्मी देता है।

बर्फ को छूने से ठंडा लगता है, गर्मी में उससे सुख लगता है और सर्दी में उससे दु:ख महसूस होता है। सुख-दु:ख वह वेदना है, *शाता* वेदनीय या *अशाता* वेदनीय जबकि आनंद तो खुद का स्वभाव है। निरंतर आनंद, एक क्षण के लिए भी इधर-उधर न हो।

खुद अनंत सुख का धाम है लेकिन ऐसा नहीं समझने के कारण कल्पना करके आरोपित किए हुए ये सुख-दु:ख भुगतता है।

जो सुख अधिक भोगने से दु:ख रूप बन जाए तो वह वास्तविक सुख नहीं है। जो सुख निरंतर भोगने पर भी दु:ख रूप न हो, वह (आत्मा का) सनातन सुख है।

संसार में सुख है ही नहीं, भ्रामक मान्यता के सुख हैं। शाश्वत सुख आत्मा में है। भ्रामक मान्यता अर्थात् कोई एक व्यक्ति शादी करने में सुख मानता है तो किसी को ब्रह्मचर्य में सुख मिलता है। बाकी, जो अनुभूति प्राप्त होने के बाद में फिर जाए नहीं वही वास्तविक सुख है। अच्छी चाय पी और टेस्ट आ जाए या ठंडी हवा आए और चैन आ जाए, बाहर की किसी भी तरह की चीज़ के अवलंबन से मिलने वाला सुख बाह्य सुख है।

थककर सोने पर जो सुख लगता है वह अंदर का सुख है लेकिन ऐसी भ्रमणा हो जाती है कि सो गया इसलिए सुख आया। लेकिन वास्तव में तो आत्मा है, वहीं से सुख आता है और अहंकार सुख भोगता है। बाहर की अंत:करण और बाह्यकरण रूपी मशीनरी बंद होने पर अंदर जो भगवान (आत्मा) हाज़िर हैं वहाँ से सुख बाहर आता है।

आत्मा के आनंद का पता कैसे चलता है? खुद की चीज़ औरों को दे दे, तो देने से खुद को दु:ख होना चाहिए लेकिन यहाँ तो देने के बाद में कई बार खुद को अंदर आनंद बरतता है। वह खुद का आनंद है, बाहर से नहीं है।

अत्यंत दु:खों के बीच भी अंदर कभी सुख आ जाता है, वह कहाँ से आया? अंदर आत्मा का सुख है वह।

आत्मा का अस्पष्ट सुख का वेदन होता है तब से संसार के सुख फीके लगने लगते हैं फिर भी पूर्व कर्म के आधार पर सुख भोगने पड़ते हैं।

आत्मा पूरा आनंद का ही कंद है, उसमें दु:ख प्रवेश ही नहीं कर सकता।

सुख-दु:ख तो अहंकार भोगता है। मन को व देह को जो छूता है वह *शाता-अशाता* वेदनीय कहलाता है जबकि आत्मा का सुख शाश्वत है।

आत्मा को पीड़ा स्पर्श नहीं करती, यह तो माने हुए आत्मा को पीड़ा है।

'मेरा सिर दु:ख रहा है', ऐसा चिंतवन करने से दु:खी हो जाता है तब यदि बोले, 'मैं अनंत सुखधाम हूँ' तो सुखमय हो जाएगा।

मोह घेरने लगे तब बोलना, 'मोहनीय अनेक प्रकार की होने से उनके सामने मैं अनंत सुख का धाम हूँ।' तो मोह खत्म हो जाएगा।

किसी ने कपड़ों का त्याग किया, वह मोहनीय। कोई कपड़े पहनता है, वह भी मोहनीय। आत्मा के अलावा सबकुछ मोहनीय है। धार्मिक पुस्तकें पढ़ना भी मोहनीय है। उन्हें पढ़ते समय जो आनंद हुआ वह पौद्गलिक आनंद है। वह वापस उतर जाता है।

इस ज्ञान के बाद ऐसे बोले कि रिलेटिव में से आनंद मिला, तो ज्ञान बिगड़ जाता है। रिलेटिव चीज़ें फाइल हैं, उनका समभाव से *निकाल* करना है।

जो आनंद किसी भी चीज़ के बिना हो, वह आनंद है, वही भगवान है। चीज़ों के आधार पर आनंद मिले और यदि वह आधार नहीं रहेगा तो क्या होगा?

बाहर से कोई भी आनंद आए तो वह पौद्‌गलिक आनंद है। खुद को किसी भी चीज़ के बिना साहजिक आनंद आए, अप्रयास, तो वह खुद का वास्तविक आनंद है। अतः बिलीफ (मान्यता) नहीं बिगड़ने देनी है। यदि मान्यता बदली जा सकती हो तो मान्यता को हटाओ। इसके आधार पर आनंद आ रहा है तो यह पराया है, खुद का आनंद नहीं है। दादा ने जो बताया वह शुद्धात्मा, वही अपना स्वरूप है, वही खुद का धन है। उसमें खुद का अनंत सुखधामपना है। उसी में रहना है।

दुःख में (अंदर) आनंदमय स्थिति रहे तो वह आनंद है। जब आनंद रहता है तब सुख-दुःख का असर गायब हो जाता है। जगत् विस्मृत करवा दे, उसे आनंद कहते हैं।

जो उल्लास कम हो जाए वह आत्मा का नहीं है। मूल वस्तु में उल्लास कम-ज़्यादा नहीं होता।

आत्मा जानने के बाद आत्मा का शुद्ध पर्यायिक आनंद उत्पन्न होता है। वह क्रमशः संपूर्ण दशा तक पहुँचता है। केवलज्ञान होने के बाद में आत्मा मोक्ष में जाता है। उसके बाद हमेशा के लिए खुद का स्वाभाविक सुख व परमानंद भोगता है।

जैसे-जैसे आवरण टूटेंगे वैसे-वैसे प्रकाश बढ़ेगा और पूर्ण स्वरूप होने के बाद में, सर्व आवरण टूटने के बाद में पूरी दुनिया खुद में ही झलकेगी। खुद निरालंब हो जाएगा।

सिद्धगति में खुद अपने स्वानुभव सुख को भोगता ही रहता है। वहाँ रहकर उनके अनंत ज्ञान व अनंत दर्शन का उपयोग होता रहता है। इसके परिणाम स्वरूप आनंद रहता है।

आत्मा का मूल स्वरूप ज्ञानस्वरूप है और आनंद तो उसका स्वभाव ही है, स्वरूप नहीं है।

संसार में कोई भी दु:ख स्पर्श न करे, वह आनंद है। परमानंद अर्थात् खुद के सुख में ही खुद रचा-बसा रहता है और सहजानंद अर्थात् बिना प्रयत्न के आनंद उत्पन्न होता रहता है। मोक्ष में और परमानंद में अंतर नहीं है। परमानंद अर्थात् पूर्णाहुति। परमानंद तो जीवन मुक्त दशा कहलाती है। वह एकाध जन्म में ही मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

आत्मा के साथ निरंतर रहने वाला गुण परमानंद है। आत्मा एक क्षण के लिए भी आनंद के बिना नहीं रह सकता। उस आत्मा के साथ 'हमारी' एकता-अभेदता उत्पन्न हो जाए तो हमें परमानंद का लाभ मिल जाएगा। आत्मा से अलगाव हुआ, देहाध्यास हुआ तो परमानंद नहीं चख सकेगा।

परमानंद में कौन रहता है? खुद या परमात्मा? हम खुद ही, यह चंदूभाई नहीं। 'मैं चंदूभाई हूँ', वह भान छूट जाना चाहिए और 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा भान हो जाना चाहिए। चेतन का स्वभाव परमानंद है। उसे कहीं आनंद में रहने की ज़रूरत नहीं है! वह तो खुद, 'मैं चंदूभाई' हो गया है इसलिए खुद परमानंद को ढूँढता है।

बुद्धि का उपयोग न हो तो आत्म अनुभव होता है और ज्ञाता-द्रष्टा रहे तो परमानंद रहता ही है।

[5] अगुरु-लघु

आत्मा के गुण अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। उसका परमानंद नामक गुण, ज्ञान-दर्शन गुण ज़रा सा भी नहीं बढ़ता, कम भी नहीं होता। शुद्धात्मा का देखने-जानने का स्वभाव कभी भी कम-ज़्यादा नहीं होता।

गुरु-लघु परिणाम से गोत्रकर्म उत्पन्न होते हैं।

अपना शरीर, जिस *पुद्गल* को हमें छोड़ देना है, वह गुरु-लघु स्वभाव वाला है जबकि हम खुद अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं।

अगुरु-लघु स्वभाव अर्थात् वह अपने प्रदेश से बाहर नहीं जाने देता। अत: स्थिरता नहीं छोड़ता।

अगुरु-लघु अर्थात् कम-ज़्यादा नहीं होता, मोटा-पतला नहीं होता, लंबा-ठिगना नहीं होता, हल्का-भारी नहीं हो जाता। जैसा है वैसी ही स्थिति में रहता है।

इस जगत् में जो कुछ दिखाई देता है वह गुरु-लघु स्वभाव वाला है। उसे देखने वाले (बुद्धि व अहंकार) भी गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। आत्मा अगुरु-लघु स्वभावी है।

उसे टंकोत्कीर्ण कहते हैं, वह उसके अगुरु-लघु स्वभाव की वजह से कहते हैं।

छहों तत्त्व शुद्ध स्वरूप में हैं, उन सभी में अगुरु-लघु स्वभाव कॉमन है लेकिन जब (जड़ परमाणुओं में) विकार होता है, विशेषभावी हो जाते हैं तब वे गुरु-लघु स्वभावी हो जाते हैं।

मूल शुद्ध परमाणु जो विश्रसा हैं, स्वाभाविक परमाणु हैं, वे अगुरु-लघु होते हैं लेकिन यह विकृत *पुद्गल,* मिश्रसा परमाणु, जिसमें से खून-पीप निकलता है वह गुरु-लघु है और वे सभी प्रयोगसा परमाणु गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं।

अगुरु-लघु स्वभाव अर्थात् बाहर हानि हो या वृद्धि हो लेकिन खुद अगुरु-लघु स्वभाव में आ जाता है। खुद में हानि-वृद्धि नहीं होने देता।

मूल परमाणु भी अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं लेकिन प्रकृति गुरु-लघु स्वभाव वाली है।

मूल तत्त्व अगुरु-लघु कहलाता है जबकि मूल तत्त्व के जो पर्याय, अवस्थाएँ उत्पन्न होते हैं, तब गुरु-लघु हो जाता है।

छहों द्रव्य अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं लेकिन यह प्रकृति विकारी स्वभाव है, यह गुरु-लघु स्वभाव वाली है।

क्रोध बढ़ता है, कम होता है, वह अगुरु-लघु स्वभाव में नहीं आता। राग-द्वेष भी गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। यदि उन्हें आत्मा का कहा जाए तो वह भयंकर भूल है।

इस दुनिया में चाहे कितना भी जलाओ, चाहे कुछ भी करो लेकिन

परमाणु जो हैं वे... एक परमाणु बढ़ता नहीं है और एक परमाणु कम भी नहीं होता। वे मूल स्वरूप में अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं लेकिन जो विभाविक *पुद्गल* है वह सारा विकृति वाला है, वह सारा गुरु-लघु स्वभाव वाला है।

खुद में और जगत् की चीज़ों में क्या अंतर है? खुद अगुरु-लघु स्वभाव वाला है और जगत् की चीज़ों का स्वभाव गुरु-लघु है। राग-द्वेष होते हैं वे गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं जबकि खुद तो स्वभाव से ही वीतराग है, अगुरु-लघु स्वभाव वाला है। ज्ञानी पुरुष खुद को ऐसी शुद्धात्म दशा में ले आते हैं।

कषाय भाव *पुद्गल* के हैं, आत्मा में क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं हैं। वे अन्य किसी चीज़ के गुणधर्म हैं। *पुद्गल* बढ़ जाता है, घट जाता है, बड़ा होता है, बूढ़ा होता है। यह सब *पुद्गल* का स्वभाव है।

अनंत जन्म हो गए, आत्मा में कोई बदलाव नहीं आया। आत्मा बढ़ता नहीं है, घटता नहीं है, वैसे का वैसा ही अगुरु-लघु स्वभाव। चाहे कैसा भी काल आए, आत्मा में चेन्ज नहीं होता।

आत्मा का एक-एक परिणाम अगुरु-लघु स्वभाव वाला है, सनातन है, शाश्वत है, और बाकी सब विशेष परिणाम हैं, वे गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। वे मेरे परिणाम नहीं हैं, मैं तो शुद्धात्मा हूँ।

क्रोध-मान-माया-लोभ होते हैं उन्हें 'हमें' देखते रहना है कि यह दोष बढ़ा और यह कम हुआ तो 'हम' अलग रहे। फिर खुद की जोखिमदारी नहीं रहती।

शोक, हताशा, निराशा, उलझन होने लगे, चाहे कैसा भी डिप्रेशन आए तो उस समय, 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला शुद्धात्मा हूँ', ऐसा जाप यदि एक *गुंठाणे* (अड़तालीस मिनट) तक किया जाए तो अंदर बेहिसाब सुख बरतेगा। यह ज्ञान दशा में रहने का उपाय है।

खुद का अगुरु-लघु स्वभाव है, पैंतालीस मिनट इस प्रकार से ध्यान करने से ग़ज़ब की शक्ति उत्पन्न होगी।

[6] असंग

[6.1] संग में वह है असंग

जहाँ सांसारिक लोगों की दृष्टि नहीं पहुँच सकती वहाँ पर आत्मा है। वह निर्लेप भाव से, असंग भाव से ही रहा हुआ है।

वह खुद (डेवेलप होता हुआ मैं) भी असंग स्वभाव वाला है। उसे संग की ज़रूरत ही नहीं है। यह तो भ्रांति से मानता है कि मुझे यह चिपक गया। बाकी, उससे कुछ भी नहीं चिपका है, असंग ही है।

जीवमात्र का आत्मा निर्लेप व असंग ही है। छहों द्रव्य असंग ही हैं। यह संगी हो जाता है, संगी दिखाई देता है, यह उसका विशेष भाव है। निर्लेप आत्मा को कुछ भी स्पर्श नहीं करता। क्रोध-मान-माया-लोभ हों फिर भी वह लेपायमान नहीं होता। संग में रहने के बावजूद भी वह असंगी है। उसे कोई दाग़ नहीं लगता।

मूल आत्मा मिथ्यात्व में भी, गाय-भैसों में भी असंग है क्योंकि संगी क्रिया स्थूल है, मन-वचन-काया की है, खुद सूक्ष्म है। संगी क्रियाओं को खुद की मानता है इस भूल के कारण खुद बंधता है।

वह असंग आत्मा तो वैसा ही है लेकिन अपनी बिलीफ में असंग आत्मा नहीं है। असंग की बिलीफ बैठ जाए तो असंग हुआ जा सकेगा। देहाध्यास जाने के बाद में निरंतर खुद के असंग स्वरूप में रहता है। देहाध्यास को लेकर संगी लगता है। अनंत जन्मों में आत्मा ने किसी भी देह के साथ संग किया ही नहीं है, खुद असंग ही रहा है।

गीता में कहा है कि असंग शस्त्र से संसार वृक्ष का छेदन किया जा सकता है। वह असंग शस्त्र, असंग वाणी से समझाया जा सकता है। मालिकी रहित वाणी असंग वाणी कहलाती है।

खुद का जो असंग स्वभाव है वह स्वभाव उत्पन्न हो जाना चाहिए। खुद के स्वभाव में आ गया तो खुद असंग ही है, निर्लेप ही है। खुद शुद्धात्मा में रहे तो असंग ही रहता है।

संगदोष अर्थात् आत्मा से जड़ का जो संग हुआ है उसके दोष से

ये क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न हो गए, उस वजह से खुद का जगत् खड़ा हो गया। यदि दो तत्त्व अलग हो जाएँ, खुद असंग हो जाए तो संगदोष को जीता जा सकता है।

क्रमिक मार्ग में आत्मा को असंग करने के लिए, निर्लेप करने के लिए त्याग करते हैं। आत्मा को स्थिर करो, ऐसा कहते हैं लेकिन वे व्यवहार आत्मा को ही मूल आत्मा मानकर करने जाते हैं। बाकी, मूल आत्मा असंग ही है, निर्लेप ही है, स्थिर ही है। खुद को ऐसा भान हो जाना चाहिए।

मूल आत्मा असंग ही है जबकि व्यवहार आत्मा जैसा चिंतवन करता है वैसा असर हो जाता है क्योंकि खुद संग के असर वाला है। 'मैं असंग हूँ', चिंतवन करेगा तो असंग हो जाएगा। 'मैं संगी हूँ', चिंतवन करेगा तो वैसा असर होगा।

'मैं असंग हूँ', ऐसा भान ज्ञानी पुरुष से प्राप्त होता है। वे खुद नित्य मुक्त, नित्य समाधि वाले, नित्य आत्मा रूप हैं। जिनका अनित्यपन सर्वथा छूट चुका है, सनातनपन प्राप्त हो चुका है, ऐसे ज्ञानी पुरुष के पास जाकर असंग हो सकते हैं।

यह विज्ञान ऐसा है कि संसार में रहने के बावजूद भी खुद असंग ही रहता है।

बाहर का भाग संग वाला है और खुद असंग है।

अवस्था में असंग रहा जा सके, वही आत्म अनुभव है। अत: संग में असंग रहने की क्रिया सीख लो। बाकी, संग को हटाकर कभी भी असंग नहीं हो सकते।

मोटर के आगे हैड लाइट होती है, वह लाइट खाड़ी में पड़े तो क्या बदबू मारेगी? कीचड़ वाली हो जाएगी? ऐसा आत्मा है। आत्मा को कषाय स्पर्श नहीं कर सकते, निर्लेप ही है, असंग ही है। अहंकार को सबकुछ स्पर्श करता है, कषाय वगैरह सबकुछ।

कृपालुदेव ने कहा है, "*असंग छे परमार्थथी, पण निज भाने तेम।*"

अज्ञान दशा में भान उल्टा है इसलिए संगी हो गया है। भ्रांति के कारण असंग भासित नहीं होता। अक्रम विज्ञान में निज भान प्राप्त हो जाता है तब खुद असंग हो जाता है।

क्रमिक मार्ग में संग की निवृत्ति से सहज स्वरूप का भान प्रकट होता है। अब, सभी संग की निवृत्ति कब हो पाएगी? क्रमिक मार्ग में तो सबकुछ छोड़ना ही पड़ता है जबकि अक्रम में ज्ञान मिलते ही असंग का भान हो जाता है। अब संयोगों का समभाव से *निकाल* करना बाकी रहा।

क्रमिक मार्ग में कहते हैं कि सर्व भाव से असंगपन होना, वह सब से दुष्कर साधन है। फिर भी अक्रम मार्ग में सर्व भाव से असंगपन प्राप्त हो जाता है। खुद चंदूभाई है तो भाव आता है लेकिन खुद शुद्धात्मा हो गया तो उसके बाद स्वभाव रहा।

कृपालुदेव ने कहा है, नि:शंकता से निर्भयता उत्पन्न होती है और निर्भयता से नि:संगता उत्पन्न होती है। असंगता को ही मोक्ष कहते हैं। यहाँ अक्रम में आत्मा संबंधी नि:शंकता उत्पन्न हो गई है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ', तो खुद नि:शंक हो गया। नि:शंक आत्मा से निर्भयता आती है और फिर असंग रह पाता है।

ऐसे ज्ञान वाक्य किसी पुस्तक में होते ही नहीं न! यह तो दादाश्री ने मूल आत्मा को जैसा देखा, वैसा बताया है। उसे शब्दों से, संज्ञा से समझा सके हैं। यह तो मौलिक संपादन है, मौलिक बातें हैं सारी, और इसके पीछे अलौकिक की मुहर लगी हुई है! खुद पूर्ण स्थिति में पहुँचे हैं इसलिए जगत् को यह अक्रम विज्ञान दे पाए!

कृपालुदेव असंग रह पाए थे। उन जैसे ज्ञानी ही समझ सकते हैं कि जो त्रिकाल असंग रहते होंगे उनकी दशा कैसी होती होगी!

जगत् को जीतना आसान है लेकिन एक समय के लिए भी असंग रहना महाविकट है। ऐसे में ज्ञानी पुरुष दादाश्री निरंतर असंग दशा में बरतते हैं और यह ज्ञान मिलते ही महात्माओं को भी असंग बना देते हैं।

शरीर किसी को छू ले तो वह संगी क्रिया है। मन किसी के बारे

में सोचे, किसी के लिए वाणी बोले तो वह संगी क्रिया है। 'मैं चंदू, मैंने यह किया है', वह संगी क्रिया है। वह सब अनात्मा का है, अवस्तु को टच होता है। आत्मा किसी को टच हो जाए ऐसा नहीं है, असंग है। वह संगी क्रियाओं को जानने वाला है, संगी क्रियाओं का करने वाला नहीं है।

क्रमिक मार्ग में ऐसा कहा जाता है कि संगी क्रियाओं को छोड़ोगे तभी मुक्त हो पाओगे जबकि अक्रम विज्ञान, जो असंग है उसे असंगपने का भान करवाता है।

संगी क्रिया स्थूल है, आत्मा सूक्ष्मतम है। दोनों को एक करना हो तो भी नहीं हो सकेगा। आत्मा क्षण भर के लिए भी रागी-द्वेषी नहीं बनता, अनात्मा नहीं बनता। सिर्फ खुद को रोंग बिलीफ हो गई है कि, 'यह मैं कर रहा हूँ।'

क्रिया एक ही प्रकार की, आरोपित भाव से करे तो संसार, स्वाभाविक भाव से करे तो कोई लेना-देना नहीं है।

जितने विकल्प उतने ही अवलंबन हैं। वे विकल्प छूट गए कि निरालंब होता जाएगा। निरालंब अर्थात् एब्सल्यूट स्थिति। असंग, निर्लेप, निरपेक्ष, सभी शब्दों को इकट्ठा किया जाए तब एब्सल्यूट बनता है।

[6.2] असंग और निर्लेप

आत्मा खुद स्वभाव से ही असंग है। किसी के साथ संयोग हुआ है लेकिन संग नहीं हुआ। संग हुआ होता तो अलग नहीं हो पाता।

खुद इतने सारे सांसारिक कार्य करने के बावजूद भी असंग रहता है। इतने सारे सांसारिक भाव हैं, इतने सारे कार्यों में लेपायमान दिखाई देता है, फिर भी आत्मा खुद निर्लेप है और वैसा आत्मा ज्ञानियों ने देखा है, तभी दूसरों का आत्मा अलग कर सकते हैं।

असंग और निर्लेप में अंतर है। असंग में ऐसा लगता है कि पीछे कुछ स्पर्श हो रहा है लेकिन किसी का भी स्पर्श नहीं होता, बीच में अवकाश ही होता है जबकि निर्लेप में तो स्पर्श ही नहीं होता। (अर्थात् लगता ही नहीं कि स्पर्श हो रहा है।)

असंग वाला फिर से चिपक जाता है जबकि निर्लेप वाला कभी भी लेपायमान नहीं होता।

असंग वाले को असंग का भान रहता है जबकि निर्लेप वाले को निर्लेपपने का भान नहीं रहता (निर्लेपता सहज रूप से बरतती है)।

महात्माओं की प्रतीति दशा है इसलिए वे किसी भी अवस्था में असंग रह सकते हैं जबकि दादाश्री की निरंतर आत्म अनुभव दशा है इसलिए वे किसी भी अवस्था में निर्लेप ही रहते हैं।

'मैं शुद्धात्मा हूँ', वही असंगपने का *लक्ष* है। असंगपना वही विरति (क्रोध-मान-माया-लोभ में पड़ने से बचना) है।

निश्चय से महात्माओं को असंग पद प्राप्त हुआ है। अविरति पद (निरंतर आत्मा में रहना) है यह। अर्थात् अब फाइलों का समभाव से *निकाल* बाकी रहा है। आज्ञा में रहेंगे तो *निकाल* होता जाएगा।

आज्ञा का पालन इसलिए करना है कि खुद को जो राइट बिलीफ प्राप्त हुई है वह बदल न जाए। आज्ञा तो प्रोटेक्शन (रक्षण) है।

इस संसार में लोगों के कुसंग में रहते हुए असंग रहना, ऐसे तो आज्ञा के आधार पर ही रहा जा सकता है।

पौद्‌गलिक संग को कुसंग कहा जाता है। खुद असंग है, ऐसा अनुभव नहीं होने दे, वह कुसंग है। वास्तविक सत्संग तो असंग-सत्संग है। वर्ना कुसंग और सत्संग दोनों ही जाल हैं।

ये चंदूभाई पकौड़े, रस-रोटी मज़े से खाते हैं उसमें अहंकार है, मैं नहीं। क्रियाएँ सारी ही जड़ की हैं, आत्मा को लेना-देना नहीं है।

क्रिया इतनी नज़दीक है कि भ्रांति उत्पन्न हो जाती है कि, 'मैं ही खाना खा रहा हूँ' लेकिन 'मैं' खाता ही नहीं है, 'मैं' अलग ही है उस समय। अलग है तभी जान पाता है।

यह चरणविधि... यह तो संगी बोलता है कि, 'मैं असंग हूँ।' असंग होने के लिए उसका पुरुषार्थ है। मूल आत्मा तो निरंतर असंग ही है।

ज्ञान प्राप्ति के बाद में, एक बार असंग होने के बाद में खुद फिर से संगी नहीं हो सकता। एक बार निर्लेप होने के बाद में लेपायमान नहीं होता। संग चंदू को स्पर्श करता है, खुद तो जानता ही रहता है। अत: हमें अपना खुद का यह स्वभाव पकड़े रखना है और उसी रूप रहना है।

देह, वह संगी चेतना है, इसे 'निश्चेतन चेतन' कहा है।

घबराहट देह का गुण है, वह संगी चेतना की वजह से रहता है और भय आत्मा की अज्ञानता की वजह से रहता है।

परभाव से आत्मा को असंग करना, वह क्रमिक मार्ग है जबकि अक्रम मार्ग में महात्माओं को असंग आत्मा प्राप्त हो गया है, दादा भगवान की कृपा से, भेदविज्ञान द्वारा।

अज्ञानी के लिए विषय बंधन का कारण है जबकि ज्ञानी के लिए विषय *निर्जरा* का कारण बन जाता है क्योंकि विषय नो-कषाय है। विषय विष नहीं हैं, विषय में निडरता विष है। अत: विषय से डरो।

मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग ही हूँ लेकिन पिछले भास्यमान परिणाम जागृति को बदल देते हैं। असंगता का अनुभव होना चाहिए और कमज़ोरियाँ चली जानी चाहिए। इसके लिए खुद रोज़ रात को तीन सामायिक करेगा तब संगी क्रियाओं में वह असंग वृत्ति अनुभव कर सकेगा। खुद अलग ही है, ऐसा भान रहना चाहिए।

जितने मिनट खुद असंग रहता है उतने मिनट तक मुक्ति का अनुभव करता है और वीतरागों को हमेशा के लिए मुक्ति रहती है।

संयोगों के संग से बंधन है और संयोगों से असंग, उसे कहते हैं मुक्ति।

[7] निर्लेप-अलिप्त

[7.1] आत्मा सदा निर्लेप ही

जीवमात्र का आत्मा शरीर में निर्लेप ही है। संसार में यह जो सब

उत्पन्न हुआ है वह वैज्ञानिक असर है। आत्मा का शरीर से वास्तव में कोई संबंध ही नहीं है।

मूल आत्मा प्रकाश स्वरूप ही है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश हाथ पर पड़ने पर उजाला हाथ को लेपायमान नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा शरीर में बिल्कुल अलग है, निर्लेप ही रहा हुआ है।

चाहे किसी को भी छू कर बैठे फिर भी असंग, चाहे कितना भी सुंदर दिखाई दे फिर भी उससे चिपकता नहीं है, ऐसा निर्लेप है आत्मा।

संसार में रहते हुए भी असंग और निर्लेप रह पाएँ, ऐसा ज्ञानी पुरुष के विज्ञान से हो सकता है। खुद संसार व्यवहार में भी रहता है आत्मा में भी रहता है।

ज्ञानविधि में जो ज्ञान वाक्य बुलवाते हैं उन्हें बोलने से ही पाप भस्मीभूत हो जाते हैं, दर्शन बदलता है और भ्रांतिरस से चिपका हुआ अलग हो जाता है। उसके बाद खुद लेपायमान भावों से निर्लेप होता जाता है।

संसार के सभी संयोग खुद को निर्लेप करने के लिए ही आते हैं। जैसे-जैसे असर बंद होता जाता है वैसे-वैसे निर्लेप होते जाते हैं। सत्संग के परिचय से खुद अपने पद में रह पाते हैं और पराई डाक को स्वीकार करना बंद हो जाता है।

ज्ञानी पुरुष का व्यवहार निर्लेप होता है। कोई भी अच्छी चीज़ देखे तो उसे देखकर आनंद होता है लेकिन कभी भी एकाकार नहीं होते। उसके बाद बबूल भी अच्छा लगता है और गुलाब भी अच्छा लगता है। निर्लेप व्यवहार के बाद बेहिसाब आनंद रहता है।

ज्ञानी पुरुष में आत्म परिणाम और अनात्म परिणाम, दोनों अलग-अलग बरतते हैं क्योंकि निर्लेप भाव उत्पन्न हो चुका होता है।

दादाश्री का व्यवहार ऐसा था कि वे सभी के साथ मिल-जुलकर रहते थे फिर भी अंदर से संपूर्ण निर्लेप रहते थे, इससे लोगों को संतोष होता था।

यही दुनिया, लेकिन ज्ञानी को स्पर्श नहीं करती, निर्लेप ही रहते हैं जबकि जगत् के लोगों को स्पर्श करती है, लेपायमान कर देती है।

[7.2] लेपायमान भाव

लेपायमान भाव अर्थात् मन-बुद्धि-चित्त व अहंकार के भाव, बुद्धि का दखल, मन के विचार, तरंग वगैरह सब, लेकिन वे सभी निर्जीव भाव हैं, जड़ भाव हैं। उन सभी लेपायमान भावों से खुद निर्लेप ही है।

लेपायमान भाव ज्ञेय हैं, हम ज्ञाता हैं।

नापसंद मेहमानों के आने पर ऐसा लगता है कि, 'ये कहाँ से आ गए', वह लेपायमान भाव। हम यदि उन भावों को पहचान जाएँ तो फिर कुछ भी स्पर्श नहीं करेगा। वह पहले का *पूरण* किया हुआ माल *गलन* हो रहा है।

रास्ते में हुआ एक्सिडेन्ट देखा हो तो मन में भाव होते हैं कि अगर मेरा भी एक्सिडेन्ट हो जाएगा तो? तो उन्हें हमें देखते रहना है। वे मन के डिस्चार्ज होते हुए भाव हैं। साठ साल की उम्र में शादी करने का भाव आता है, उसे देखते रहो, वे सभी जड़ भाव हैं।

अज्ञानता में खुद को ऐसा लगता है कि ये लेपायमान भाव मेरे हैं, मुझे ही आ रहे हैं। ज्ञान के बाद समझ आता है कि ये तो प्राकृत भाव हैं, जड़ भाव हैं, चेतन भाव नहीं हैं। उन्हें 'यह मेरा स्वरूप नहीं है', कहने से छूट जाएँगे।

आम खाने के बाद कहता है कि, 'आम बहुत अच्छा था', उसका वर्णन करता है, वे लेपायमान भाव हैं। 'मैं चंदू हूँ' तो वह भाव लेपित करते हैं और 'मैं शुद्धात्मा हूँ', तो वही भाव लेपायमान नहीं करते।

आम खाना संगी क्रिया कहलाता है और 'फिर से खाएँगे, मज़ा आ गया, यह तो बहुत अच्छा है', यह लेपायमान भाव है।

अच्छा और खराब वर्तन किया, किसी को थप्पड़ लगाई तो वह देह के लेपायमान भाव हैं। ऐसे में चेतन भाव कैसे होते हैं? 'ऐसा करने

की ज़रूरत नहीं थी, ऐसा नहीं होना चाहिए।' लेपायमान भाव चंदू के हैं। हम शुद्धात्मा उसे देखें तो वह चेतन भाव है।

किसी व्यक्ति के लिए उल्टी वाणी निकल गई तो जड़ भाव उत्पन्न हो जाते हैं कि यह नालायक है, बहुत खराब है, ऐसा है, वैसा है। यानी उसे पुष्टि देते हैं। तब यदि ऐसा कहें कि, 'यह व्यक्ति अपना उपकारी है', तो वे भाव बंद हो जाएँगे।

'यह तो नुकसान हो सकता है' ऐसा बोलने से वे लेपायमान भाव तरह-तरह से शोर मचाएँगे कि ऐसा हो जाएगा और वैसा हो जाएगा। फिर हम कहें कि, 'नहीं-नहीं, यह तो लाभदायी है', तो फिर वे वापस शांत हो जाएँगे।

लेपायमान भाव, वह अपने पिछले अभिप्रायों को लेकर हैं।

ऐसे ज्ञान वाक्य का उपयोग करना, वही शुद्ध उपयोग है, वर्ना खुद को ऐसा लगता है कि मैं लेपायमान हो गया हूँ, मुझे असर कर गया, मैं अशुद्ध हो गया।

प्रकृति के गुण-दोष देखता है, वह देखने वाला अहंकार-बुद्धि का भाग है, लेपित भाग है, इसलिए एकरस निर्दोषता नहीं दिखाई देती। जबकि मूल आत्मा का भाग निर्लेप है इसलिए एकरस निर्दोषता रहती है। जो प्रकृति के दोष देखता है वह प्रकृति हो जाता है। मूल आत्मा को किसी के भी दोष नहीं दिखाई देते।

[7.3] अस्पर्श्य

आत्मा प्रकाश स्वरूप है। प्रकाश को घुमाते रहने पर भी उसे कुछ स्पर्श नहीं करता वैसा आत्मा है, अस्पर्श्य है। कोई भी चीज़ उसको स्पर्श नहीं कर सकती।

जिस प्रकार गाड़ी की हैड लाइट का प्रकाश यों कीचड़, गंदगी और खाड़ी पर से होकर गुज़रता है फिर भी उस प्रकाश को कुछ भी स्पर्श नहीं करता, तो फिर यह तो मूल आत्मा का प्रकाश है, यह बिल्कुल अलग वस्तु है। उस प्रकाश को कुछ भी स्पर्श नहीं करता, परम ज्योति स्वरूप!

साथ में रहने के बावजूद भी छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता। अस्पर्श्य, टंकोत्कीर्ण।

जड़ तत्त्व और चेतन तत्त्व, दोनों के पास-पास होने के कारण खुद की मान्यता में भूल हो गई है कि यह मैं हूँ। बाकी, ज्ञान किसी भी स्थिति में बिगड़ा ही नहीं है, बिगड़ता ही नहीं है।

अक्रम विज्ञान में ज्ञानविधि से आत्मजागृति प्राप्त होती है। अब जैसे-जैसे आज्ञा का पालन होता जाएगा वैसे-वैसे अस्पर्श्य, निरालंब आत्मा का अनुभव होता जाएगा। उसकी समझ पूरी तरह से समझ लेने की ज़रूरत है।

आत्मा ऐसा है कि पाप-पुण्य उसे कभी स्पर्श ही नहीं कर सकते। अज्ञानता और रोंग मान्यताओं को लेकर मैं अशुद्ध हो गया, पापी हो गया, ऐसा मानते थे लेकिन ज्ञान लेने से खुद शुद्धात्मा हुआ, पापों से निर्लेप हो गया।

ज्ञान लेने के बाद पाप करने वाला जो अहंकार है, वह और आत्मा खुद अलग ही हो जाते हैं इसलिए पाप से विमुख ही हो जाता है।

जब तक मैं यह शरीर हूँ ऐसा भान है, तब तक पाप लगते ही रहते हैं। जब देह का मालिकीपन नहीं रहता तभी से खुद निष्पापी हो जाता है। हिंसा के समुद्र में अहिंसक हो जाता है।

ज्ञानी पुरुष दादाश्री की दशा में, देह से संपूर्ण अस्पर्श्य दशा में रहने से उन्हें थकान नहीं लगती थी, शरीर को भी थकान नहीं लगती थी। हमेशा फ्रेश! बासी लगते ही नहीं थे!

आत्म स्वभाव को ही समझ लेना है। मठिया खाते हैं, वे तीखे हों या फीके, आत्म स्वभाव वीतराग है, जानकार ही है। स्वाद के रंग में रंगता ही नहीं है। वह अस्पर्श्य स्वभाव वाला ही है।

चाहे कैसा भी अपमान हो पर आत्मा खुद जानकार ही रहता है कि, 'अपमान किसका हो रहा है, खुद कौन है।' लेकिन स्वभाव जागृति की कमी को लेकर अपमान का असर अपने सिर ले लेता है। परिणामस्वरूप खुद का जानपना चूक जाता है।

[8] स्वभाव-स्वपरिणति-स्वपरिणाम

[8.1] स्वभाव : परभाव

'मैं शुद्धात्मा हूँ', यह स्वभाव है और 'मैं चंदू, यह मेरा', यह सब परभाव है।

'मैं चंदू और मैं पैसे कमाने का भाव करता हूँ', यह परभाव। लेकिन 'मैं शुद्धात्मा' है तो पैसे कमाने का भाव, परभाव नहीं माना जाएगा। वह डिस्चार्ज है, उसे देखने वाला वह खुद है।

आत्मा स्वभाव का ही कर्ता है, परभाव का कर्ता नहीं है। परभाव का कर्ता अज्ञान है, 'मैं चंदू हूँ' यह। परभाव कॉज़ेज़ बंधने की शुरुआत है।

पाँच आज्ञाओं का पालन करता है वह परभाव में नहीं जा सकता।

आज्ञा पालन करने का फल, परभाव से मुक्ति और स्वभाव में स्थिति।

परभाव उत्पन्न नहीं हो उसे अप्रतिबद्ध कहते हैं।

[8.2] स्वपरिणति-परपरिणति

परिणति अर्थात् परिणाम को खुद का मानना। ये चंदूभाई जो कुछ भी करते हैं वह परपरिणाम है। यदि ऐसा लगे कि, 'उसे मैं कर रहा हूँ' तो परपरिणति कहते हैं। सिर दुःखता है, वह परपरिणाम है उसे, 'मुझे दुःखा' ऐसा कहता है, वह परपरिणति है।

किसी और के परिणाम को 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा मानना, वह परपरिणति है और खुद के परिणाम को खुद का मानना, वह स्वपरिणति है।

शुभ और अशुभ ये सब *पुद्गल* परिणति हैं।

परिणति दो प्रकार की होती हैं, एक स्वपरिणति और दूसरी परपरिणति। एक शुद्ध परिणति, उससे मोक्ष है और दूसरी अशुद्ध परिणति, उससे संसार है।

'मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ, मैं धर्म करता हूँ, मैं सो गया', यह सब परपरिणति है।

स्वपरिणति की शुरुआत हो गई लेकिन पूर्णाहुति नहीं हुई है, वह है संन्यस्त। परपरिणति को हटाता रहे, वह संन्यस्त। परपरिणाम और स्वपरिणाम को समझ कर चले, वह संन्यासी।

स्वपरिणति और परपरिणति को वीतराग की भाषा में समझा उसे भेदज्ञान हो गया, ऐसा कहा जाएगा।

इस अक्रम विज्ञान द्वारा पहले खुद को वस्तु की प्रतीति बैठती है, ज्ञानी पुरुष दादा भगवान की कृपा से। उसके बाद बढ़ते-बढ़ते प्रतीति आगे जाकर संपूर्ण दर्शन में पहुँच जाती है, तब फिर स्वपरिणति शुरू होती है। वस्तु में जब खुद का स्वाभाविक पुरुषार्थ जागता है, खुद वस्तु स्वरूप हो जाता है तब खुद में स्वपरिणति उत्पन्न होती है। स्वपरिणति एक अलौकिक वस्तु है।

अक्रम विज्ञान तो ग्यारहवाँ आश्चर्य है इस जगत् में! दो ही घंटों में जो परपरिणति में था वह स्वपरिणति में आ जाता है, फिर चाहे वह किसी भी जाति का हो!

क्षायक समकित अर्थात् परपरिणति ही नहीं, निरंतर स्वपरिणति।

दादाश्री कहते हैं, हमें निरंतर स्वपरिणाम ही होता है, परपरिणति उत्पन्न ही नहीं होती।

स्वपरिणति में ही रहता है, उसे स्वरूप स्थिति कहते हैं।

अक्रम विज्ञान में तो जितने समय तक आज्ञा में रहा उतने समय तक स्वरूप स्थिति रहती है, स्वरूप समाधि रहती है।

'शुद्धात्मा' शब्द तो संज्ञा है, यह निज परिणति नहीं है। यह ज्ञान प्राप्त होने के बाद में जब ज्ञान का उपयोग होता है तब उसे निज परिणति में आया, ऐसा कहा जाता है। निज परिणति, वह आतमभावना है।

आज्ञा निज परिणति में रहने के लिए ही है।

शुभाशुभ उपयोग परपरिणति है, शुद्ध उपयोग निज परिणति है। केवलज्ञान होने के बाद में परिणति नहीं रहती।

एक क्षण भी स्वपरिणति उत्पन्न हो जाए तो उसे 'समयसार' कहा गया है।

[8.3] महात्माओं की स्वपरिणति

अहंकार पौद्गलिक चीज़ है। *पुद्गल* में से यह अहंकार काम करता रहता है इसलिए खुद को नहीं करना हो फिर भी होता रहता है। (ज्ञान के बाद) वह निर्जीव अहंकार है। मूल चैतन्य शक्ति का प्रवाह स्वपरिणति में उत्पन्न हुआ इसलिए परपरिणति निर्जीव हो गई।

यह ज्ञान लेने के बाद में अहंकार व्यवस्थित के ताबे में है। उसे डिस्चार्ज करने का काम व्यवस्थित का है।

पुद्गल की जो क्रिया है वह व्यवस्थित करता है, उसे परपरिणाम कहते हैं। उसे देखने और जानने वाला खुद शुद्धात्मा है, वह स्वपरिणति है।

परिणति, वह कर्ता को लेकर है, न कि बाहर के वातावरण के कारण। यदि खुद कर्ता है तो परपरिणति है और खुद शुद्धात्मा है और व्यवस्थित कर्ता है तो स्वपरिणति।

चंदूभाई को गुस्सा आने पर खुद को ऐसा लगे कि यह नहीं होना चाहिए, तब जड़, जड़ भाव में परिणमित होता है और चेतन, चेतन भाव में परिणमित होता है। जो *पूरण* हुआ माल है उसका *गलन* होता है। *गलन* परपरिणाम है।

मन खराब सोचे या अच्छा सोचे लेकिन यदि खुद जाने कि यह परपरिणाम है तो वह स्वपरिणति है।

'व्यवस्थित कर्ता है', इस ज्ञान की वजह से खुद को परपरिणति रहती ही नहीं है।

परपरिणति उत्पन्न होने से चिंता शुरू हो जाती है, जी जलता है।

(डिस्चार्ज अहंकार की) परपरिणति को अलग रहकर देखना, वह तप है। ज्ञाता-द्रष्टा नहीं रह पाते उस समय तप करना पड़ता है।

महात्माओं में परपरिणति उत्पन्न होने पर उसे हटाना पड़ता है जबकि दादाश्री की दशा में परपरिणति उत्पन्न ही नहीं होती और उनमें वह होती ही नहीं है।

मूर्ति, गुरु, शास्त्र व त्याग का अवलंबन है तब तक परपरिणति है, और शुद्धात्मा का अवलबंन, वह खुद का ही स्वरूप है अर्थात् स्वपरिणति है।

दादा भगवान वे हैं जो देहधारी ए.एम.पटेल के अंदर प्रकट हुए हैं, वह खुद का स्वरूप ही है। अत: दादा भगवान का अवलंबन, वह स्वपरिणति है।

[8.4] स्वपरिणाम-परपरिणाम

जीवमात्र में स्वपरिणाम और परपरिणाम, दो धाराएँ अलग ही होती हैं लेकिन अज्ञान दशा के कारण एक ही मानते हैं। दीया प्रज्वलित हो लेकिन वह अंधे के किस काम आएगा?

क्रिया मैंने की और क्रिया का ज्ञान भी मैं जानता हूँ, इस प्रकार अज्ञानी दो परिणामों को इकट्ठा कर देता है। इसलिए बेस्वाद स्वाद आता है। जबकि ज्ञानी पुरुष दो परिणामों में नहीं रहते, एक परिणाम में ही रहते हैं। वे ज्ञानक्रिया के कर्ता होते हैं, अज्ञानक्रिया के कर्ता नहीं होते।

जो परिणाम चंचल और विनाशी हैं वे परपरिणाम हैं और जो अचल व अविनाशी हैं वे स्वपरिणाम हैं। 'पर' को खुद का माना, उसी वजह से दु:ख भुगतते हैं।

बुखार आए तो अच्छा नहीं लगता लेकिन भुगतना ही पड़ता है क्योंकि वह परपरिणाम है। स्वादिष्ट भोजन अच्छा लगता है, सोना अच्छा लगता है, देखना अच्छा लगता, वे सब परपरिणाम हैं। परपरिणामों के लिए माना कि 'मैंने किया', उसी से यह जगत् उत्पन्न हुआ है।

कर्म *पुद्गल* स्वभाव वाले हैं, वे परपरिणाम हैं और हम खुद

शुद्धात्मा हैं, यह स्वपरिणाम है। परपरिणाम ज्ञेय स्वरूपी है, खुद ज्ञाता स्वरूपी है।

एक क्रिया की धारा है और दूसरी ज्ञाता-द्रष्टा की धारा है, ये दोनों धाराएँ ज्ञानी में अलग ही बरतती हैं।

बॉल को उछालते हैं, उसके बाद वह परपरिणाम में चली जाती है। उस परपरिणाम में यदि हम फिर से हाथ नहीं डालें तो अपने आप ही वे बंद हो जाएँगे। अत: अक्रम विज्ञान में नई बॉल डालना बंद कर दो और परिणाम रूपी जो उछलती है उसे देखते रहो तो अपने आप अंत आ ही जाएगा। जबकि क्रमिक मार्ग में बॉल फेंकने के बाद में उछलती हुई बॉल को, परिणाम को बंद करने जाते हैं। ऐसा करने से वह रुकती नहीं है, वह और अधिक उछलती है।

जो परपरिणाम हैं, जो डिस्चार्ज हैं उनमें वीतरागता रखनी है, देखते रहना है। इसके अलावा अन्य कोई उपाय ही नहीं है।

ज्ञान के बाद अब जो क्रोध है वह परपरिणाम है। उसे देखने से अपने आप ही धीरे-धीरे नरम होते-होते खत्म हो जाएगा।

जितने क्रिया वाले हैं वे सभी परपरिणाम हैं, वे डिस्चार्ज हैं।

संयम परिणाम अर्थात् आत्म परिणाम और *पुद्गल* परिणाम, दोनों का यथार्थ रूप से अलग रहना। *पुद्गल* परिणामों को देखना, यही आत्म परिणाम।

महात्माओं को स्वपरिणति है लेकिन स्वपरिणाम नहीं है क्योंकि अभी भी परपरिणाम में मज़े लेते हैं, व्यापार-धंधा करने पड़ते हैं। दादाश्री निरंतर स्वपरिणाम में होते हैं।

महात्माओं को पहले जो देखने-जानने से राग-द्वेष होते थे, अब वे नहीं होते। फिर भी वह देखना-जानना बुद्धि से है। 'इस बुद्धि द्वारा देखना-जानना, वह परपरिणाम है', ऐसा जानेंगे तब स्वपरिणाम को समझेंगे। वे स्वपरिणाम की तरफ लौट रहे हैं।

चंदू क्या करता है उसे देखने व जानने को ही वह स्वपरिणाम

मानता है लेकिन स्वपरिणाम तो शुद्ध होते हैं, स्वाभाविक होते हैं, जिसमें द्रव्य के गुण व पर्याय, सभी को जाने।

कोई रगड़-रगड़कर हाथ काट रहा हो, उस समय खुद होम डिपार्टमेन्ट में ही रहे, स्वपरिणति में रहे, परपरिणति उत्पन्न नहीं होने दे, ऐसा तप करे कि 'ये परपरिणाम हैं, मेरे परिणाम नहीं हैं', इस तरह से स्वपरिणाम में मज़बूत रहने को तप कहते हैं।

दादाश्री कहते हैं, हमारा ज्ञान 356 डिग्री पर है। चार डिग्री का दखल रहा हुआ है तो महात्माओं को तो और ज़्यादा दखल रहता होगा न?

ये 'ए.एम.पटेल' तो मनुष्य ही हैं, फिर भी इनकी जो वृत्तियाँ हैं, इनकी जो एकाग्रता है, वह पररमणता नहीं है और परपरिणति भी नहीं है। निरंतर स्वपरिणाम में ही मुकाम है। ऐसी दशा हज़ारों-लाखों सालों में शायद ही किसी की होती है। सर्वांश रूप से स्वरमणता और फिर संसारी वेश (भेष में), यह आश्चर्य है। असंयति पूजा नामक धीट (ज़बरदस्त) आश्चर्य है यह।

दादाश्री कहते हैं कि, 'हम एक क्षण के लिए भी संसार में नहीं रहते। संसार में रहना अर्थात् परपरिणति। हम निरंतर स्वपरिणाम में ही होते हैं, निरंतर मोक्ष में ही होते हैं।'

दादाश्री कहते हैं कि, 'हमारा आत्मा आत्म परिणाम में रहता है और मन, मन के परिणामों में रहता है। स्वपरिणाम में आत्मा परमात्मा ही है। दोनों अपने-अपने परिणाम में आ जाएँ और अपने-अपने परिणाम को भजें, उसी को कहते हैं मोक्ष।

[8.5] पारिणामिक भाव

छः प्रकार के भाव हैं : 1. मिथ्यात्व भाव 2. उपशम भाव 3. क्षयोपशम भाव 4. क्षायकभाव 5. सन्निपात भाव 6. पारिणामिक भाव। सिर्फ पारिणामिक भाव ही आत्मा का है, बाकी सारे पौद्गलिक भाव हैं।

पारिणामिक भाव तत्त्वों को होते हैं, अन्य किसी पर वह लागू नहीं होता।

पुद्गल के पारिणामिक भाव संसार में अधोगति में ले जाते हैं, जबकि आत्मा का पारिणामिक भाव मोक्ष में ले जाता है।

परम पारिणामिक भाव अर्थात् स्वभाव। अर्थात् स्व उपयोग में, वीतरागता में, उस रूप में खुद परमात्मा ही है।

आत्मा स्वभाव में आ जाए तो परमात्मा ही है और विभाव में हो तो जीवात्मा है।

पूरा जगत् औदयिकभाव (उदयाधीन) है। हिन्दुस्तान में बहुत कम लोग उपशम भाव में आए होंगे, जबकि शायद ही कोई ऐसा होगा जो क्षयोपशम भाव वाला होगा। उसे जैसा बोलता है वैसा ही दिखाई देता है। 'दादा शरणम् गच्छामि' बोले, तो दादा दिखाई देते हैं; शरण ली है, ऐसा दिखाई देता है। बोलते ही चित्तवृत्ति उस अनुसार दिखाती है। बोलते ही उस रूप हो जाता है। 'शुद्धात्मा हूँ' बोले तो बोलते ही क्षायक भाव वाले को अंदर वैसा ही दिखाई देता है।

क्षायक भाव का फल सहज परिणामी *पुद्गल* है और सहज परिणामी आत्मा है, अर्थात् दोनों पारिणामिक भाव में आ जाते हैं।

शुद्धात्मा के पारिणामिक भाव, वही ज्ञाता-द्रष्टा है।

जितनी फाइलों का *निकाल* हो जाता है उतना पारिणामिक भाव उत्पन्न होता है। (जड़ और चेतन) दोनों के भाव पारिणामिक भाव हो गए कि केवलज्ञान।

व्यवस्थित शक्ति पारिणामिक भाव नहीं है, वह तो साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स का परिणाम है।

परम पूज्य दादाश्री की दशा और भगवान महावीर की पारिणामिक सत्ता में अंतर नहीं है, सिर्फ केवलज्ञान में अंतर है। भगवान को सर्वांश केवलज्ञान था जबकि दादाश्री के केवलज्ञान में चार डिग्री की कमी थी।

[8.6] स्वसमय-स्वपद

अज्ञानता में खुद ऐसा मानता है कि, 'मैं चंदूलाल हूँ', तो वह

निरंतर परसमय में ही है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ', भान होने के बाद फिर स्वसमय में है।

ज्ञानी पुरुष की आज्ञा में संपूर्ण रूप से रहे, खुद के स्वरूप में ही रहे, परक्षेत्र में नहीं जाए तो वह स्वसमय में ही रहता है।

स्वसमय वाला 'स्व' के अलावा मन की या देह की पराई झंझट में नहीं पड़ता कि यह देह बीमार है या स्वस्थ है।

'मैं चंदू' तो अपद है, वह मरण पद है। अपद वाला भक्ति करे तो वह भक्त है और 'मैं शुद्धात्मा' तो स्वपद है। जो स्वपद में बैठकर स्व की भक्ति करता है वह भगवान है। स्वपद, अमर पद है।

अनंत जन्मों से अहंकार पद में ही था, दादा भगवान की कृपा से खुद स्वपद में आ गया।

जब तक अपद में है तब तक अस्वस्थ है क्योंकि परक्षेत्र में है, पर का स्वामी है। स्वपद प्राप्त हो जाए तो स्वस्थ हो सकता है।

सभी परेशानियाँ स्वपद में से हटने की वजह से हैं। अतः खुद को स्वपद में फिट करते रहो, यही पुरुषार्थ है। हटते ही तुरंत वापस खुद के पद में आ जाना है।

[9] स्वरमणता-पररमणता

जिसे जिसकी याद आती है, उसी में उसकी रमणता है। चाय, पकौड़े, जलेबी याद आते रहें तो उसी में उसकी खुद की रमणता है। वह अहंकार की रमणता है।

व्यवहार आत्मा या तो संसार में रमणता करता है या फिर मूल आत्मा में। एट ए टाइम एक ही जगह पर रहता है।

जिनमें रमणता की उसी का ध्यान उत्पन्न होता है। ध्यान के बाद जब ध्येय रूप हो जाता है तब फिर रूपक में आता है।

'मैं शुद्धात्मा हूँ', वह स्वरूप और खुद के गुणधर्म वह स्वभाव, उसमें रहना, वह स्वरमणता है।

संसार में ऐसा कर दूँ, वैसा कर दूँ, व्यापार में ऐसे फायदा हो गया, ऐसे नुकसान हुआ, इतना कमाया, इतना नुकसान उठाया, मुझे सुबह बैड टी के बिना नहीं चलता, इस तरह पूरे दिन खुद पररमणता में ही रहता है।

जो अवस्था उत्पन्न होती है उसी में तन्मयाकार, उसी में रमणता। स्वरूप में तन्मयाकार रहे तो मोक्ष हो जाए।

पुद्गल रमणता का कड़वा-मीठा फल भुगतना पड़ता है जबकि खुद की रमणता में बेहिसाब सुख है।

अनादि से अभ्यास यही है। या तो देह की रमणता, या फिर बाज़ार की रमणता, वर्ना फिर शास्त्र-स्वाध्याय, वह भी *पुद्गल* की ही रमणता है, आत्मरमणता नहीं है।

आत्मरमणता के बिना जो कुछ भी किया जाता है उसे मोह कहा जाता है। एक मोह को छोड़कर दूसरे मोह में रमणता रहती है। जितने साधन मार्ग पर हैं वे सारी *पुद्गल* रमणता हैं। उसका फल संसार है।

ज्ञानी पुरुष के अलावा कोई भी आत्मरमणता में नहीं ला सकता।

पुद्गल रमणता को खिलौना कहा जाएगा। जो खो जाए तो द्वेष होता है और मिले तो राग होता है।

ज्ञानी पुरुष अविनाशी वस्तु में रमणता करते हैं जबकि जगत् के लोग विनाशी फेज़ेज़ (अवस्थाओं) में रमणता करते हैं।

आत्मा का स्वाद नहीं चख लेता तब तक आत्मा की रमणता नहीं हो सकती, तब तक प्रकृति को ही रचता रहता है।

आत्मा का सुख चखने के बाद संसार की आसक्ति फीकी हो जाती है और आत्मरमणता में आता है।

परिग्रह चाहे कितने भी हों लेकिन यदि खुद आत्मरमणता में रहे तो मोक्ष ही है।

जब तक देह है तब तक खुद जितना आत्मरमणता में रहा उतने

समय तक अद्वैत, और संसारी कार्य में घुसना पड़े, वह द्वैत। मोक्ष में जाने के बाद द्वैताद्वैत है ही नहीं, वहाँ विशेषण ही नहीं है।

भेदविज्ञानी की कृपा से आत्मा प्राप्त हो जाता है। उसके बाद आत्मरमणता उत्पन्न होती है वैसे खुद उसी रूप होता जाता है। फिर अनंत जन्मों की अवस्थाओं की रमणता का अंत आ जाता है। फिर निरंतर आत्मरमणता रहती है।

स्वरूप की रमणता में आ जाने के बाद फिर राग-द्वेष मिट जाते हैं और वीतराग हो जाता है।

स्वरमणता प्राप्त होने के बाद उसके प्रोटेक्शन के लिए पाँच आज्ञाएँ हैं। जैसे-जैसे पाँच आज्ञाओं का पालन करेगा वैसे-वैसे आत्मरमणता बढ़ती जाएगी और *पुद्गल* रमणता बंद होती जाएगी। जो *पुद्गल* रमणता से मुक्त है वह निरंतर मुक्त कहलाता है।

जगत् के सत्य में रमणता, वह अशुद्ध चित्त है और निरपेक्ष सत्य में रमणता, वह शुद्ध चित्त है और वही शुद्धात्मा है।

जगत् के अनंत परमाणुओं में से जब चित्त आत्मस्वरूप में आएगा तब इस संसार में से हल आएगा।

खुद के आत्मस्वरूप की भक्ति ही स्वरमणता है। उसके बाद अन्य अवलंबन छूट जाते हैं।

ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ हो और दादाश्री की कीर्तन भक्ति हो तो वह पररमणता में आती है। ज्ञान के बाद में वह कीर्तन भक्ति स्वरमणता में आती है लेकिन वह साठ प्रतिशत फल देती है। ज्ञान के बाद स्व का *लक्ष* रहे, वह स्वरमणता होती है, जो कि पूर्ण फल देती है।

चंदूभाई जो भी करते हैं उस प्रकृति को देखना, वह स्वरमणता है।

ज्ञान से पहले वकील की रमणता दिन भर वकालत में, कानून में रहती है। ज्ञान के बाद पूरे दिन आत्मा में ही रमणता शुरू हो गई।

चंदूभाई जो भी करते हैं, उसके ज्ञाता-द्रष्टा रहे, वह आत्मरमणता है।

मैं 'चंदू', वह अहंकार संसार रमणता कर रहा था। मैं 'शुद्धात्मा' हुआ, तब वही 'मैं' आत्मरमणता करता है। फिर वह मूल आत्मा में विलीन हो जाता है।

पूरा जगत् *पुद्गल* खाने, *पुद्गल* पीने और *पुद्गल* रमणता में ही है। खाना-पीना लिमिटेड है जबकि रमणता अन्लिमिटेड है। ज्ञान के बाद खुद शुद्धात्मा हो गया, उसका भोजन भी आत्मा का, पीना भी आत्मा का, रमणता भी आत्मा में।

शुद्धात्मा का ध्यान रहे, शुद्धात्मा की आराधना हो, वही शुद्धात्मा की रमणता है। शुद्ध उपयोग आत्मरमणता कहलाता है। इन पाँच आज्ञाओं का पालन करना भी आत्मरमणता ही है।

अज्ञान में से अब आत्मप्रतीति हुई है, आत्मज्ञान हो रहा है। फिर आत्मलीनता आएगी। आत्मलीनता ही अनुभव दशा है, वही आत्मरमणता है।

शुद्धात्मा पद की प्राप्ति के बाद दो प्रकार की रमणता रहती है : (1) जो पसंद न हो, ऐसी रमणता करनी पड़ती है, वह पहले हस्ताक्षर हो चुके हैं इसलिए। इस तरह चंदू जो कुछ भी करता है उसे ज्ञेय के रूप में जाने तो वह एक प्रकार की स्वरमणता है और (2) स्वरूप की रमणता।

अक्रम विज्ञान में महात्माओं को प्रमाद नहीं रहता। प्रमाद तो अहंकार है तभी तक रहता है। 'पर' में वृत्ति रखना प्रमाद है, वही पररमणता है।

स्वरमणता पूर्ण होने में ज़रा सा बाकी हो तब अप्रमत्त कहलाता है। प्रमत्त अर्थात् प्रमाद नहीं लेकिन क्रोध-मान-माया-लोभ में रहना वह, और कषाय से बाहर निकलना अप्रमत्त है।

जलेबी खाने के बाद चाय में इन्टरेस्ट नहीं रहता वैसे ही ज्ञान के बाद पौद्गलिक रमणता अपने आप ही चली जाती है। व्यसन चला गया तो हमें कहना चाहिए कि व्यसन से हमारा संबंध हमेशा के लिए बंद तो फिर वे परमाणु अंदर नहीं घुसेंगे।

'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा घंटे-दो घंटे बोलने से आत्मरमणता होती है। कुछ लोग 'मैं शुद्धात्मा हूँ' कागज़ में लिखते हैं तो देह-वाणी-मन से स्वरमणता होती है। कुछ लोग यदि शुद्धात्मा के गुणों की *भजना* करते हैं तो वह सिद्ध स्तुति कहलाती है। वह बहुत फल देती है, वह सचमुच की रमणता कहलाती है।

'चंदू क्या करता है', ऐसा हर प्रकार से देखना-जानना, सूक्ष्म से सूक्ष्म बात की गहराई में उतरकर, वह आत्मरमणता है। जबकि आत्म गुणों की *भजना* खुद का निश्चयबल, जागृति और आत्मा की दृढ़ता बढ़ाने के लिए है। जिससे खुद की (अनुभूति की) पूर्णाहुति होती है। वह पूर्णाहुति होने के बाद में पौद्गलिक क्रिया को देखना-जानना आ सके, ऐसा है।

गर्मी से बहुत अकुलाहट हुई हो और ठंडी हवा आए तो चैन मिलता है। वह *पुद्गल* सुख चखा तो आत्मरमणता चूक गया।

भगवान महावीर का जो *पुद्गल* था उसमें वे निरंतर यही देखते रहते थे कि अंदर क्या हो रहा है। उस *पुद्गल* को देखना-जानना ही आत्मरमणता है। उसके बाद में केवलज्ञान उपजा था।

महात्माओं को अंत में चंदूभाई (फाइल नंबर-1) के मन-बुद्धि चित्त व अहंकार क्या कर रहे हैं, उस एक *पुद्गल* को देख पाएँ, इसमें आना है। उसे देखने का अभ्यास करो। भूल जाए तो फिर से देखना शुरू करो। यह समझकर रखना है कि अंत में खुद के एक *पुद्गल* को देखना है।

एक ही भाव, ज्ञाता-द्रष्टा में रहने का। ज्ञायक स्वभाव ही स्वरमणता है।

बाहर देखना पड़ता है लेकिन यदि वह अटैचमेन्ट (चोंट) के बिना हो तो देखना-जानना कहा जाएगा और अटैचमेन्ट सहित हो तो उसे इन्द्रिय ज्ञान कहा जाएगा। ज्ञान लेने के बाद में अटैचमेन्ट नहीं रहता फिर भी यदि कहीं तन्मयाकार हो गए तो वह कोई ग्रंथि है। वह ग्रंथि छूटनी चाहिए, तभी निर्ग्रंथ हो सकेंगे। उसके बाद स्वरमणता, निज मस्ती उत्पन्न होगी।

विकल्प और विकल्पी को देखेगा तो खुद अलग रह पाएगा। प्रकृति को देखना ही स्वरमणता है।

ज्ञाता-द्रष्टा में रहना और उस पद में रमणता होना, यह यथाख्यात चारित्र है। फिर बाद में केवल चारित्र बाकी रहेगा।

खुद की पूर्ण दशा होने तक स्वरमणता रहती है उसके बाद रमणता नहीं रही। खुद जो है, खुद उसी मूल स्वरूप हो गया न!

[10] स्वक्षेत्र-क्षेत्रज्ञ

[10.1] स्वक्षेत्र-परक्षेत्र

ये मन-वचन-काया, संसार वगैरह सब परक्षेत्र हैं। आत्मा से बाहर रहना परक्षेत्र है और आत्मा में आ गया तो वह स्वक्षेत्र। दोनों के क्षेत्र अलग-अलग हैं।

'मैं चंदूभाई हूँ', ऐसा बोले तो वह परक्षेत्र कहलाएगा और 'मैं शुद्धात्मा हूँ', यह स्वक्षेत्र में है। स्वक्षेत्र का अस्तित्व अविनाशी है और परक्षेत्र का अस्तित्व विनाशी है।

खुद परक्षेत्र में चला जाए तो परेशानी ही होती है। परक्षेत्र में प्रतिक्षण दु:ख, निरंतर भय और स्वक्षेत्र में निर्भय समाधि है।

अनंत जन्मों से इन चार भूलों से भटकन हुई है।

1. परक्षेत्र में बैठा है, और फिर क्षेत्राकार हो गया है।

2. पराई चीज़ों का स्वामी बन बैठा है जो कि हमेशा के लिए खुद के साथ नहीं रहती।

3. पराई सत्ता को खुद की सत्ता मानता है। 'मैं ही सब कर रहा हूँ', ऐसा मानता है।

4. पराई चीज़ों का भोक्ता बन बैठा है।

स्व को, स्वक्षेत्र को, स्वसत्ता को जानते ही नहीं हैं। परसत्ता, परक्षेत्र, परभोक्ता, पर के स्वामी होने से मरण है, जबकि स्व के स्वामी का मरण ही नहीं है। वह खुद की जगह में आ जाए तो खुद ही परमात्मा है।

अज्ञान दशा में 'मैं' परक्षेत्र में, परसत्ता में था, ज्ञान के बाद वह स्वक्षेत्र में, स्वसत्ता में आ गया। अतः पुरुषार्थ और पराक्रम की शुरुआत होती है।

स्वक्षेत्र में आने के बाद परक्षेत्र में दखल नहीं होना चाहिए। चंदूभाई के मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार क्या करते हैं, खुद उसे देखने वाला बन गया।

खुद स्वक्षेत्र में आत्मस्वरूप हो गया है, फिर यदि परक्षेत्र में चला जाए तो संसार कड़वा ज़हर जैसा लगता है।

अज्ञानता में *पुद्गल* को 'मैं हूँ' मानता है, वह परद्रव्य कहलाता है। *पुद्गल* के क्षेत्र को, परक्षेत्र को मेरा क्षेत्र है, ऐसा मानता है। परभाव अर्थात् विभाव, विशेष भाव को खुद 'मैं हूँ' मानता है और उम्र, जन्म, मृत्यु, वह पर-काल है, यह सब पराया है। स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वभाव-स्वकाल में आ जाए तो खुद की मुक्ति हो जाएगी।

स्वकाल सनातन है, मृत्यु ही नहीं आती। स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है।

स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वभाव-स्वकाल, इन चार भावों से खुद शुद्धात्मा ही हैं।

जब तक परभाव है तब तक परक्षेत्र है। परभाव का क्षय होने के बाद कुछ समय तक स्वक्षेत्र में रहकर खुद हमेशा के लिए सिद्धक्षेत्र में स्थित हो जाता है।

[10.2] क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ

शरीर का विनाशी भाग क्षेत्र है, अविनाशी भाग क्षेत्रज्ञ है। वह खुद ही ज्ञाता है, भगवान है।

खुद के क्षेत्र में हो तो क्षेत्रज्ञ है और परक्षेत्र में, 'मैं चंदू हूँ', तो वह इगोइज़म है।

गीता में श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है, 'सभी क्षेत्र को जानने वाला जो क्षेत्रज्ञ है वह मैं हूँ। यानी कि आत्मा क्षेत्रज्ञ है और वह मैं

ही हूँ और यह जो प्रकृति है वह परक्षेत्र है, मन-वचन-काया परक्षेत्र हैं।'

खुद क्षेत्रज्ञ पुरुष है लेकिन परक्षेत्र में बैठा है इसलिए क्षेत्राकार हो गया। क्षेत्राकार में मरण है।

चेतन क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्रज्ञ के अलावा वह खुद अन्य किसी भी जगह पर नहीं है। वह क्षेत्र में नहीं हो सकता। खुद क्षेत्र को देखता और जानता है, कभी भी क्षेत्ररूप नहीं हो जाता।

खुद क्षेत्रज्ञ है, पूरे ब्रह्मांड का *ऊपरी,* वही आज अज्ञानता से क्षेत्राकार होकर भिखारी की तरह भटक रहा है। यह भी अंत में दग़ा निकलेगा।

एक बार स्वक्षेत्र का स्पर्श हो गया, उसके बाद कोई उसका वियोग नहीं करवा सकता। ज्ञान मिलने के बाद वह स्पर्श हो जाता है।

स्व और पर का बटवारा करने के बाद तो जैसे यह भाग प्रकृति का, यह भाग खुद का। क्षेत्रज्ञ को जानना है कि परक्षेत्र में क्या हो रहा है। आँख चली जाए तो क्षेत्र जानता है या क्षेत्रज्ञ? क्षेत्रज्ञ जानता है।

द्रव्य-भाव-क्षेत्र-काल से अप्रतिबद्ध रहें, वे ज्ञानी पुरुष, वे क्षेत्रज्ञ।

[11] अच्युत

जो आकर चला जाता है, स्थान छोड़कर हट जाता है, वह च्युत कहलाता है। संसार के सभी जंजाल, नफा-नुकसान-संपत्ति च्युत कहलाते हैं। खुद का आत्मा अच्युत है। एक बार खुद उस रूप हो जाए, उसके बाद वह नहीं जाता।

पूरा रिलेटिव च्युत स्वभाव वाला है। हम पकड़े रखें तब भी चला जाएगा। संसार के सभी संबंध बनकर फिर छूट जाते हैं। वे च्युत हो जाते हैं। जबकि आत्मा एक बार मिलने के बाद में फिर किसी भी संयोग में खुद से कभी भी दूर नहीं होता, ऐसा है। अत: आत्मा की सीट पर बैठना। वह अच्युत स्वभाव वाला है।

ये *पुद्गल* मात्र, दाँत, बाल, मन-वचन-काया, प्रकृति सबकुछ च्युत होते रहते हैं। आत्मा को कुछ भी नहीं होता, ऐसा अच्युत है।

[12] अव्यय-अक्षय

जिसका नाश होना है, वह क्षय है जबकि आत्मा अक्षय है।

व्यय अर्थात् खर्च होने पर कम हो जाता है जबकि आत्मा कभी भी कम नहीं होता, घटता नहीं, बढ़ता नहीं, ऐसा अव्यय है।

इतने जन्मों से खुद भटक रहा है, मर गया, जल गया, कुत्ते की योनि में गया, फिर भी आत्मा का व्यय नहीं हुआ।

रुपयों का व्यय होता है, उसी तरह शरीर का, मन-वाणी का भी निरंतर व्यय होता ही रहता है। मरते समय सब खत्म हो जाता है।

संसार की सर्व संपत्ति का, संबंधों का व्यय होना है। मैं अव्यय हूँ, मुझ में से कुछ भी व्यय नहीं हो सकता।

[13] अजन्म-अमर-नित्य

[13.1] अजन्म

आत्मा स्वभाव से ही अजन्मा है। खुद अजन्मा ही है लेकिन यदि खुद आत्मा रूप हो जाए तो अजन्मा है और यदि खुद चंदूलाल हो जाए तो मरना है।

छः अविनाशी द्रव्य अजन्मा हैं इस दुनिया में। पाँच इन्द्रियों से जितना अनुभव में आता है, उन सब का जन्म हुआ है।

कृष्ण भगवान का शरीर अजन्मा नहीं था लेकिन अंदर आत्मा अजन्मा। वे खुद आत्मस्वरूप हो गए थे इसलिए अजन्मा कहे गए।

दोनों के एक ही स्थान में होने के बावजूद भी हम खुद अविनाशी हैं और चंदूभाई विनाशी है। हर एक बीज में, बीज में विनाशी भी है और अविनाशी भी है। बीज से बाहर जो अविनाशी है, वह पूरे ब्रह्मांड से निवृत्त होकर सिद्ध दशा में रहता है।

अनंत जन्मों से शरीर का जन्म होता है, मृत्यु होती है लेकिन आत्मा वही का वही रहता है। ऐसा नहीं कहते कि उसका जन्म हुआ। वह खुद अजन्मा स्वभाव वाला है।

आत्मा तो मूल रूप से शुद्ध ही है। उसका जन्म-अजन्म कुछ भी नहीं है। जो ऐसा मानता है, 'मेरा जन्म हुआ', वह मरता है और पुनर्जन्म लेता है।

मूल तत्त्व अजर है, अवस्थाएँ जर हैं।

ज्ञानी मिले, उनसे ज्ञान प्राप्त करे तो अजन्मा स्वभाव प्रकट हो जाता है। फिर अमर पद प्राप्त होता है।

[13.2] अमर

अपना खुद का स्वरूप आत्मा है, जो अजर-अमर-अखंड-परमानंदी-अविनाशी है।

देह-मन-बुद्धि-अहंकार और यह देहाध्यास सब प्राण के आधार पर जीते हैं। आत्मा का स्वभाव ही अमर है।

यदि खुद मरने वाला है तो वह रिलेटिव में है और खुद को विश्वास हो गया कि शरीर मरेगा लेकिन 'मैं अमर हूँ', तो खुद रियल में है। 'आत्मा हूँ', ऐसा भान रहे तो वह अमर ही है।

शरीर किसी का भी अमर नहीं हो सकता। शरीर में खुद अमर पद के भान वाला हो जाता है। आत्मा अमर है।

बम गिरने लगे तो अंदर मन कांप उठता है। उस समय कहना, 'चंदूभाई, जिसकी आयु है उसे मरना है। मेरी आयु ही नहीं है, मैं तो अमर हूँ।' जब बम गिरने लगे तब, 'मैं तो अमर हूँ', ऐसी जागृति रही तो मरने का भय नहीं रहेगा।

खुद के अमर पद को जान लिया तो कल्याण हो गया।

[13.3] नित्य

आत्मा उसे कहते हैं जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, जिसका विनाश नहीं होता। वह परमानेन्ट वस्तु है, अविनाशी है, नित्य है।

नित्य वस्तु किसे कहते हैं? जो अन्य वस्तुओं से न बना हो, स्वाभाविक हो।

आत्मा और अन्य पाँच तत्त्व नित्य हैं। एक-दूसरे को हेल्प या नुकसान नहीं करते, सब साथ में रहते हैं फिर भी एक-दूसरे में मिल नहीं जाते, स्वभाव से शुद्ध ही हैं। सिर्फ आमने-सामने तत्त्वों के परिवर्तित होने से अवस्थाएँ बदलती हैं। लोग अवस्था को देखते हैं और अवस्था को नित्य मान लेते हैं, उसे लेकर दु:खी होते हैं।

देखने वाला खुद अविनाशी है, नित्य है, इसीलिए अनित्य को देख सकता है।

कृपालुदेव ने आत्मसिद्धि में लिखा है कि

जे जे संयोग देखीए, ते ते अनुभव दृश्य
उपजे नहीं संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष।

(जो भी संयोग दिखाई देते हैं वे अनुभव दृश्य हैं। जिसकी उत्पत्ति संयोगों से नहीं होती, वह आत्मा नित्य व प्रत्यक्ष है।)

ये जितने भी दिखाई देते हैं, 'ये चाचा हैं, मामा हैं, स्त्री है, कुत्ता है', ये सब संयोग अनुभव में आते हैं लेकिन जब तक संयोग हैं तब तक आत्मा प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। दादाश्री कहते हैं, 'हमारे पास वे (बहिर्भाव रूपी) संयोग नहीं हैं इसलिए हमारा आत्मा नित्य प्रत्यक्ष रहता है।'

'उपजे नहीं संयोग से' अर्थात् कढ़ी बनी तो वह छाछ, मिर्ची, नमक, मसाले सभी के संयोगों का सम्मिलित स्वरूप कहलाता है जबकि आत्मा इस प्रकार से संयोगों के इकट्ठे होने से नहीं बना है। वह शाश्वत वस्तु है।

जो संयोगी है वह तो वियोगी हो ही जाता है। आत्मा तो स्वाभाविक व नित्य है।

संयोगों से बनी हुई चीज़ का जब वियोग होता है तब बिखर जाती है, नष्ट हो जाती है। आत्मा नित्य है, उसे किसी को बनाना नहीं पड़ा है।

आत्मा द्रव्य से नित्य है, गुणों से नित्य है लेकिन उसके पर्याय अनित्य हैं। गुण जब कार्यकारी होते हैं तब पर्याय कहलाते हैं।

मूल आत्मा की स्थिति नित्य है, उसका स्वरूप परमात्मा है। उसका किसी भी तरह का ध्येय नहीं ऐसा शुद्धात्मा है।

नित्य अर्थात् सनातन, शाश्वत, परमानेन्ट।

'यह टेम्परेरी है', कहने वाला टेम्परेरी नहीं हो सकता, परमानेन्ट ही होता है। खुद हमेशा के लिए है इसलिए 'यह टेम्परेरी है', ऐसा कह सकता है।

जब तक देहाध्यास है, देह विनाशी है उसको 'मैं हूँ' मानता है तब तक खुद को विनाशी होना पड़ता है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ, अविनाशी हूँ, नित्य हूँ', ऐसा भान हुआ तो फिर अविनाशी है। फिर भय खत्म हो जाता है।

दादाश्री कहते हैं, 'नित्य हूँ', ऐसा अनुभव तो हमें कितने ही काल से है। 'यह देह ही नहीं हूँ मैं, नाम भी नहीं हूँ', ऐसा हमें लगता है। वास्तव में नित्य तो छोटी बात है, हम खुद ऐसी जगह पर हैं कि जिस आत्मा को जगत् ने कभी जाना ही नहीं ऐसे निरालंब आत्मा में पहुँच गए हैं। निरालंब को मारो-गालियाँ दो तब भी कुछ नहीं होता।

पुनर्जन्म आत्मा का नित्यपना सूचित करता है।

नित्य स्वरूप अर्थात् जिसे क्षण भर के लिए भी मरने का डर नहीं लगता। यह देह अभी ले ले तो भी खुद को कोई आपत्ति नहीं। खुद इस देह में रहते ही नहीं हैं।

[14] आत्मा थर्मामीटर जैसा

हर एक में आत्मा थर्मामीटर जैसा है। बिस्तर में सोते-सोते पता चलता है कि बुखार बढ़ा, कम हुआ, उतर गया। यह आत्मा हर तरह की खबर देता है।

जिस प्रकार थर्मामीटर बताता है कि कितनी डिग्री का बुखार हुआ है लेकिन थर्मामीटर को कभी भी बुखार नहीं चढ़ता। थर्मामीटर के मालिक, डॉक्टर को बुखार चढ़ जाता है कभी।

अनपढ़ स्त्री भी समझती है कि यह खुद से भूल हो गई, क्योंकि उसके पास आत्मा है।

उल्टे रास्ते चलने लगे तो तुरंत सब पता चल जाता है, क्योंकि अंदर थर्मामीटर जैसा आत्मा है।

अंदर निष्पक्षपाती रूप से जाँच करे तो सब पता चलेगा कि खुद कहाँ जन्म लेगा, लेकिन पक्षपात है इसलिए पता नहीं चलता। जिस प्रकार संडास जाना हो तो अंदर तुरंत पता चल जाता है। लेकिन पक्षपात अर्थात् क्या कि कोई व्यापारी आए तो उसकी बात में इन्टरेस्ट आ जाता है तब फिर अंदर थर्मामीटर यह दिखाना बंद कर देता है कि संडास जाना है।

अँधेरे में, मुँह में श्रीखंड रखे तो पूरा वर्णन कर देता है कि इसमें दही खट्टा है, इलाइची है, चिरोंजी है, किशमिश है। क्योंकि खुद के अंदर आत्मा हाज़िर है इसलिए उसके प्रकाश में सब पता चलता है।

खुद की भूलें क्यों नहीं दिखाई देती? इसके लिए आत्मज्ञान की ज़रूरत है। अज्ञानता में वह जो क्रिया करता है उसमें उसे कभी भी खुद की भूल नहीं दिखाई देती। ज्ञानी पुरुष द्वारा दिया जाने वाला आत्मा प्राप्त हो जाए तो वह आत्मा थर्मामीटर जैसा है जो खुद की भूलें दिखाता है।

ज्ञान के बाद अंदर का थर्मामीटर सारी भूलें बताता है वह प्रज्ञाशक्ति है।

दाढ़ दु:खती है तब खुद वास्तव में जानकार है कि कम दु:ख रही है, ज़्यादा दु:ख रही है, अब अच्छा है लेकिन यदि कहे कि, 'मुझे दु:ख रहा है' तो फिर वेदना भुगतता है, वर्ना खुद जानकार है, ज्ञायक है।

अक्रम विज्ञान क्या कहता है कि वेदन करने वाला चंदू अलग है और जानने वाला खुद अलग है।

जल गया, वेदना कम-ज़्यादा हुई, दु:ख बढ़ा, दु:ख कम हुआ, खुद को सब तुरंत पता चल जाता है। लेकिन मुझे दु:ख रहा है ऐसा माने तो वह रोंग बिलीफ है, और कम-ज़्यादा होता है वह *पुद्गल* को होता है, आत्मा तो उसका जानकार ही है। यदि खुद आत्मा रूप रहे तो कुछ

भी स्पर्श नहीं करेगा। बाकी, आत्मा थर्मामीटर है, खुद थर्मामीटर हो गया फिर क्या रहा? फिर सारी हकीकत को जानता है।

अंतरात्मा को 'खुद शुद्धात्मा हूँ', ऐसा अध्यास करना है और फाइलों का समभाव से *निकाल* करना है।

[15] निर्विकारी-अनासक्त

[15.1] विकारी-निर्विकारी

आत्मा का मूल गुण निर्विकारी है लेकिन 'खुद' चिंतवन करे कि मैं विकारी हूँ तो विकारी बन जाता है। मूल गुण नहीं जाता, चिंतवन किए हुए गुण का नाश हो जाता है।

ऐसे संयोग मिलें तो विकारी हो जाता है और दूसरी तरफ के संयोग मिलें तो निर्विकारी भी हो जाता है।

अहंकार है तो विकारी हो जाता है और वापस निर्विकारी भी हो जाता है। 'मैं' कहाँ पर बरतता है, उसी अनुसार विकारी-निर्विकारीपना रहता है। बाकी, मूल आत्मा तो निर्विकारी-अनासक्त और अकामी ही है।

आत्मा की उपस्थिति में अहंकार विकारी कर देता है। वह परमाणुओं का विकारी स्वरूप है, उसे *पुद्गल* कहा जाता है।

विकार का आध्यात्मिक अर्थ विशेष भाव है, विभाव। पानी अपने आप नीचे जाए तो उसे निर्विकार, स्वभाव कहा जाता है लेकिन यदि उसे एक फुट ऊपर चढ़ाया जाए तो वह विकार हो गया, उसे विभाव कहा जाता है।

संसार में शुभ को निर्विकार कहते हैं और अशुभ को विकार कहते हैं। यदि मोक्ष में जाना है तो शुभाशुभ दोनों ही विकार हैं।

संसार अर्थात् पाँच इन्द्रियों के विषयों का विकार और मोक्ष अर्थात् निर्विकार। विकार से निर्विकार दशा तक जाने के लिए आत्मज्ञान ज़रूरी है।

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव प्रतिबद्ध नहीं करते, स्वरूप की अज्ञानता प्रतिबद्ध करती है।

आत्मदृष्टि हो जाए तो विकारों में भी खुद निर्विकारी रह सकता है।

[15.2] अनासक्त-अकामी

खुद को अनासक्त होना है क्योंकि खुद मूल स्वभाव से अनासक्त ही है। लेकिन यह तो खुद का भान खो दिया है। भान में आ जाए तो खुद अनासक्त, अकामी व क्रोध-मान-माया-लोभ रहित ही है।

इस ज्ञान के बाद जो आज्ञा में रहता है वह खुद अनासक्त ही है। आज्ञा अनासक्त का ही प्रोटेक्शन है।

आत्मा स्वभाव से अनासक्त ही है। देह में रहे तो आसक्ति है और देह से अलग रहे तो अनासक्त है।

जिसे आसक्ति है वह चंदूभाई है, खुद नहीं है। खुद तो शुद्धात्मा हो गया है।

दादाश्री कहते हैं, 'मैंने आपको अनासक्ति नहीं दी, आपका स्वभाव ही अनासक्त है। आपका है और आपको भान करवाया है।'

जिसमें पहले आसक्त थे वहीं अनासक्त हो गए। ऐसे करते-करते प्रत्येक अवस्था में अनासक्त योग, वही पूर्ण समाधि है।

[16] निर्विशेष

आत्मा निर्विशेष है, क्योंकि ऐसी कोई चीज़ ही नहीं है जिससे उसकी तुलना की जा सके। अतः आत्मा पर विशेषण लागू नहीं होता, फिर भी उसके अनंत गुणधर्म हैं।

जितने भी विशेषण हैं वे व्यवहार आत्मा के हैं, मूल आत्मा तो निर्विशेष है।

कितने भी विशेषण दो लेकिन विशेषणों का स्वभाव है कि वे कभी न कभी खत्म हो जाते हैं, तो फिर खुद का क्या रहा? ये विशेषण तो मूल वस्तु तक पहुँचने के लिए हैं। वहाँ पहुँचने के बाद वे भी नहीं रहते। आत्मा तो परमात्मा ही है।

वहाँ शून्यवाद भी नहीं है, शब्द भी नहीं हैं। शब्द हैं तब तक कल्पना है। विकल्प भी कल्पना है, निर्विकल्प भी कल्पना है। मूल आत्मा तो शब्दातीत है, वहाँ तक कुछ भी नहीं पहुँच सकता। यह तो पहचानने के लिए आरोपण किया है कि यह क्या है और बाकी सब क्या हैं, विभाग करने के लिए।

जब तक मूल आत्मा में नहीं आ जाता तब तक ज्ञाता-द्रष्टा-परमानंदी है, उपयोगमय है, ऐसा सब बोलना है, वर्ना उल्टे रास्ते चले जाएँगे।

आत्मा शुद्ध है, अशुद्ध है, विशुद्ध है, ऐसा सब संयोग के अनुसार कहा जाता है। बाकी, आत्मा वैसे का वैसा ही है, उसमें कोई चेन्ज नहीं है। आत्मा निर्विशेष है, मूल तत्त्व के रूप में भगवान ही है।

सोने की थाली में खाना खाकर उठो तो कहते हैं, 'यह थाली जूठी है' लेकिन खाने से पहले, जब तक भोजन नहीं परोसा हो तब तक उसे, 'शुद्ध है', ऐसा कहा जाएगा। बाकी थाली वही की वही है। संयोग के अनुसार शुद्ध-अशुद्ध दिखाई देता है। आत्मा वही का वही है लेकिन संयोग अलग होने के कारण अशुद्धि दिखाई देती है। अशुद्धि चली जाए तो शुद्ध ही है। आत्मा मैला भी नहीं होता, हुआ भी नहीं है, मात्र भ्रामक मान्यताएँ मैली होती हैं।

आत्मा को यदि पूरा जान लिया जाए, उसका पूरा अनुभव हो जाए तो वह खुद ही भगवान है।

[17] अवक्तव्य : अनुभवगम्य

[17.1] अवक्तव्य

भगवान शक्ति रूपी भी हैं और व्यक्ति रूपी भी हैं लेकिन जो व्यक्ति के तौर पर पूजता है उसे ज़्यादा लाभ मिलता है। व्यक्ति रूपी अर्थात् जिनमें भगवान व्यक्त हुए हैं, उनमें। सिर्फ मनुष्य में ही भगवान व्यक्त हो सकते हैं।

आत्मा ही परमात्मा है लेकिन वह व्यक्त हो जाना चाहिए।

शास्त्रों में आत्मा का वर्णन पच्चीस-तीस परसेन्ट जितना ही हो

सकता है क्योंकि आत्मा सूक्ष्मतम है। तीस परसेन्ट वर्णन से पूरी वस्तु को जानना हो तो नहीं जाना जा सकता है। इसलिए वेदांत ने कहा है, 'नेति-नेति'। शास्त्रों द्वारा आत्मा प्राप्त नहीं होगा इसलिए ज्ञानी के पास जा।

वेदांत कहते हैं, इस देह में हम पृथक्करण करते-करते अभी *पुद्गल* तक पहुँचे हैं, अभी तक चेतन (हाथ में) नहीं आया है। हम चेतन ढूँढ रहे हैं लेकिन वह यह नहीं है, जड़ ही हाथ में आया है। इसलिए 'नेति-नेति' कहा है।

आत्मा ही परमात्मा है और अनुभव में आ सके, ऐसा है।

शास्त्र बताते हैं, वे आत्मा की बात कुछ अंश तक ही बता सके हैं लेकिन उससे आगे वाणी पहुँच नहीं सकती क्योंकि आत्मा अवक्तव्य है, अवर्णनीय है, निःशब्द है। शब्द रूप नहीं है, शब्दों से वर्णन हो सके ऐसा नहीं है, वाणी से बताया जा सके, ऐसा नहीं है। अतः जिन्होंने आत्मा का अनुभव किया है वैसे ज्ञानी पुरुष के पास जाओ, वे संज्ञा से समझाएँगे। दूसरा कोई भी संज्ञा नहीं कर सकता। वे भगवान की कृपा उतारते हैं तभी संज्ञा होती है, तो काम होता है।

शक्कर मीठी है लेकिन मीठी का मतलब क्या है? वह अनुभवगम्य है। उसी प्रकार आत्मा की सिमिली (उपमा) नहीं दी जा सकती, क्योंकि अवक्तव्य है, अवर्णनीय है, वह अनुभवगम्य है। कृपा के बिना अनुभव नहीं हो सकता।

जब तक आत्मा का वर्णन बुद्धिजन्य है तब तक वक्तव्य है जबकि ज्ञानजन्य अवक्तव्य है।

दादाश्री कहते हैं कि तीर्थंकरों ने जिस आत्मा का अनुभव किया हम उस रूप नहीं हुए हैं फिर भी हम उस आत्मा को देख सकते हैं, बहुत समय तक उस आत्मा में रहते हैं। इसलिए हम उस आत्मा को देखकर बता सकते हैं। पहले उस काल में देखने वाले थे वे बता सकने की दशा में नहीं थे। जबकि हम बता सकें, उस स्थिति में हैं। बाकी, जगत् ने कभी भी जिसे नहीं जाना है ये उस आत्मा की बात कर रहे हैं।

तीर्थंकर भगवंत पूरे जगत् को संदर्भ में रखकर बोले हैं, जबकि दादाश्री तो मोक्ष में जाने वालों को संदर्भ में रखकर बोले हैं।

दादाश्री कहते हैं, हमने जिस आत्मा को देखा है वह अद्‌भुत आत्मा है इसीलिए दो घंटों में दृष्टि बदल जाती है। बिल्कुल भी मेहनत किए बगैर कैसा अद्‌भुत फल उत्पन्न होता है! इसलिए कहते हैं, काम *निकाल* लो।

[17.2] अनुभवगम्य

आत्मा जानने योग्य है, जैसा महात्माओं ने जाना है वैसा है। उससे भी अधिक, जैसे ये 'दादा' हैं वैसा आत्मा है। ये दादा मूर्तिमान मोक्ष हैं, आत्मा वैसा ही है।

बाकी, आत्मा स्व-पर प्रकाशक है, अरूपी है, निराकारी है, अनुपम है, अवर्णनीय है, अवक्तव्य है, अवाच्य है, अनुभवगम्य है।

ज्ञानी पुरुष यह जान चुके होते हैं कि, 'आत्मा कैसा है', इसलिए उदारहण देकर वाणी से समझा सकते हैं फिर भी आत्मा वाणी में लाया जा सके, ऐसा है ही नहीं। सिर्फ ज्ञानी पुरुष के पास ही है, जो व्यक्त हो चुका है ऐसा आत्मा। जिन्हें स्पष्टवेदन हो चुका है ऐसे ज्ञानी पुरुष ही औरों को समझा सकते हैं। अन्य किसी के बस की बात ही नहीं है कि 'आत्मा कैसा है' वह बता सकें।

यह ज्ञान लेने के बाद दादा के प्रति, दादा द्वारा दिए गए ज्ञान के प्रति, आज्ञा के प्रति सिन्सियर रहे और पाँच आज्ञा का पालन करे तो हर रोज़ आत्मा के प्रकाश का अनुभव होगा।

खुद अपने से अलग वस्तु को देख सकता है। खुद अपने आप को कैसे देख सकेगा? आत्मा अनुभवगम्य है। उसका पद ही ज्ञाता-द्रष्टा है। इस (*पुद्‌गल*) को पूरा देखते-जानते रहने को ही कहते हैं अनुभव। धीरे-धीरे अनुभव आगे बढ़कर, खुला अनुभव, प्रकट अनुभव, अपरोक्ष अनुभव हो जाए उस प्रकार से आगे बढ़ता जाता है।

स्वरूप के भान के अलावा जो कुछ भी जानता है वह अज्ञान है।

इस ज्ञान के बाद 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ये प्रतीति-*लक्ष*-अनुभव निरंतर रहा करते हैं। अब जितना वह अनुभव बढ़ता जाएगा, उतना ही आत्मा प्रकट हुआ कहा जाएगा। जितना अनुभव प्रमाण उतना आत्मा प्रकट हुआ।

आत्मा का अनुभव अर्थात् निरंतर परमानंद स्थिति।

संसार में रहने के बावजूद आर्तध्यान-रौद्रध्यान नहीं हो, वह सब से बड़ा आत्मानुभव।

महात्माओं को जिस आत्मा का अनुभव रहता है वही मूल आत्मा है। लेकिन उस अनुभव के मूल जगह पर इकट्ठा होते-होते, जैसा मूल आत्मा है खुद उसी रूप हो जाएगा, तब तक अनुभव और अनुभवी दोनों अलग रहेंगे। उसके बाद आगे जाकर एकाकार हो जाएँगे।

आत्मा का ज्ञान संपूर्ण कहलाता है और अनुभव एक-एक अंश करके बढ़ता जाता है। अंश ज्ञान को अनुभव कहा जाता है और सर्वांश ज्ञान को ज्ञान कहा जाता है।

ज्ञानविधि के बाद महात्माओं को आत्मानुभव हो ही जाता है। जागृति से आत्मा के अन्य अनुभव बढ़ते जाते हैं।

खुद के दोष दिखाई दें, वही आत्मा।

मूल आत्मा अनुभवगम्य है। यह *पुद्गल* का पुतला खुद से अलग है। *पुद्गल* के मन-वचन-काया से खुद को लेना-देना ही नहीं है। खुद उससे बिल्कुल अलग ही है। इस ज्ञान के बाद खुद के आत्मा को देखा और जाना है। देखना अर्थात् भान होना और जानना अर्थात् अनुभव होना। अब पूरी तरह से अनुभव में आ जाए तो काम हो जाएगा।

आत्मा, बुद्धि से समझ में आ सके ऐसा नहीं है। अनुभवगम्य है, उसके अनंत गुण हैं।

अनंत भेद से (प्रकार से) आत्मा है। जितने प्रकार से यहाँ ज्ञानी पुरुष से जान लिया उतने भेद से खुद का हल आया लेकिन अभी भी और अनंत भेद से जानना बाकी है। जितना जानेंगे उतनी सरलता होगी।

इस ज्ञान के बाद खुद परदेश को परदेश और स्वदेश को स्वदेश

जान गया। अब जैसे-जैसे परदेश में निरंतर *निर्जरा* होती रहेगी वैसे-वैसे स्वदेश मुक्त होता जाएगा।

[18] सिद्ध स्तुति

हमें कर्म खपाए बगैर यह ज्ञान मिला है इसलिए कभी भरे हुए माल के फोर्स के कारण जागृति की लिंक टूट जाती है, तब दादाश्री उपाय बताते हैं कि, 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, मैं अनंत दर्शन वाला हूँ', ऐसे आत्मगुणों की आराधना करने से अंदर स्थिरता आ जाएगी। यह लिंक पौद्गलिक है। लिंक टूट गई, शुरू हुई, उसे जानने वाला ज्ञाता खुद शुद्धात्मा है।

खुद शुद्धात्मा हुआ, तो खुद के गुणों पर ममत्व करता है कि अनंत ज्ञान-अनंत दर्शन, ये सब मेरे गुण हैं।

अब, जैसे-जैसे आत्मगुणों की *भजना* होती जाएगी वैसे-वैसे वे गुण व्यक्त होकर प्रकट होते जाएँगे।

आत्मा रत्नचिंतामणि जैसा है। जैसा चिंतवन करता है खुद वैसा हो जाता है। 'अनंत दुःख का धाम हूँ', बोले तो दुःखी हो जाएगा, यदि 'अनंत सुख का धाम', बोले तो वैसा हो जाएगा। 'अनंत ज्ञान वाला हूँ', बोले तो वह ज्ञान प्रकाशमान हो जाएगा।

शुरुआत में आत्मगुणों की *भजना* आवश्यक है। उसी से यह, 'मैं शुद्धात्मा ही हूँ', ऐसी दृढ़ता आती जाती है।

कोई कहे, 'आपको मारकर टुकड़े कर दूँगा', तो वहाँ पर जागृति आ जानी चाहिए कि, 'मैं तो अव्याबाध स्वरूप हूँ', तो भय नहीं रहेगा। अतः पहले से ही गुणों का अभ्यास करके रखना है।

कोई अपमान करे तब जागृति सेट कर ले कि, 'मैं अमूर्त हूँ, जो दिखाई देता है उसका अपमान कर रहे हैं, मेरा नहीं', तो फिर दुःख नहीं रहेगा।

खुद ही परमात्मा है। खुद में अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति हैं फिर भी उपयोग नहीं करे तो दोष किसका? किस प्रकार से खुद के अनंत

गुण प्रकट करने हैं, आवरण हटाने का वह तरीका दादाश्री बताते हैं (समझाते हैं)।

'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', ये सभी वाक्य और गुण समकित होने के बाद के विकल्प हैं। जो निर्विकल्प बनाएँगे और हितकारी हैं।

कभी अंदर उठापटक हो, घुटन हो, उलझन हो, सूझ न पड़े तब अगर पच्चीस-पचास बार 'मैं अनंत दर्शन वाला हूँ', बोलोगे तो आवरण हटकर सूझ आ जाएगी।

मति भ्रमित हो, कुछ समझ न आए तब ज़ोर से, 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', बोलोगे तो वे परमाणु झड़ जाएँगे और सूझ पड़ने लगेगी।

मन में या देह में कोई वेदना आ जाए तब, 'मैं अनंत सुख का धाम हूँ', बोलोगे तो वेदना का भार महसूस नहीं होगा। निश्चय से खुद निर्वेदक है। वेदक जब वेदना भोगता है तब ऐसा बोलने से वेदकता का नाश होता है। यह तो विज्ञान है, पूरी तरह से समझकर उपयोग किया जाए तो कैश (नकद) फल मिलेगा, ऐसा है।

वास्तव में रोज़ दिन भर ये गुण बोलने चाहिए। खाली समय हो तब या फिर कोई परेशानी आए तब ये गुण बोलने चाहिए।

देह बल कम हो जाए तो, 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', ज़ोर-ज़ोर से ऐसा बोलने से शरीर में तुरंत शक्ति आ जाती है।

भयभीत होने का समय आए, लुटेरे आ जाएँ, उस समय 'मैं अव्याबाध स्वरूप हूँ', बोलने से भय निकल जाएगा।

जंगल में शेर मिल जाए तब सौ बार, 'मैं अमूर्त हूँ', बोलने से अपनी मूर्ति (शरीर) उसे दिखाई नहीं देगी, ऐसा है यह साइन्स।

एक घंटा आत्मा के गुण बोले तो उसे सब से बड़ी सिद्ध सामायिक कहा जाएगा।

दादाश्री कहते हैं कि जिस प्रकार से हम चले हैं, वही रास्ता आपको बताते हैं। हमारे कहे अनुसार चलोगे तो ग़ज़ब का फल मिलेगा।

कभी शोक, हताशा, निराशा, डिप्रेशन जैसा लगे तो, 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला शुद्धात्मा हूँ', यदि एक घंटे तक ऐसा बोलते रहे तो संतुलन आ जाएगा। सभी अंदर वालों को चुप हो जाना पड़ेगा।

यह बटन दबाओगे तो लाइट जलेगी, इस बटन से पंखा चलेगा, इस प्रकार सभी बटनों को समझ लेना चाहिए, तो इस अनुसार ज़रूरत पड़ने पर ये गुण बोले जा सकते हैं।

लोभ की गांठ फूटे, लालच के प्रसंग आएँ तो उस समय, 'मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ', बोलने से वे परमाणु झड़ जाएँगे, उनका असर नहीं होगा।

फालतू विचार घेर लें तो, 'मैं निर्विचारी हूँ', ऐसा बोलने से वे सब विचार गायब हो जाएँगे।

खाली समय में खुद के आत्मा के गुणों की *भजना* करने से *पुद्‌गल* की हुकूमत में से छूट जाते हैं, खुद के स्वक्षेत्र में आ जाते हैं, और इसी को सिद्ध स्तुति कहा है।

'मैं टंकोत्कीर्ण हूँ', ऐसा सौ-सौ बार बोलना चाहिए। टंकोत्कीर्ण क्या सूचित करता है कि मुझे शुरू से इस *पुद्‌गल* से कोई लेना-देना था ही नहीं इसलिए 'मैं टंकोत्कीर्ण हूँ', बोलने से तो *पुद्‌गल* भी समझ जाएगा कि इन्होंने हमारे साथ का व्यवहार तोड़ दिया है। कहे अनुसार करे तो फल मिले, ऐसा यह साइन्स है।

दुर्घटना में या कहीं लगने से शरीर का आकार बदल जाए तो, 'मैं निर्नामी हूँ', ऐसा बोलने से 'खुद अलग और यह देह अलग', ऐसा अनुभव हो जाता है। खुद असर मुक्त हो जाता है।

यह ज्ञान किसी व्यवहार की उपेक्षा नहीं करता। यह अज्ञान के सामने भी संपूर्ण रक्षण देता है। इसे काल-कर्म और माया स्पर्श नहीं करते।

दादाश्री खुद जिस संपूर्ण अनुभव दशा में रहते हैं, हर एक महात्मा को वैसी अनुभव दशा में पहुँचना है।

अनंत जन्मों तक *पुद्गल* के गुण गाए, अब दिन भर आत्मा के गुण गाना, तो कल्याण हो जाएगा!

चरणविधि में ज्ञान वाक्य आते हैं, 'मैं...हूँ', शुद्धात्मा के उन सब मूल गुणों को बोलने से जो आनंद होता है वही सिद्ध स्तुति है और जो आनंद होता है वही आत्मा।

आत्मा अगोचर है, अर्थात् उसके गुणों द्वारा ही आत्मा की *भजना* हो सकती है।

आत्मा के गुणधर्म बोले जाएँ न, तो उसे यहाँ दुनिया में सिद्ध स्तुति कहा गया है। ऐसा बोलते हैं तब अंदर अनंत सुख होता है। ऐसा बोलने को तो उच्चतम शुद्ध उपयोग कहा जाता है, अगर कषाय होंगे तो भी वे भाग जाएँगे।

हमें सिद्ध होना है, अत: रोज़ सिद्ध स्तुति करनी ही चाहिए। हमें प्रज्ञा से बुलवाना है, (मैं) चंदू है वह बोलेगा। चंदू (मैं) से कहना, 'आप बोलो और हमारे जैसे बन जाओ। फिर आप भी अलग और हम भी अलग।'

दादाश्री हमें बुलवाते हैं और हम बोलते हैं, उसी प्रकार हम बुलवाएँ (प्रज्ञा में बैठकर) और चंदू (मैं) बोले तो वह खुद भी आत्मा रूप होता जाएगा।

'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', ये सब वाक्य पच्चीस बार और बाकी सभी वाक्य पाँच बार, ऐसा करके एक गुणस्थानक पूरा करेंगे। कोई पच्चीस के बजाय सौ बार बोले तो भी चलेगा। पहले 'मैं चंदूलाल तथा चंदूलाल के मन-वचन-काया का योग, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म से भिन्न ऐसे हे प्रकट शुद्धात्मा भगवान, मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ...', इस तरह सभी वाक्य बुलवाने हैं। आप देखने वाले और यह चंदूलाल बोलने वाले। फिर उस सिद्ध स्तुति का फल तुरंत ही मिलता है, खुद को आत्मा रूप बनाता है।

ऐसी सिद्ध स्तुति की रमणता से सभी अंतराय टूट जाते हैं।

आत्मा सिद्ध ही है। उसकी सिद्ध स्तुति बोली जाए तो खुद भगवान ही बन जाएगा।

चरणविधि में 'मैं... करता हूँ, मुझे... शक्ति दीजिए', इसके अलावा जो सारे वाक्य हैं, वे सब सिद्ध स्तुति ही हैं, वह बोलनी है।

यह निश्चय-व्यवहार चरणविधि, यह व्यवहार सिद्ध की स्तवना है। हमें सिद्ध स्थिति में ले जाने वाला व्यवहार है यह। अत: यह खास तौर पर करने जैसी चीज़ है। यह आज्ञापूर्वक है।

चरणविधि करते समय जुदापन लगता है। बीमारी में भी जुदा रह सकता है। 'मैं जुदा हूँ', ऐसा अनुभव होता है।

दादाश्री के चरणों में, उनकी स्थूल उपस्थिति में सभी महात्मा जब विधि करते थे तब दादाश्री कहते थे, 'रिलेटिवली सब अलग हैं लेकिन रियली सब एक सरीखे हैं। हमारा व्यवहार तो शुद्धात्मा से ही है।'

दादा के अँगूठे पर चरणविधि करते समय महात्मा, 'मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं शुद्धात्मा हूँ' बोलते थे और तब दादाश्री सभी में शुद्धात्मा के गुणों की प्रतिष्ठा करते थे, विधि में शक्तियाँ देते थे।

महात्मा 'मैं शुद्धात्मा हूँ' बोलते थे तब दादाश्री उनमें ऐसी शक्तियाँ डालते थे कि, 'आप अनंत ज्ञान वाले हो'। अत: जैसे-जैसे प्रतिष्ठा होती जाती है वैसे-वैसे खुद में आत्मशक्ति उत्पन्न होती है।

मंदिर में मूर्तियों में प्रतिष्ठा होती है जबकि यहाँ तो वास्तविक आत्मा में प्रतिष्ठा होती है।

मूल आत्मा, उसकी जो धातु है, यह 'अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत शक्ति', अपनी धातु भी वैसी ही हो जाती है, उसे धातु मिलाप कहा जाता है। हम आत्मा के गुण बोलते हैं तो धातु मिलाप होता है। अर्थात् उसके स्वभाव में स्वभाव रूप हो जाना वह। भगवान जो धातु है, उसी धातु रूप खुद हो जाता है, वह सनातन है, मोक्ष स्वरूप है।

- दीपक के जय सच्चिदानंद

अनुक्रमणिका

[1] आत्मा के गुण और स्वभाव

आत्मगुणों को जाने, परिणमित हों... 1
आत्मा के अनंत गुण हैं लेकिन... 2
गुणधर्म : गुण परमानेन्ट, धर्म... 2
महात्मा अनुभव करते हैं... 3
आत्मस्वभाव : ज्ञाता-द्रष्टा-परमानंदी 4
तेरस-चौदस तक गुण, पूर्णिमा... 5
सभी फाइलों का निकाल होने पर... 6
लक्षण-गुण व वेदन से जाना... 6

[2] अनंत ज्ञान-दर्शन

[2.1] ज्ञायक : ज्ञान : ज्ञेय

ज्ञेय अनंत इसलिए ज्ञान अनंत 10
अनंत ज्ञान देखता है प्रत्येक ज्ञेय... 10
ज्ञेय कम पड़ सकते हैं लेकिन... 11
जानने जैसा सारा ही है ज्ञेय 12
क्रिया नहीं लेकिन संसारी ज्ञान... 13
क्रियाज्ञान को अहंकार जानता है... 14
'मैं' खुद है ज्ञान वाला, लेकिन... 16
आत्मा गुणधर्मों को लेकर अभेद... 17
अनंत दर्शन, इसीलिए देख... 18
अन्‌डिसाइडेड, वह दर्शन... 18
खुद के अनंत गुणधर्मों से खुद... 19

[2.2] अनंत ज्ञेयों को जानने में... शुद्ध हूँ

मौलिक वाक्य है यह दादा का... 21
जगत् भरा हुआ है अनंत ज्ञेयों से 22
ज्ञेय के अनुसार बदलती है... 23
तद्रूपता का आभास 'रोंग... 24
ज्ञेयाकार होकर चारों तरफ से... 25
ज्ञेय के अनुसार ज्ञेयाकार होता... 26
परिणमित हुई : ज्ञेय की अनंत... 27
परिणमित होता है ज्ञेयाकार में... 29
चिपकता है ज्ञेय में अशुद्ध... 29
ज्ञान में देखकर बोलते हैं दादा... 30
पर्यायों का होता रहता है... 31
गुण का उपयोग हो तब... 32
ज्ञेयों में नहीं जाता आत्मा, जाता... 33
पर्याय की यथार्थ पहचान... 33
द्रष्टा खुद ही मुख्य है, दृष्टि तो... 35
ज्ञेयों के कारण ज्ञान, लेकिन... 35
तत्त्व होते हैं गुण व अवस्था... 36
सामान्य भाव से देखा तो छूटा... 37
सर्वांग : सर्व प्रदेशों में संपूर्ण शुद्ध 38
ज्ञान समझने से परिणमित होगा... 39
शास्त्रों से परे बातें, अक्रम... 41
अद्‌भुत वस्तु प्राप्त हुई ज्ञानी की... 41
सर्व ज्ञेय दिखाई देते हैं पूर्णत:... 43
पहले स्थूल देखता है उसके... 44
सिद्धात्मा नहीं करता मेहनत... 45
निज अवस्था को ज्ञेय रूप से... 46
अब नहीं रहा छानने को फिर से 46

[3] अनंत शक्ति

[3.1] अनंत शक्ति कौन सी? कैसी?

आत्मशक्ति अनंत है, लेकिन... 48
आत्मा हाज़िर तो पुद्‌गल दिखाई... 49
आत्म शक्ति अनंत लेकिन आवृत्त 49
परमात्म शक्ति अनंत लेकिन... 50

मूल स्वरूप से जड़ तत्त्व लेकिन... 50
पुद्गल की अनंत शक्तियों ने... 51
आत्मशक्ति आवृत्त होने से चढ़... 52
अनंत शक्ति वाला लेकिन... 52
सीमित ज्ञान प्रकट होता है... 53
स्वक्षेत्र में स्वशक्ति, तो परक्षेत्र... 53
ओहोहोहो! वह अनंत शक्ति... 54
ज्ञानी से मिलते ही अनंत... 57
आत्मशक्ति है शुद्धता-अपरिग्रह... 58
आवरणों के हटने पर व्यक्त... 59
लोकसंज्ञा से आवृत्त हुई अनंत... 59
आत्मा प्राप्त होने पर व्यक्त... 60
महात्माओं में ऐसे प्रकट होती... 61
एकतार होने पर प्रकट हो जाती... 62
अनंत शक्तियों के उपयोग से... 63
अनंत शक्ति का उपयोग... 64
ज्ञाता-द्रष्टा रहने से : मिलता है... 66
अनेक अंतरायों के सामने अनंत... 68
अनंत शक्ति डालने से, रिलेटिव... 69
आत्मरूप होकर बोलने से... 69
ज्ञान वाक्य बोलने से दूर होते... 70
ब्रह्मांड थरथराए ऐसी शक्ति... 71
प्रकट कर लो अनंत शक्तियाँ... 72

[3.2] अनंत ऐश्वर्य

आत्मा परम ऐश्वर्य, लेकिन... 73
जितना अहम् हो डाउन उतनी... 73
स्वभाव के आकर्षण से विभुत्व... 74
प्रकट हुआ ऐश्वर्य अक्रम द्वारा... 75
ऐश्वर्य को सजाए, ऐसी... 75
जिनमें ऐश्वर्य उत्पन्न हो जाए, वे... 76
मालिक हुए बिना मालिकी... 77
बिलीफ बदलते ही चित्त का... 78

[3.3] अनंत वीर्य

ज्ञानी का आत्म वीर्य, तीर्थंकरों... 81
ज्ञान-दर्शन-चारित्र-शक्ति व... 82
लालसाएँ छूटेंगी और अहंकार... 82
टूटेंगे वीर्यांतराय तो प्रकट होगा... 83

[4] अनंत सुखधाम

अनंत सुखधाम समझने पर... 85
आत्मा को जानते ही उत्पन्न... 85
परमानंद गुण से अनुभव होता... 86
मस्ती वाला आनंद मन का... 87
अप्रयास आनंद के लिए नहीं है... 88
सुख और आनंद के बीच सूक्ष्म... 89
न हो अवलंबन बाहर का, वह... 91
महात्माओं को फीके लगते हैं... 93
खुद मूल स्वरूप हो जाए तो... 94
'मैं अनंत सुखधाम हूँ', ऐसा... 96
'अनंत सुखधाम' बोलते ही... 96
साहजिक व बिना साधन के... 98
सुख-दु:ख के असर से मुक्त... 101
बढ़े-घटे वह आनंद पड़ोसी... 102
स्वाभाविक सुख के लिए नहीं... 103
सिद्धगति में ज्ञान-दर्शन से सुख... 104
सत्-चित्त है स्वरूप आत्मा... 106
परमानंद, वही है मोक्ष 106
प्रयत्न से आत्मानंद, बिना... 107
आत्मा के संग अभेदता, तो... 107
स्वभान होने के बाद रहता है... 108
बुद्धि की दखलंदाज़ी गैरहाज़िर... 108

[5] अगुरु-लघु

गुण : पुद्गल के गुरु-लघु... 110
ज्ञेय-दृश्य गुरु-लघु, आत्मा... 111

सिर्फ आत्मा ही नहीं, छहों... 112
पृथ्वी, पानी, तेज, वायु हैं... 114
शुद्ध स्वरूप में अगुरु-लघु... 115
गुण अगुरु-लघु, पर्याय गुरु-लघु 116
प्रकृति है विकारी स्वरूप... 117
खुद के अगुरु-लघु गुण के... 118
जो गुरु-लघु है वह नहीं है... 119
आत्मा अगुरु-लघु, अन्चेन्जेबल... 121
गुरु-लघु संयोगों को अलग... 121
राग-द्वेष के कारणों में भी 'मैं'... 122
इस विज्ञान को समझ जाए तो... 123
'मैं अगुरु-लघु' मंत्र जाप से... 124
'अगुरु-लघु स्वभाव वाला'... 124
आत्मगुणों की भजना से होते... 125

[6] असंग

[6.1] संग में है असंग

आत्मा स्वभाव से असंग... 126
असंग की बिलीफ हो जाए तो... 127
स्वभाव में आ जाए तो हो... 127
असंग वाणी रूपी शस्त्र से... 128
आत्मा व जड़ का संगदोष... 129
आत्मज्ञान द्वारा असंग होने पर... 129
असंग हो गए लेकिन बाकी है... 130
आत्मा को क्रमिक में मानते हैं... 131
सर्व अवस्थाओं के संग में भी... 132
आत्मा व परमाणु असंगी... 134
क्रमिक मार्ग में करना पड़ता है... 135
भ्रांति से भासित होता है संगी... 135
करोड़ों जन्मों में भी जो संग... 136
शुद्धात्मा का भान होने पर... 137
आत्मा से संबंधित → नि:शंकता... 138
अलौकिक की मुहर लगते ही... 140
तब कर लेने हैं पूर्ण स्थिति के... 140
त्रिलोक को वश करने से भी... 141
दादा कृपा से महात्मा भी... 142
संगी क्रियाओं को खुद की... 143
संगी क्रियाएँ करने वाला नहीं... 144
संगी क्रिया स्थूल, असंग... 145
संगी क्रियाओं में उल्टी... 146
निर्विकल्प-निरपेक्ष-असंग... 146
ज्ञानी के परमाणु असंगता... 147
ज्ञानी या वीतराग के प्रति रखे... 148

[6.2] असंग और निर्लेप

आत्मा का हुआ है संयोग... 150
असंग और निर्लेप में गुह्य... 150
'मैंने किया', इस भ्रांति रस के... 152
'मैं चंदू नहीं हूँ', 'मैं शुद्धात्मा... 152
कुसंग में भी असंग, आज्ञा... 153
पौद्‌गलिक विचारक्रिया से... 154
'मैं शुद्धात्मा हूँ', यह है... 155
संगी क्रियाओं में जागृति रहने... 155
प्रकाश बढ़ने से होता है निरंतर... 156
'मैं असंग हूँ', यह है संगी के... 157
अक्रम विज्ञान से संसार में... 158
शुद्धात्मा स्वभाव को पकड़े... 158
देह है संगी चेतना, जो... 159
संगी चेतना है डिस्चार्ज चेतना 161
अज्ञान से भय, संगी चेतना से... 161
सभी क्रियाएँ संगी चेतना की... 162
विषय है संगी चेतना, 'मैं'... 163
ज्ञान दृष्टि से विषय को भी... 163
स्त्री संग में भी है आत्मा... 165
विषयों में आत्मा असंग... 166

शुद्धात्मा पद : असंग-निर्लेप... 167
मार खाते ही खुद चला जाता... 168
लालच जाते ही रह पाता है... 169
असंग के ज्ञान से नहीं वेदता... 169
असंग वृत्ति का अनुभव होता... 170
असंगता है आंशिक मुक्ति... 171
ज्ञानी का सम्यक् चारित्र... 171
अंतिम स्टेशन, असंग और निर्लेप 172

[7] निर्लेप-अलिप्त

[7.1] आत्मा सदा निर्लेप ही

प्रकाश स्वरूप आत्मा है निर्लेप... 173
ज्ञानी के विज्ञान से रह सकते... 174
ज्ञानी कृपा से बदलता है... 175
ज्ञानविधि में ये शब्द बोलने से... 175
भ्रांति से भासित होता है... 177
निर्लेप व्यवहार से प्रकट होता... 177
ज्ञानी करते हैं ड्रामा; बाहर... 178
'ज्ञानी' असर से मुक्त, रहते हैं... 179

[7.2] लेपायमान भाव

निर्लेप को लेपित कर दें वे... 180
शुद्धात्मा लेपायमान नहीं होता... 181
पहले पूरण हुए भाव, आज... 181
लेपायमान भावों में ज्ञाता-द्रष्टा... 182
लेपायमान भावों में तप होने से... 183
लेपायमान भाव जड़ के भाव... 184
लेपायमान की राशि अलग है... 185
लेपायमान होने वाले को जाने... 185
'मेरे नहीं हैं' कहते ही भागते... 187
'मैं चंदू' तो भाव लेपित करते... 187
'उपकारी हैं' बोलने से बंद हो... 189
अभिप्राय बंद होने पर मंद... 190
लेपायमान भाव लेपित करें... 192
प्रकृति को देखने वाला लेपित... 192

[7.3] अस्पर्श्य

साथ में रहने के बावजूद... 194
सर्व अवस्थाओं में आत्मा... 195
आत्मज्ञान द्वारा विमुख होता है... 196
मन-वचन-काया का... 196
ज्ञानी रहते हैं सदा अस्पर्श्य... 197
अस्पर्श्य स्वभाव से बरतते हैं... 198

[8] स्वभाव-स्वपरिणति-स्वपरिणाम

[8.1] स्वभाव : परभाव

आत्मभाव है स्वभाव... 200
ज्ञानी खुद स्वभाव में रहकर... 201
आत्मा नहीं कर सकता... 201
ज्ञान के बाद राग-द्वेष भी हैं... 202
आज्ञा पालन से नहीं रहता... 202
स्वभाव से है ही अप्रतिबद्ध... 204

[8.2] स्वपरिणति-परपरिणति

परिणति यानी क्या? 205
पुद्गल परिणामों को खुद के... 205
पर को पर और स्व को स्व... 206
'मैं शुद्धात्मा' और 'नहीं है... 207
शुभ-अशुभ दोनों ही पुद्गल... 208
समकिती को ही है 'परिणति'... 209
आत्मपरिणति को जाने तो... 210
कर्तापद में जप-तप-त्याग-धर्म... 211

जो स्वपरिणति में है वह संन्यस्त 212
आचार्य भगवंतों को रहती है... 213
'स्वपरिणति', अक्रम से दो... 213
परपरिणति से हुए मुक्त... 214
ज्ञानप्राप्ति के बाद परपरिणामों... 215
स्वपरिणति में ही रहे, वह... 217
स्वरूप स्थिति क्रमिक में है... 217
आज्ञा पालन से रहती है... 218
कर्तापद है परपरिणति... 219
पाँच आज्ञा व शुद्ध उपयोग... 220
स्वपरिणति उत्पन्न हुई, वही... 221

[8.3] महात्माओं की स्वपरिणति

नाटकीय अहंकार से अब... 223
महात्माओं के परपरिणाम अब... 223
खुद कर्ता तो परपरिणति... 224
ज्ञान के बाद स्व-पर परिणति... 225
मन-वचन-काया परपरिणाम हैं... 226
शुद्धात्मा के लक्ष और... 227
परपरिणाम अच्छे न लगें, उन्हें... 228
परपरिणति को अलग देखने में... 229
'दादा भगवान' हैं निजस्वरूप... 230

[8.4] स्वपरिणाम-परपरिणाम

निजधारा-परधारा बहती हैं... 232
ज्ञानी दिखाते हैं निजधारा, फिर... 233
शुद्धात्मा के भान से हो गए... 233
अचल-अविनाशी के अलावा... 233
परपरिणाम हैं परसत्ताधीन... 235
परपरिणाम हो जाते हैं बंद... 236
परपरिणाम बंद हो जाएँगे... 237
अहंकार नहीं रहने से... 238
परपरिणाम के साथ रह गया है... 239
स्वपरिणति में रहने से उपजें... 240
स्वपरिणति से शुरू संयम, फिर... 240
महात्मा स्वपरिणति में, दादा... 241
महात्माओं का देखना-जानना... 242
भयंकर वेदना में भी परपरिणति... 243
संसारी वेश में ग्यारहवाँ... 244

[8.5] पारिणामिक भाव

आत्मा का स्वाभाविक भाव... 245
पारिणामिक भाव : आत्मा का... 245
परम पारिणामिक भाव, वही... 246
क्षायक भाव से दोनों सहज... 246
शुद्धात्मा के पारिणामिक भाव... 248
आत्मा-अनात्मा दोनों... 249
व्यवस्थित नहीं है पारिणामिक... 249
पारिणामिक शक्ति-सत्ता दादा... 250

[8.6] स्वसमय-स्वपद

'मैं' परक्षेत्र में प्रवेश न करे... 251
'मैं शुद्धात्मा हूँ' है स्वपद... 252
दादा की भजना स्थित कराती... 253
अपद में रहता है अस्वस्थ... 254
निश्चय स्वपद में और व्यवहार... 254

[9] स्वरमणता-पररमणता

याददाश्त, वहाँ रमणता अहंकार... 256
रमणता कॉज़ है और ध्यान... 257
स्वरूप-स्वभाव में रहना ही है... 257
संसारी अवस्थाओं में... 258
पौद्‌गलिक रमणता से उपजे... 259
शास्त्र-स्वाध्याय, वे सभी... 259

आत्मरमणता के साधन भी... 261
साधन हैं पौद्गलिक रमणता... 261
आत्म प्राप्ति होने तक खिलौनों... 262
स्वभाव प्राप्ति के बाद हो... 263
आत्मसुख चखने पर होती है... 264
परिग्रह बाधक नहीं हैं... 264
आत्मरमणता तब अद्वैत, संसारी... 265
स्वरूप रमणता सुगम ज्ञानी... 266
आज्ञा रूपी प्रोटेक्शन, करता है... 267
अक्रम ज्ञान मिटाता है... 268
खुद स्व की रमणता में, वही... 269
पररमणताओं में उत्तम, ज्ञानी... 269
ज्ञानी भक्ति है 60 प्रतिशत... 270
प्रकृति को निहारना ही है... 271
सारे व्यवहार करते हुए... 272
ज्ञान मिलते ही अहंकार मुड़ा... 273
'चंदू' ज्ञेय है, 'मैं' उसका... 274
ज्ञान से पहले और बाद में... 274
स्वरमणता है शुद्ध उपयोग... 275
स्वरमणता में रहे तब बाहर... 277
देखे-जाने वह स्वरमणता, वही... 277
नापसंद में रमणता के ज्ञाता... 278
नहीं है अब प्रमाद रूपी... 279
ज्ञानी की अप्रमत्त दशा, लेकिन... 280
'मेरा स्वरूप नहीं है' कहते... 280
सिद्ध स्तुति व पाँच आज्ञा से... 281
पौद्गलिक क्रिया को देखना... 282
एक पुद्गल को देखना ही है... 283
अपनाओ तरीका भगवान... 284
स्वरमणता की प्राप्ति, निर्ग्रंथ... 287
प्रकृति को निहारना ही है... 288
स्वरमणता केवल चारित्र हो... 288
स्वरमणता, पूर्ण दशा होने के... 289

[10] स्वक्षेत्र-क्षेत्रज्ञ

[10.1] स्वक्षेत्र-परक्षेत्र

'आत्मा' स्वक्षेत्र, 'मन-वचन... 290
परक्षेत्र में निरंतर दु:ख व भय... 291
'पर' की इन चार भूलों की... 291
स्वक्षेत्र में स्वसत्ता व अनंत... 292
छूटा स्वामित्व परक्षेत्र का... 292
स्वक्षेत्र में पुरुष पद पर होता... 293
नहीं देना है दखल कोई, सिर्फ... 293
स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल... 294
स्वक्षेत्र-स्वद्रव्य-स्वभाव... 295
परभाव के जाने पर स्वक्षेत्र में... 297

[10.2] क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ

विनाशी है क्षेत्र, अविनाशी है... 298
आत्मा क्षेत्रज्ञ, प्रकृति क्षेत्र 299
परक्षेत्र वाला नहीं है चेतन... 299
पराई चीज़ के मालिक बनने... 300
स्वक्षेत्र में क्षेत्रज्ञ, लेकिन अज्ञान... 300
ब्रह्मांड का ऊपरी लेकिन... 301
आत्मज्ञान से प्राप्त होता है... 302
ज्ञानी बरतते हैं निरंतर क्षेत्रज्ञपद... 303

[11] अच्युत

स्थान छोड़े-बदल जाए वह... 304
भगवान भी अच्युत और 'मैं'... 305
स्वप्रकाश में अच्युत, परप्रकाश... 305
अच्युत है विशेषण, मूल आत्मा... 305
संबंध-संयोग हैं च्युत, सिर्फ... 306
डिवोर्स हो जाए, वह सब च्युत 307
रूपी निरंतर होता रहता है... 307

[12] अव्यय-अक्षय

नाश न हो, वह अक्षय 309
खर्च न हो, कम-ज़्यादा न हो... 309
अनंत जन्म हो गए फिर भी... 310
मन-वचन-काया का व्यय हो... 310
अव्यय होने के बाद में नहीं... 311

[13] अजन्म-अमर-नित्य

[13.1] अजन्म

छ: तत्त्व ही अजन्मा हैं, बाकी... 312
भगवान आत्मारूप से अजन्मा... 312
देह सहित जन्म होता है फिर... 313
शरीर जन्म लेता है और मरता... 314
'अजन्मा-जन्म' पद, ज्ञानी कृपा... 315

[13.2] अमर

सूक्ष्मतम वस्तु है आत्मा... 316
प्राण के आधार पर संबंध, देह... 316
शरीर मर जाएगा और 'मैं'... 318
मृत्यु पर विजय, अध्यात्म... 318
अमरपद धारी को भय कैसा? 319
'अमरपद' जानने के बाद में... 320

[13.3] नित्य

नित्य है, परमानेन्ट-अविनाशी... 322
छहों तत्त्व नित्य लेकिन उनकी... 323
नहीं हो सकता आत्मा नित्य... 323
वस्तु स्वरूप है त्रिकाली... 324
संयोगों से परे आत्मा, वहाँ... 325
आत्मा निश्चय से नित्य, व्यवहार... 326
आत्मा के द्रव्य व गुण नित्य... 326
नित्यभाव पूरा समझ में नहीं... 327
अनित्य को जानने वाला है नित्य 328
देहाध्यास जाने पर अनित्यभाव... 328
निरालंब के सामने नित्य छोटा... 329
मरने का भय ही नहीं, उस... 330
'नित्य' आत्मा संग, ज्ञानी सदा... 331

[14] आत्मा थर्मामीटर जैसा

खुद का ही आत्मा थर्मामीटर... 332
अंदर अच्छा-बुरा सब दिखाता... 333
थर्मामीटर दिखाता है सबकुछ... 334
नीयत खराब, इसलिए मगन... 334
ज्ञान के बाद थर्मामीटर दिखाता... 335
थर्मामीटर रूपी आत्मा है... 336
क्रमिक में आत्मा खुद वेदक... 337
वेदक को अलग रखे, यह है... 338
थर्मामीटर को नहीं आता... 339
प्रकट शुद्धात्मा काम करता है... 340

[15] निर्विकारी-अनासक्त

[15.1] विकारी-निर्विकारी

आत्मा निर्विकारी है, लेकिन... 341
'मैं' के वर्तन से, बरते... 342
पुद्गलपक्षीय अहंकार, कर देता... 342
विभाव व विशेष भाव हैं विकार 343
शुभाशुभ पूरा ही विकार... 344
आत्मज्ञान होने से प्राप्त होता... 345
स्वरूपज्ञान से अप्रतिबद्ध, रहे... 346

[15.2] अनासक्त

स्व के भान से हुआ खुद... 348

आत्मज्ञान से हुआ अनासक्त... 349

शुद्धात्मा अनासक्त, आसक्ति... 350

[16] निर्विशेष

विशेषण तो होते रहते हैं... 352

आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा व परमानंदी... 353

आत्मा के विशेषण हैं व्यवहार... 354

आत्मा निरंतर शुद्ध भगवान ही 355

[17] अवक्तव्य : अनुभवगम्य

[17.1] अवक्तव्य

सूक्ष्मतम आत्मा, संपूर्ण वर्णन... 357

ज्ञानी समझाते हैं अवक्तव्य... 358

आत्म-अनुभव अवर्णनीय, फिर... 359

बुद्धिजन्य वक्तव्य, ज्ञानजन्य... 359

तीर्थंकरों का अनेकांत जगत् के... 360

भेदविज्ञानी सारे तत्त्वों को... 361

[17.2] अनुभवगम्य

आत्मा अवर्णनीय, फिर भी... 363

पाँच आज्ञा के प्रति... 364

आत्मा के अपरोक्ष दर्शन... 364

एक बार अनुभव होने के बाद... 365

क्षायिक सम्यक्त्व ही है स्पष्ट... 366

अंश ज्ञान है अनुभव, सर्वांश... 367

जागृति वही, जो दिखाए खुद... 368

अनुभव बढ़ने पर बनेगा ज्ञानात्मा 368

पहले आत्मानुभव बरतता है... 369

अक्रम से आत्मानुभव होने पर... 370

[18] सिद्ध स्तुति

आत्मगुण बोलने से लक्ष की... 372

आत्मा के गुणों के ध्यान से... 373

आत्मा रत्नचिंतामणि, चिंतन... 374

गुणों के अभ्यास से लक्ष होता... 374

समकित के बाद वाले विकल्प... 375

कुछ सूझे नहीं तो बोलना, 'मैं... 375

मति उलझे तब बोलना, 'मैं... 376

वेदना के समय बोलना चाहिए... 377

कमज़ोरी में बोलना, 'मैं अनंत... 378

हिंसक प्राणी के सामने 'मैं... 379

डिप्रेशन आए तो बोलो, 'मैं... 379

लोभ-लालच के समय बोलना... 380

सिद्ध स्तुति दूर करे, पुद्गल... 380

शारीरिक कमियों के समय... 382

सिद्ध स्तुति को कहा गया है... 383

नहीं है शर्त भाव की या समय... 384

एक घंटे तक आत्मगुण बोलने... 385

सिद्ध होने के लिए प्रज्ञा रोज़... 386

सिद्ध स्तुति की रमणता से टूटें... 388

चरणविधि है सिद्ध स्थिति में... 388

चरणविधि बरताए जुदापन... 389

ज्ञानी विधि में करते हैं गुणों... 390

धातु मिलाप अर्थात् स्वभाव... 391

पारसमणि बनाता है लोहे को... 392

धातु मिलाप से परिपूर्णता 393

❖❖❖❖❖

आप्तवाणी
श्रेणी-14 भाग-4

[1]
आत्मा के गुण और स्वभाव

आत्मगुणों को जाने, परिणमित हों तब होता है आत्मज्ञान

आत्मा क्या है? शब्दब्रह्म से तो सभी जानते हैं कि अनंत गुण वाला है। लेकिन उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना होगा।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के गुणों का जो विकास करे, वही ज्ञान है न? बाकी सब अज्ञान ही कहलाएगा न?

दादाश्री : आत्मा के गुणों का विकास नहीं करना है। उसके गुणों का विकास हम कैसे कर सकते हैं? वह खुद विकसित ही है। आत्मा तो परमात्मा ही है। आत्मा को तो कुछ भी नहीं करना है। वह तो है ही पूर्ण।

लेकिन हमें यथार्थ आत्मज्ञान हो गया, ऐसा तो कब कहा जाएगा? जब वे गुण परिणमित होंगे तब। बाकी, 'मैं हीरा हूँ', बोलने से कहीं हीरा प्राप्त नहीं हो जाता। आत्मज्ञान होने के लिए आत्मा को गुणधर्म सहित जाने और वह परिणमित हो, तब आत्मज्ञान होगा।

अर्थात् आत्मा तो परमात्मा है, अनंत गुणों का धाम! आत्मा अपने खुद के 'स्वाभाविक' गुणों का धाम है। यानी कि वे गुण कभी भी इधर-उधर (परिवर्तन) नहीं होते, ऐसे गुणों का धाम है।

आत्मा के अनंत गुण हैं लेकिन मुख्य हैं दो

प्रश्नकर्ता : आत्मा को अनंत गुणधाम कहा गया है तो वे गुण कौन-कौन से हैं?

दादाश्री : आत्मा के मुख्य दो गुण हैं : ज्ञान और दर्शन। बाकी तो अपार गुण हैं।

अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत शक्ति और अनंत सुख, ये चार गुण बड़े-बड़े, ज़बरदस्त, और फिर अन्य छोटे-छोटे तो बहुत गुण हैं जैसे कि अमूर्त, अगुरु-लघु, अव्यय, अच्युत, अरूपी, अव्याबाध स्वरूप वगैरह।

फिर, किसी भी चीज़ के आर-पार निकल सके, ऐसा है। इस दीवार के अंदर से होकर जाना हो तो जा सकता है। बड़ा पहाड़ हो तो पहाड़ के अंदर से होकर जा सकता है और बड़ी होली जल रही हो तो होली के बीच में से गुज़र कर जाए तो भी जलता नहीं है, ऐसा सूक्ष्म स्वरूप है उसका।

उसका कोई आकार नहीं होता। निरंजन-निराकार स्वरूप में है, कोई देख ही नहीं सकता। अक्षय अर्थात् जो कभी भी क्षय नहीं होता, ऐसा। अविनाशी, विनाश नहीं होता, वैसा। खुद की कही जाने वाली चीज़ें, खुद की मानी हुई चीज़ें, ममता वाली चीज़ें, ये सभी विनाशी हैं और वह 'खुद है', उसमें कोई भी चीज़ विनाशी नहीं है।

ओहो! उसकी अद्‌भुतता का अंत नहीं है! नाम याद करते ही अंदर शांति, शांति, शांति हो जाती है।

गुणधर्म : गुण परमानेन्ट, धर्म टेम्परेरी

प्रश्नकर्ता : आत्मा के अनंत गुणधर्म हैं तो उन गुणधर्मों को धर्म कहा जाएगा या गुण कहा जाएगा?

दादाश्री : गुण परमानेन्ट हैं और धर्म टेम्परेरी हैं।

'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', यह उसका 'परमानेन्ट' गुण है। 'मैं अनंत दर्शन वाला हूँ', यह उसका 'परमानेन्ट' गुण है। 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', यह उसका 'परमानेन्ट' गुण है। 'मैं अनंत सुखधाम हूँ', यह उसका 'परमानेन्ट' गुण है।

आत्मा के गुण 'परमानेन्ट' हैं और उसके धर्मों का इस्तेमाल हो रहा है। ज्ञान 'परमानेन्ट' है और देखना-जानना 'टेम्परेरी' है। क्योंकि जैसे-जैसे अवस्थाएँ बदलती हैं वैसे-वैसे देखने वाले की अवस्थाएँ बदलती हैं। जैसे कि जब सिनेमा में अवस्था बदलती है तब देखने वाले की अवस्था भी बदलती है।

महात्मा अनुभव करते हैं आत्मगुणों का

प्रश्नकर्ता : दादा, आत्मा के गुणों का अनुभव कैसे हो सकता है?

दादाश्री : यह आप अनुभव कर रहो हो न, आत्मा के गुण ज्ञान लेने के बाद से!

प्रश्नकर्ता : हाँ, हाँ। यानी यों कौन सा गुण?

दादाश्री : यानी कि निराकुलता नामक गुण। आकुल नहीं, व्याकुल नहीं। निराकुलता नामक एक अष्टमांश (आठवाँ) भाग जो कि सिद्धों का गुण है, वह यहाँ पर बरतता है। निराकुलता! फिर अनंत ज्ञान, (यानी) कोई भी चीज़ परेशान नहीं करती। आपको ज्ञान हाज़िर होकर खबर देता है। अनंत दर्शन, (यानी) कोई भी चीज़ अड़चन नहीं डालती। तब समझ उत्पन्न होकर *निकाल* कर देती है। अनंत शक्ति, चाहे कैसी भी खराब परिस्थिति हो, उसमें भी समभाव से निकल जाते हो, चिंता-वरीज़ किए बगैर।

प्रश्नकर्ता : इस तरह समभाव से निकल जाना, क्या ये अनंत शक्तियाँ हैं, दादा?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : नित्य हैं क्या?

दादाश्री : नहीं। ये सारे अंश इकट्ठे करने के बाद मूल (आत्मा) होता है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान के बाद आत्मा का अधिक ध्यान कैसे किया जा सकता है?

दादाश्री : खुद आत्मा हो गया लेकिन खुद के गुणों का ध्यान धरे; अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र, अनंत सुख, इन सभी गुणों का ध्यान धरे, इस ध्येय में रहे और बोले तो ध्यान उत्पन्न होता है।

आत्मस्वभाव : ज्ञाता-द्रष्टा-परमानंदी

प्रश्नकर्ता : आत्मा का स्वभाव यानी क्या?

दादाश्री : आत्मा का स्वभाव, भाव अर्थात् अस्तित्व। स्वभाव अर्थात् स्व का अस्तित्वपना। खुद का स्वभाव अर्थात् खुद की बाउन्ड्री। यानी खुद के गुणधर्मों और बाउन्ड्री में ही रहता है। गुणधर्म और बाउन्ड्री से बाहर जाता ही नहीं है आत्मा।

अर्थात् देखने-जानने का स्वभाव है उसका। तब उसका फल क्या है? तो कहते हैं, परमानंद, बस! वह सब साथ में ही है। देखना-जानना और परमानंद। आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे जानते ही तुरंत फल देता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यह जो सारे ज्ञेयों को देखने-जानने की आत्मा की क्रिया है, ज्ञाता और द्रष्टा, वह भी उसकी एक क्रिया ही हुई न? तो वह उसका एक कर्म हुआ न?

दादाश्री : देखने-जानने का खुद का मूल स्वभाव है। स्वभाव से बाहर निकलना कर्म कहलाता है। स्वभाव से विरुद्ध करना कर्म कहलाता है। स्वभाव को कर्म नहीं कहते। पानी नीचे चला जाए तो उसे कर्म नहीं कहते, वह स्वभाव कहलाता है और ऊपर चढ़ाना पड़े तो कर्म करना पड़ता है।

तेरस-चौदस तक गुण, पूर्णिमा होने पर कहेंगे स्वभाव

प्रश्नकर्ता : 'अनंत दर्शन वाला, अनंत शक्ति वाला', ये सभी आत्मा के गुण कहे जाते हैं और 'मैं अपने स्व-स्वभाव वाला शुद्धात्मा हूँ', तो इस स्वभाव में और इस गुण में क्या अंतर है?

दादाश्री : गुण अलग-अलग बोलने पड़ते हैं। सिर्फ 'स्वभाव', एक ही (शब्द) बोला जाए तो उसमें सभी गुण आ गए।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, यह समझ में नहीं आया। स्वभाव और गुण, यह तो बोलने की बात हुई लेकिन ये गुण किसे स्पर्श करते हैं और स्वभाव किसे स्पर्श करता है?

दादाश्री : गुण सारे अलग-अलग बोल सकते हैं, इकट्ठे नहीं। गुणों को इकट्ठा कर लें तो उन्हें स्वभाव कहा जाएगा। गुण दो ही प्रकट हुए हों, तीसरा प्रकट नहीं हुआ हो, तब तक स्वभाव नहीं कहा जाएगा। स्वभाव कब कहा जाएगा? पूर्ण दशा में। स्वभाव अर्थात् फुल दशा। यानी जब सभी गुण प्रकट हो जाएँगे तब उसे स्वभाव कहा जाएगा। लेकिन फिर भी गुणों का नाम लेना हो तो ले सकते हैं। अलग-अलग कहना हो तो गुण कहेंगे और सब को साथ में मिलाकर कहना हो तो स्वभाव कहेंगे।

प्रश्नकर्ता : एक गुण, मान लीजिए कि 'अनंत ज्ञान', पूरी तरह से उसमें आ गया तो सब आ ही जाएँगे न, दादा?

दादाश्री : नहीं, सभी आ जाने चाहिए। जब तक एक-दो गुण होंगे न, तब तक स्वभाव में नहीं कहा जाएगा वह।

जब तक तेरस है तब तक गुण कहा जाएगा, चौदस हो तब तक गुण कहा जाएगा और पूर्णिमा होने पर गुण नहीं कहा जाएगा, स्वभाव कहा जाएगा। चौदस के दिन स्वभाव नहीं कहा जाएगा। पूर्णिमा के दिन स्वभाव कहा जाएगा कि चंद्र अपने स्वभाव में आ गया। फिर चौदस है, तेरस है, ऐसा सब नहीं बोलेंगे तो चलेगा, और यदि बोलेंगे

तो चलेगा भी नहीं। लोग उसे एक्सेप्ट नहीं करेंगे न! (क्योंकि) वह स्वभाव कहलाता है।

सभी फाइलों का निकाल होने पर होगी पूर्णिमा

प्रश्नकर्ता : अपने थोड़े गुण बाकी हैं, ऐसा ही कहा जाएगा न? अभी पूर्ण गुण आ गए हैं, ऐसा नहीं कहा जाएगा न?

दादाश्री : तब तो फिर पूर्णिमा ही हो जाएगी! तो फिर फाइलों का *निकाल* कैसे करोगे? पूर्णिमा हो जाएगी तो फाइलों का *निकाल* नहीं होगा। पड़ी रहेंगी फाइलें, फिर किसके खाते में जमा करेंगे? इसलिए कहते हैं, फाइलों का *निकाल* होने के बाद में अपने आप पूर्णिमा हो जाएगी, कुदरती रूप से। यदि आप पहले पूर्णिमा करने जाओगे तो परेशानी में फँस जाओगे।

प्रश्नकर्ता : लेकिन फिर क्या दिक्कत है दादा, पूर्णिमा हो जाने के बाद में? फाइलों का जो होना होगा, वह होगा।

दादाश्री : पहले ही पूर्णिमा कर लेंगे तो फिर फाइलों का क्या होगा?

प्रश्नकर्ता : जो होना हो वह हो, उसके बाद क्या?

दादाश्री : नहीं। ऐसे ही नहीं चली जाएँगी। वे तो *निकाल* माँगती हैं। अतः नियम ऐसा है कि *निकाल* हो जाने के बाद, आप अपने आप पूर्णिमा हो जाओगे। आपको पूर्णिमा होने की ज़रूरत नहीं है, आप फाइलों का *निकाल* करो, उसकी ज़रूरत है।

लक्षण-गुण व वेदन से जाना आत्मा को

प्रश्नकर्ता : दादा, वह जो बात है न, कि ज्ञानी पुरुष आत्मा को लक्षण से, गुणों से और वेदन से जानते हैं, तो वे लक्षण से किस प्रकार जानते हैं, गुणों से किस प्रकार जानते हैं और वेदन से किस प्रकार जानते हैं?

दादाश्री : वेदन से जानते हैं यानी परमानंद रहता है। स्वसंवेदन, परमानंद। तुझे तब आनंद नहीं हुआ था?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : उसे वेदन कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : यानी अंदर जो आनंद उत्पन्न होता है तब खुद यथार्थ आत्मा को कैसे पहचान सकेगा?

दादाश्री : तू जिसे पहचानता है, वही यह यथार्थ आत्मा है। उसे पहचान लिया है तूने। उसमें कुछ शंका हुई?

प्रश्नकर्ता : नहीं। अर्थात् वह चीज़ यों प्रैक्टिकल में किस प्रकार से होती है?

दादाश्री : वेदन से जो आनंद होता है, वह। चिंता हो, बोरियत हो, वह सब आत्मा नहीं है। आनंद रहे, और फिर वह आनंद कम नहीं हो, यानी कि चला नहीं जाए। वह आनंद ही आत्मा है। उस आनंद द्वारा आत्मा को पहचान जाता है कि, 'भाई, अब यह आत्मा है।' फिर गुणों से... ज्ञानी पुरुष से गुण जान लेने चाहिए।

प्रश्नकर्ता : गुणों से किस प्रकार है?

दादाश्री : गुण यानी जो आत्मा के हैं वे। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत शक्ति, अनंत सुखधाम, अव्याबाध, ऐसे सारे गुण बताए हैं न!

प्रश्नकर्ता : और लक्षण?

दादाश्री : लक्षण? लक्षण तो हमें पता चलते हैं न, कि अभी ये जो पहले के लक्षण हैं ये लक्षण किसके थे? देहाध्यास के थे। अब, आत्मा (आत्मा प्राप्त किया) के लक्षण हुए!

प्रश्नकर्ता : वह किस प्रकार से? उदाहरण के तौर पर?

दादाश्री : अहंकार नहीं दिखाई देता, क्रोध नहीं होता, लोभ नहीं होता।

दस गुणों* रूपी लक्षण उत्पन्न होते हैं। क्षमा, आर्जवता (सरलता), ऋजुता, शौच, ये सारे लक्षण उत्पन्न होते हैं। जब ऐसे लक्षण हों तब, आत्मा प्राप्त किया, ऐसा कहा जाएगा।

यानी कि लक्षण तो पारिणामिक है। अतः उनमें सहज क्षमा, सहज मृदुता, सहज ऋजुता, सत्य व सहज शौच हैं।

प्रश्नकर्ता : यानी कि यह सहज क्षमा, ये सब तो पौद्‌गलिक गुण हुए न? जिन्हें आत्मा प्राप्त हुआ हो उनमें ऐसे गुण प्रकट होते हैं ऐसा हुआ न, या फिर ऐसे लक्षण होते हैं?

दादाश्री : ऐसे लक्षण होते हैं, वर्ना लक्षण नहीं होंगे वैसे।

प्रश्नकर्ता : ऐसा प्रकृति में ही होता है न, दादा? ये दस गुण तो प्राकृत विभाग में प्रकट होते हैं न, परिणाम स्वरूप?

दादाश्री : नहीं, प्रकृति के कैसे? ये गुण प्रकृति के नहीं हैं, न ही आत्मा के हैं। व्यतिरेक गुण हैं ये सारे।

प्रश्नकर्ता : उन व्यतिरेक गुणों को लक्षण कहा गया है?

दादाश्री : लक्षण, ये जो हमें दिखाई देते हैं वे हैं। हम आमने-सामने लक्षण देखें तो हम नहीं समझ जाएँगे कि इन्होंने आत्मा प्राप्त किया है? और क्रोध-मान-माया-लोभ हों तो हम समझ जाते हैं कि, 'नहीं किया है'! इस तरह समझ नहीं जाते? समझ में नहीं आ जाता?

प्रश्नकर्ता : सही है।

---

* दस लक्षण : क्षमा, मार्दव (अभिमान का अभाव, नम्रता), आर्जव (सरलता, माया-कपट रहित होना), शौच (लोभ से विराम पाना, निर्लोभता, पवित्रता), सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचन (ममता का अभाव), ब्रह्मचर्य।

दादाश्री : ऐसे लक्षण हों तो प्राप्त नहीं किया है, और ऐसे लक्षण हों तो प्राप्त किया है। कृपालुदेव ने भी उन लक्षणों को लक्षण कहा है। उनमें अन्य लक्षण नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : मृदुता, क्षमा, सरलता ऐसे दस गुण कहे गए हैं और आप कहते हैं कि वे लक्षण हैं?

दादाश्री : मृदुता, आर्जवता, ऐसे सब लिखे हैं न, दस गुण? वे आत्मा के गुण नहीं हैं। उनके द्वारा हम पहचान सकते हैं कि भाई, इनमें क्षमा है इसलिए ऐसा लगता है कि इन्होंने आत्मा प्राप्त कर लिया है। वह लक्षण है, गुण नहीं है। जिन्हें आत्मा प्राप्त हो गया हो, उनमें सहज क्षमा होती है। क्षमा करना नहीं पड़ता। सहज क्षमा होती है, सहज मार्दवता होती है, सहज मृदुता होती है।

प्रश्नकर्ता : गुणों की तरह लक्षण भी परमानेन्ट हैं न?

दादाश्री : नहीं। लक्षण तो इन अज्ञानियों के समझने के लिए हैं जबकि इसके गुण तो शाश्वत हैं। वहाँ लक्षण-वक्षण एक भी नहीं है, सिद्धगति में। वहाँ लक्षण-वक्षण नहीं हैं। लक्षण तो किन्हें... इन लोगों को समझाने के लिए है कि यह व्यक्ति कैसा है? इस व्यक्ति ने आत्मा प्राप्त किया है लेकिन इसमें क्षमा तो बिल्कुल भी नहीं दिखाई देती। तो 'क्या आत्मा प्राप्त नहीं किया है?' वैसे लक्षण नहीं दिखाई देते इसलिए प्राप्त नहीं किया है। (ये लक्षण) उसे पहचानने के लिए हैं कि आत्मा प्राप्त कर लिया है या नहीं। आपको समझ में आया?

❖❖❖❖❖

[2]
अनंत ज्ञान-दर्शन

[2.1]
ज्ञायक : ज्ञान : ज्ञेय

ज्ञेय अनंत इसलिए ज्ञान अनंत

प्रश्नकर्ता : 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', ऐसा बोलते हैं, वह समझाइए।

दादाश्री : 'मैं' तो ज्ञान वाला है लेकिन अनंत ज्ञान वाला है यानी कि उसकी लिमिट नहीं है। बाहर की चीज़ें अनंत हैं। जानने की चीज़ें, ज्ञेय चीज़ें अनंत हैं इसलिए, 'मैं' अनंत ज्ञान से ज्ञेयों को जानने वाला हूँ।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान का अर्थ जानपना है?

दादाश्री : हाँ, ज्ञायकपना। चाहे देह को मार पड़े लेकिन परमानंद नहीं जाता, उसे जानता ही रहता है। (उसका) ज्ञाता-ज्ञेय का संबंध है। अनंत ज्ञेय हैं इसलिए अनंत ज्ञान वाला है।

अनंत ज्ञान देखता है प्रत्येक ज्ञेय को

प्रश्नकर्ता : आत्मा ज्ञायक है, उसके लिए ज्ञेय अनेक प्रकार के होते हैं या नहीं?

दादाश्री : जो ज्ञायक है वह अनंत ज्ञान वाला है और ज्ञेय भी अनंत हैं। ज्ञायक स्वभाव है, वह कैसा है? अनंत ज्ञान वाला है। किसलिए अनंत ज्ञान भाग? ज्ञेय भी अनंत हैं इसलिए।

आत्मा ऐसा स्व-पर प्रकाशक है कि उसमें हर एक ज्ञेय दिखाई दे, ऐसा है। इसलिए अनंत ज्ञान है।

सभी मनुष्यों में जितना ज्ञान है न, उतना ज्ञान एक आत्मा में है। ये सभी जीव हैं न, इन सभी जीवों का ज्ञान एक ही आत्मा में है लेकिन वह प्रकट होना चाहिए। (आत्मा के) इस ज्ञान से जगत् चल रहा है। *पुद्गल* में ज्ञान नहीं है। अन्य किसी वस्तु में ज्ञान नामक गुण है ही नहीं।

ज्ञेय कम पड़ सकते हैं लेकिन ज्ञान कम नहीं पड़ता

प्रश्नकर्ता : ठीक है, ज्ञेय अनंत होने के कारण ज्ञान भी अनंत है?

दादाश्री : इस जगत् में ज्ञेय अपार हैं। संख्यात ज्ञेय होते तो संख्यात ज्ञान होता। अनंत ज्ञेय हैं इसलिए अनंत ज्ञान है। इसलिए हम कहते हैं कि खुद अनंत ज्ञान वाला है। क्योंकि ज्ञेय अनंत हैं, इसलिए। इस जगत् में ज्ञेय कितने हैं? ज्ञेय संख्यात नहीं, असंख्यात नहीं, अनंत हैं।

इस शरीर को खोला जाए तो उस समय अंदर कितनी जगह पर ज्ञेय हैं?

प्रश्नकर्ता : जहाँ देखो वहाँ, सभी जगह ज्ञेय हैं।

दादाश्री : अतः आत्मा का ज्ञान भी अनंत है। यहाँ यदि आत्मा का ज्ञान कम पड़ जाए तो आत्मा हार गया कहलाएगा। यह आत्मा क्या कहता है कि ज्ञेय कम पड़ सकते हैं लेकिन मेरा ज्ञान कम नहीं पड़ सकता!

हम स्पष्ट कर रहे हैं कि भाई, ज्ञेय अनंत हैं इसलिए ज्ञान अनंत हैं। कोई कहे, थोक कहने में क्या हर्ज था? तो क्या यह कोई होलसेल है? ज्ञेय अनंत हैं, गिने नहीं जा सकते। संख्यात होते तो संख्यात कहे

जाते। संख्यात से अधिक हों, गिने नहीं जा सकें, ऐसे हों तो असंख्यात कहे जाते हैं। और असंख्यात को भी यदि कभी कोई सब तरफ से गिनने बैठे तो शायद कुछ हल लाए, तौले, लेकिन ये तो अनंत हैं। अनंत में से कुछ निकाल लिया जाए संख्यात और असंख्यात, तो कितने बचेंगे? तो कहते हैं, अनंत, और अनंत ही रहेंगे।

जानने जैसा सारा ही है ज्ञेय

प्रश्नकर्ता : ज्ञेय यानी क्या समझना है?

दादाश्री : ज्ञेय यानी जानने की जो चीज़ें हैं, जो जानने की चीज़ें हैं वे सभी ज्ञेय कहलाती हैं और देखने की चीजें दृश्य कहलाती हैं। आत्मा का स्वभाव क्या है? जानना और देखना। लेकिन क्या जानता है? ज्ञेयों को जानता है। हमेशा ही, यदि ज्ञेय होते हैं तो वे उसके जानने में आ ही जाते हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति, दर्पण के पास जाते ही उसमें झलकता है। ऐसा ही इसमें आ जाता है।

दृश्य और ज्ञेय विनाशी हैं। द्रष्टा-ज्ञाता अविनाशी है। दृश्य और ज्ञेय हमें अवस्था स्वरूप में दिखाई देते हैं, वे विनाशी हैं और मूल स्वरूप से वे भी अविनाशी हैं।

यह सब जो बाहर दिखाई देता है न, वे सब ज्ञेय हैं। ये बाल भी ज्ञेय हैं और आँखें भी ज्ञेय हैं, कान भी ज्ञेय हैं और यह सब, जगत् में ज्ञेय हैं और आप ज्ञाता।

आत्मा के अलग होने के बाद में वह ज्ञाता कहलाता है। और यह सारी जो विनाशी चीज़ें दिखाई देती हैं वे ज्ञेय दिखाई देती हैं। बाहर विनाशी भी दिखाई देता है और अंदर अविनाशी भी दिखाई देता है, सभी कुछ दिखाई देता है जिसे। अंदर भी बहुत सारे ज्ञेय हैं, लेकिन बाहर के लोगों को तो इन्द्रियज्ञान जितना ही समझ में आता है। मन से और आँखों से और बुद्धि से, उतना ही समझ में आता है। उससे आगे का भाग समझ में नहीं आता।

'अनादि (काल) से ज्ञेय को ही ज्ञाता समझकर बरतते हैं लोग।'

'मैं चंदू हूँ', वह तो ज्ञेय है, उसे ज्ञाता मानेगा तो कभी भी हल नहीं आएगा। ज्ञाता, वह ज्ञाता है और ज्ञेय, वह ज्ञेय है। चंदूभाई का रूप, ऊँचाई, मोटापा सभी कुछ आप जानते हो। उनके विचार, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार सभी को आप जानते हो। लेकिन यह तो कहेगा, मैंने जाना और मैंने किया! अरे, तूने किस तरह से किया? जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है, लेकिन किसी तरह का भान ही नहीं है।

वह जो कल्पना से दिखाई देता है वे सारे दृश्य और ज्ञेय हैं, और जो निर्विकल्प दिखाई देता है वह ज्ञाता-द्रष्टा। यानी ज्ञाता-द्रष्टा, वह भगवान है और दृश्य व ज्ञेय तो जगत् में हैं ही। यह सब जो दिखाई देता है, वह सारा दृश्य ही है, और ज्ञेय ही है।

अनंत ज्ञेयों में कितने सारे ज्ञेय हैं? आम के पेड़ को देखें तो क्या सिर्फ पत्ते ही दिखाई देते हैं? आम भी उतने ही दिखाई देते हैं न? वे इस तरह लटके हुए भी दिखाई देते हैं न? वे ज्ञेय कहलाते हैं और हम ज्ञाता हैं।

क्रिया नहीं लेकिन संसारी ज्ञान ज्ञेय है

प्रश्नकर्ता : दादा अब इन ज्ञेयों के बारे में और अधिक सूक्ष्मता से स्पष्ट समझाइए न?

दादाश्री : ये सारे ज्ञेय, ये वकालत के ज्ञेय, फलाना के ज्ञेय, ये सब ज्ञेय हैं। मोची जो सिलाई करता है वह क्रिया ज्ञेय नहीं है, जिस ज्ञान से वह सिलता है, वह ज्ञेय है। यह जो वकालत करता है वह क्रिया नहीं, लेकिन जिस ज्ञान से वह वकालत करता है वह ज्ञान ही ज्ञेय है।

प्रश्नकर्ता : इसमें जो (वकालत का) ज्ञान प्रकट हुआ, वह इन सभी ज्ञेयों को (वकालत की क्रिया को) देख सकता है, ऐसा हुआ?

दादाश्री : जो प्रकट हुआ, उस (वकालत के) ज्ञेय को उसने

खुला किया। ज्ञेय को जानता है, और जानता है इसलिए वह व्यक्ति वकालत करता है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि जो व्यक्ति वकालत की क्रिया करता है, वह जो जानता है, वह कौन सा ज्ञान है?

दादाश्री : जो वकालत करता है, उसे जो जानता है कि वकालत कैसे की जाती है, कैसे नहीं, उन सभी में फिर वकील खुद जो भूल करता है उसे वह (बुद्धि) ज्ञान से निकालता है कि, 'यह भूल हुई, ऐसा नहीं होना चाहिए।' लेकिन किस आधार पर? कौन से थर्मामीटर के आधार पर आप इस भूल को देख सके? तो कहते हैं, उस (बुद्धि) ज्ञान के आधार पर। जो ज्ञान प्रकट हुआ है, तो वैसा होता है या नहीं होता? वह बुद्धि ज्ञान है।

क्रियाज्ञान को अहंकार जानता है और उसे भी जानती है स्वसत्ता

प्रश्नकर्ता : तमाम क्रियाएँ मात्र परसत्ता हैं। क्रिया वाला ज्ञान भी परसत्ता है तो क्रिया वाले ज्ञान को जो जानता है, वह स्वसत्ता है? इसमें जो मोची का ज्ञान है, उस ज्ञान को जो जानता है, वह स्वसत्ता हुई?

दादाश्री : उस ज्ञान को जानने वाला अहंकार है।

प्रश्नकर्ता : तो मोची के इस तमाम ज्ञान को जानने वाला अहंकार है?

दादाश्री : मोची का जो ज्ञान हुआ है, उस ज्ञान को जानने वाला कौन है? तो कहते हैं, बुद्धि। बुद्धि अर्थात् मालिक कौन? तो कहते हैं, अहंकार। अहंकार यानी कि यहाँ पर स्वसत्ता तो है ही नहीं, स्वसत्ता से उसका कोई लेना-देना नहीं है। इतने सारे ज्ञान को तू जानेगा, पूरे जगत् के मनुष्यों का सारा ज्ञान जानेगा, तब भी स्वसत्ता में नहीं आ सकेगा, कहते हैं। वह तो जब इगोइज़्म निकल जाएगा तब (स्वसत्ता में आता है)। क्योंकि कुछ जगहों पर जो बाकी रह जाता है, उस आधार पर सब कच्चा रह जाता है। 'मैं जानता हूँ', तब

तक स्वसत्ता नहीं है। 'मैं जानता हूँ', ऐसा वह जानता है न! इसलिए हमने कहा है न, 'पूरे जगत् के सब्जेक्ट्स को तू समझ लेगा, तब भी वह बुद्धि में आएगा और इस भाई ने यदि सिर्फ आत्मा जान लिया, बाकी इसे कुछ भी नहीं आता, बिल्कुल बेवकूफ हो, फिर भी वह ज्ञान में आता है। वे साहब इतने बड़े थे फिर भी उनका (ज्ञान) बुद्धि में ही आएगा।

प्रश्नकर्ता : अतः इसमें मोची को जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उससे वह मोची की क्रिया कर सकता है, तो मोची की क्रिया को जानने वाला, जिस ज्ञान के आधार पर मोची की वह क्रिया होती है...

दादाश्री : उसे अहंकार जानता है और अहंकार को स्वसत्ता जानती है। इस अहंकारी ज्ञान को स्वसत्ता जानती है।

प्रश्नकर्ता : तो यह मोची का ज्ञान, वकालत का ज्ञान, डॉक्टरी का ज्ञान, वह सब अहंकारी ज्ञान है।

दादाश्री : वह अहंकारी है।

प्रश्नकर्ता : और जो उस अहंकार को भी जानता है, वह स्व है।

दादाश्री : उस अहंकार को भी जो जानता है, वह स्वसत्ता है।

प्रश्नकर्ता : अभी, यहाँ सामने अलमारी है। मेरे ज्ञान ने जाना कि यह अलमारी है तो वह ज्ञान आत्मा का नहीं है?

दादाश्री : नहीं। ज्ञान अलमारी को नहीं जानता। उसे तो इन्द्रियज्ञान जानता है और इस इन्द्रियज्ञान ने जो जाना, उसे खुद जानता है। लेकिन जो यह सब जानता है वह इन्द्रियज्ञान! क्योंकि ये इन्द्रियाँ हैं न, उनके आधार पर ही यह दिखाई देता है। आत्मा को सीधा नहीं दिखाई देता, खुद के ज्ञान से।

प्रश्नकर्ता : सभी तरफ ज्ञेयों को देखता है, तो वहाँ पर सभी जगह आत्मा का सीधा ज्ञान नहीं है?

दादाश्री : नहीं-नहीं, यह जो दिखाई देता है न, यह सब तो

इन्द्रियज्ञान है। यह तो बाहर के लोग, अज्ञानियों में भी है। अज्ञानी के और ज्ञानी के इन्द्रियज्ञान में अंतर नहीं है। दोनों के अतीन्द्रिय ज्ञान में अंतर है। अतीन्द्रिय ज्ञान में, जो चीज़ें आँखों से नहीं दिखाई देतीं, ऐसी चीज़ों को देख सकते हैं। मन के जो पर्याय हैं, बुद्धि के पर्याय, उसे जगत् के लोग इन्द्रियज्ञान से नहीं देख सकते, उसे आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान से जानता है। यह आत्मा शरीर के तमाम प्रकार के पर्यायों को जानता है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि जानता है, वह चीज़ सहज है। आत्मा का ज्ञान इन्द्रियज्ञान को भी जानता है।

दादाश्री : आत्मा इन्द्रियज्ञान को... यह किसका ज्ञान है खुद ऐसा जानता है कि यह इन्द्रियों का ज्ञान है। आत्मा यह भी जानता रहता है।

'मैं' खुद है ज्ञान वाला, लेकिन मूल आत्मा खुद ही ज्ञान है

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने कहा 'मैं' ज्ञान वाला है तो साथ-साथ मूल आत्मा तो ज्ञान वाला है ही न?

दादाश्री : वह खुद ही ज्ञान है। खुद ज्ञान वाला नहीं, खुद ही ज्ञान है। उसे अगर ज्ञान वाला कहेंगे तो, 'ज्ञान' और 'वाला', वे दोनों अलग हैं, ऐसा हुआ। अत: मूल आत्मा खुद ही ज्ञान है, वह खुद प्रकाश ही है। उस प्रकाश के आधार पर यह सभी कुछ दिखाई देता है। उस प्रकाश के आधार पर यह सब समझ में भी आता है और इसे जान भी पाते हैं।

प्रश्नकर्ता : अत: 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', ऐसा हम बोलते हैं लेकिन मूल आत्मा किसी वस्तु को पज़ेशन (कब्ज़ा) नहीं कर लेता। वह खुद ज्ञान स्वरूप ही है।

दादाश्री : ज्ञान स्वरूप ही है, अन्य कुछ नहीं है। एब्सल्यूट ज्ञान है।

मूल आत्मा शुद्ध ही है। शुद्ध ज्ञान के अलावा और कुछ भी

नहीं है। लेकिन शुद्ध ज्ञान किसे कहेंगे? कौन से थर्मामीटर से नापकर शुद्ध ज्ञान कहा जाएगा? तो कहते हैं, जिस ज्ञान से राग-द्वेष और भय न हों, वह ज्ञान शुद्ध ज्ञान है। और शुद्ध ज्ञान, परम ज्योति स्वरूप, वही परमात्मा है। परमात्मा कोई स्थूल चीज़ नहीं है, ज्ञान स्वरूप है, एब्सल्यूट ज्ञान मात्र है। एब्सल्यूट इसलिए है क्योंकि उसमें अन्य किसी चीज़ की मिलावट नहीं है और मिलावट हो पाए, ऐसा है भी नहीं।

आत्मा गुणधर्मों को लेकर अभेद और ज्ञान रूप से अखंड

प्रश्नकर्ता : ज्ञान भेद वाला है या अभेद है?

दादाश्री : भेद वाला हो ही नहीं सकता। ज्ञान-दर्शन सब अभेद आत्मा रूप से है। जिस प्रकार सोने का रंग पीला है तो वह उसका गुण है। फिर, वह वज़नदार है, वह दूसरा गुण है। उस पर ज़ंग नहीं लगता, वह उसका गुण है। अर्थात् सोने के ये सारे गुणधर्म हैं, उसी प्रकार आत्मा के भी गुणधर्म हैं। जिस प्रकार सोना अपने गुणधर्मों में अभेदभाव से सोना ही है, उसी प्रकार आत्मा के सभी गुणों में अभेदभाव से आत्मा ही है, वहाँ पर भेद नहीं है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान अपने विचार में आता है तब तो उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, अभेद स्वरूप में नहीं रहता। जानते हैं अभेद स्वरूप से, लेकिन शब्दों में वर्णन करना हो तो भेद स्वरूपी हो जाता है।

दादाश्री : वर्णन करना हो तो भेद दिखाई ही देगा। 'सोना पीला है', ऐसा बोलना पड़ता है लेकिन एट ए टाइम सभी गुणधर्म नहीं बोले जा सकते। फिर ऐसा बोलना पड़ता है, 'वह वज़नदार है'। उसी प्रकार से 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ'... फिर भी भेद नहीं है, अभेद स्वरूप से है। वस्तु एक ही है।

प्रश्नकर्ता : कहते हैं, खुद के आत्मा के सभी गुणों का *लक्ष* बैठ जाए न, उसके बाद खुद को अखंड ज्ञान उत्पन्न होगा तब वह काम होगा, तो यह ज्ञान अखंड ही है या फिर खंड-खंड करके भी हो सकता है?

दादाश्री : ज्ञान खंड-खंड करके नहीं होता, अखंड ही होता है। बुद्धि के खंड होते हैं और ज्ञान अखंड होता है। प्रतीति के खंड होते हैं, *लक्ष* के भी खंड होते हैं लेकिन अनुभव का खंड नहीं होता, अखंड होता है अनुभव। अत: ज्ञान का खंड नहीं होता।

अनंत दर्शन, इसीलिए देख सकता है अनंत दृश्यों को

प्रश्नकर्ता : फिर, अनंत दर्शन का अर्थ क्या है?

दादाश्री : ऐसा है न, दृश्य कितने हैं? क्या वे गिने जा सकें, ऐसे हैं?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

दादाश्री : यानी कि दृश्य अनंत हैं, इसलिए दर्शन भी अनंत है। दृश्य अनंत हैं और अगर दर्शन अनंत नहीं होगा तो क्या दशा होगी? दृश्य अनंत हों और हमारे पास थोड़ा ही दर्शन हो तो कैसे चलेगा? उन्हें कैसे देख पाएँगे? द्रष्टा के दर्शन कितने? तो कहते हैं, अनंत दर्शन है।

प्रश्नकर्ता : इस तरफ अनंत दर्शन है, अनंत ज्ञान है और बीच में ज्ञानावरण है, दर्शनावरण है, उनके बारे में बताइए। दर्शनावरण किसे कहते हैं?

दादाश्री : इस जगत् के सभी लोगों में दर्शन का आवरण है, मिथ्यात्व का। सम्यक् दर्शन का आवरण हो तो उसे मिथ्यात्व कहते हैं। सम्यक् ज्ञान का आवरण मिथ्याज्ञान होता है, वह ज्ञानावरण कहलाता है।

अन्‌डिसाइडेड, वह दर्शन : डिसाइडेड, वह ज्ञान

प्रश्नकर्ता : ज्ञेय अनेक प्रकार के होने से उनके सामने मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ। दृश्य अनेक प्रकार के होने से उनके सामने मैं अनंत दर्शन वाला हूँ। ज्ञेयों और दृश्यों में क्या अंतर है, यह समझाने की कृपा कीजिए।

दादाश्री : ज्ञान और दर्शन में भिन्नता गुण है। निश्चित होने से पहले दर्शन, निश्चित होने के बाद में ज्ञान।

दर्शन अर्थात् क्या? आप पाँच-छः लोग अँधेरे में किसी जगह पर बैठे हों और बगीचे से कोई आवाज़ आई। तो आप छः-सात लोगों में से एक व्यक्ति बोल उठेगा कि 'अरे कुछ है!' ऐसा बोलते हैं या नहीं बोलते लोग? आवाज़ आए तो? फिर दूसरा कहेगा, 'हाँ, कुछ है!' तो सभी कहने लगे, 'हाँ, कुछ है!' तब मेरे जैसे किसी ने पूछा, 'लेकिन क्या है, यह बताओ न?' तो कहेंगे, वह तो कैसे पता चल सकता है? कुछ है ज़रूर। 'कुछ है', ऐसा जो ज्ञान हुआ, उसी को दर्शन कहते हैं। देखो, तीर्थंकर कितने समझदार थे। नहीं? इसे दर्शन में रखा।

प्रश्नकर्ता : दर्शन में।

दादाश्री : अब, वे सब उठकर गए देखने कि क्या है? और वहाँ जाकर एक व्यक्ति कहता है, 'अरे! यह तो गाय है।' तो दूसरा कहता है, 'हाँ, गाय है।' तो उसे कहते हैं, ज्ञान। 'कुछ है', वह दर्शन है और 'यह है', वह ज्ञान है। 'गाय है', वह ज्ञान है। डिसाइडेड हो गया। जो डिसाइडेड है वह ज्ञान कहलाता है और जो अन्‌डिसाइडेड है उसे दर्शन कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : उन संयोगों में फिर गाय ज्ञेय बन जाती है न?

दादाश्री : हाँ! गाय ज्ञेय है, पहले दृश्य थी।

द्रष्टा ने दृश्य को देखा तो दर्शन उत्पन्न हुआ। ज्ञाता ने ज्ञेय को जाना तो ज्ञान उत्पन्न हुआ।

खुद के अनंत गुणधर्मों से खुद संपूर्ण शुद्ध

प्रश्नकर्ता : आत्मा के अनंत गुण हैं या फिर ये जो ज्ञान और दर्शन हैं, उनके अनंत गुण हैं?

दादाश्री : नहीं, आत्मा के। ज्ञान-दर्शन बड़े गुण हैं, इसलिए 'ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुणों से, ऐसे अन्य अनंत गुणों से मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ।'

प्रश्नकर्ता : इसका क्या उदारहण है?

दादाश्री : यह जो प्रकाश है, इस जैसा। बाहर सब जगह यह प्रकाश है, अगर यहाँ पर हरे रंग का काँच रख दिया जाए, पीला रख दिया जाए तो नीचे प्रकाश हरा-पीला दिखाई देगा, फिर भी वह कहता है कि मैं शुद्ध ही हूँ। यह तो हरे-पीले के कारण अलग-अलग रंग बदले हैं, बाकी मैं तो खुद शुद्ध ही हूँ। उसी प्रकार से आत्मा शुद्ध ही है। बाकी, कई तरह-तरह की प्लेटे (आवरण) आ जाती हैं इसलिए उल्टा दिखाई देता है, फिर भी खुद शुद्ध है।

मेरे खुद के गुणधर्म अर्थात् ज्ञान-दर्शनादि अनंत गुणों से भी मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ। गुणों से भी शुद्ध हूँ, ऐसा कहना चाहते हैं। तत्त्व से ही शुद्ध है। गुण, जो उसमें खुद में रहे हुए हैं, उन गुणों सहित खुद शुद्ध ही है। हाँ, वे गुण भी शुद्ध हैं और वह भी शुद्ध है।

गुण अर्थात् ज्ञान व दर्शन जैसे अनंत गुण हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र, शक्ति, वीर्य। फिर, आनंद-वानंद ऐसे बहुत से गुण हैं, उन सभी गुणों को लेकर शुद्ध हूँ।

❖❖❖❖❖

[2.2]
अनंत ज्ञेयों को जानने में... शुद्ध हूँ

मौलिक वाक्य है यह दादा का, समझने से होगी पूर्णाहुति

प्रश्नकर्ता : यह जो वाक्य है न, 'अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई अनंत अवस्थाओं में मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ।' तो इसे समझाएँगे?

दादाश्री : वाक्य का अर्थ तो बताओ? जो इस वाक्य का यथार्थ अर्थ निकालेगा वह परमार्थ स्वरूप हो जाएगा। यह वाक्य शास्त्रों में से नहीं है, मेरा वाक्य है। एक शब्द का भी कोई यथार्थ अर्थ नहीं बता सकता। अर्थ पर तो परमार्थ के सौ सिरे हैं। अज्ञानी के लिए तो लाखों सिरे हैं।

अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई, अनंत अवस्थाओं में... यानी एक-एक शब्द जो है वह, यह पहले बताई गई बात नहीं है। ये तो नए शब्द हैं। लेकिन इन्हें यथार्थ रूप से समझने के लिए कितना टाइम चाहिए?

प्रश्नकर्ता : बहुत टाइम चाहिए।

दादाश्री : फिर भी इस वाक्य को समझना मुश्किल हो जाता है। अच्छे-अच्छे बुद्धि वाले भी इसे अपने आप नहीं समझ सकते।

जिस समय जो ज्ञान में भासित हुआ, वही मैंने बताया है। इसमें बुद्धि का काम नहीं है। इसमें यह एक वाक्य बहुत गहन है। ज्ञान लेने

के बाद बहुत से लोग इस वाक्य को बिना समझे गाते हैं, लेकिन गाते ज़रूर हैं। समझ में नहीं आता है न अभी। अब, इसे समझना आसान थोड़े ही है?

प्रश्नकर्ता : दादा, कृपा करके यह वाक्य समझाइए न।

दादाश्री : यह समझाएँगे तो सही, लेकिन इसे भाषा द्वारा संपूर्ण नहीं समझाया जा सकता। भाषा के शब्दों से समझाते हैं इसे तो, लेकिन यह वाक्य ऐसा है कि समझने के लिए खुद अपने आप वहाँ पहुँचना पड़ेगा। जब यह वाक्य समझ में आ जाएगा तब तो दादा के इस ज्ञान की पूर्णाहुति हो जाएगी।

यह सौ प्रतिशत, एक्ज़ेक्ट साइन्स है! 'अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई, अनंत अवस्थाओं में मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ।' इस वाक्य को समझ जाएगा तो यहीं पर परमात्मा हो जाएगा। अभी महात्माओं को रटवाया है। इस वाक्य को खुद परमात्मा के अलावा और कोई भी नहीं बोल सकता। संसार से अबंध रहने की सभी सामग्रियाँ दे दी हैं।

इसे तो, जो आत्मा के अनुभव में रहते हों, वही समझ सकते हैं। और वही समझा भी सकते हैं लेकिन लोगों को समझ में नहीं आएगा। जिसे समझ में आता है, वह औरों को समझा सकते हैं।

जगत् भरा हुआ है अनंत ज्ञेयों से

प्रश्नकर्ता : अब एक-एक शब्द को लेकर इन्हें विस्तार से बताइए। 'अनंत ज्ञेयों को' वाला वाक्य समझाइए।

दादाश्री : ये सारी जितनी भी चीज़ें हैं न, ये सभी ज्ञेय हैं। कई तो दिखाई नहीं देते हमें, थोड़े-बहुत ही दिखाई देते हैं। यह पूरा जगत् ज्ञेयों से ही भरा हुआ है। अनंत ज्ञेय, संख्यात नहीं, संख्यात होते तो गिन लेते। असंख्यात भी नहीं, अनंत हैं।

प्रश्नकर्ता : अंत ही नहीं?

दादाश्री : हाँ! कितनी चीज़ें ज्ञेय हैं? अनंत हैं। गिनी ही नहीं जा सकतीं। अगणित नहीं हैं, संख्यात नहीं हैं, असंख्यात नहीं हैं, अत: इन्हें 'अनंत' कहा है। यानी कि अनंत ज्ञेयों को जानता है आत्मा।

ज्ञेय के अनुसार बदलती है अवस्था, फिर भी ज्ञान रहता है शुद्ध ही

प्रश्नकर्ता : यह, अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई अनंत अवस्थाएँ यानी क्या?

दादाश्री : पूरा जगत् ज्ञेयों से भरा है, अनंत ज्ञेय हैं। अब, इन ज्ञेयों को जानने में आत्मा के ज्ञान की अनंत अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, और वे अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं फिर भी वे अवस्थाएँ 'उससे' चिपकती नहीं हैं। नहीं चिपकतीं, तो फिर शुद्ध ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : क्या शुद्ध रहता है?

दादाश्री : ज्ञान अवस्था 'उससे' चिपकती नहीं है। अभी आम को देखा तो अपना ज्ञान आम के आकार का हो जाता है। अपना ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है। आम के आकार का हो जाता है, जितना बड़ा हो, उतना। ऊपर डंडी वगैरह, पूरा एक्ज़ेक्ट हो जाता है। लेकिन ज्ञान अलग है और आम भी अलग है। अर्थात् ज्ञेय मुक्त और ज्ञाता भी मुक्त। फिर यहाँ से दृष्टि ऐसे घूमते ही वह दर्शन बंद हो जाता है और दूसरे ज्ञेय में जाता है। यानी कि चिपकता नहीं है। चिपकता नहीं है उसे शुद्ध ज्ञान कहा जाता है जबकि यह बुद्धिजन्य ज्ञान चिपकता है। बुद्धि का ज्ञान आम देखता है। देखता है यानी वह भी देखता है लेकिन वह आम को कितना देख पाता है? जिस प्रकार यह लाइट होती है न, यह लाइट क्या दोनों तरफ का देख सकती है? यदि इस तरफ से लाइट डाले तो आपको यह साइड दिखाई देगी, पीछे का तो नहीं दिखाई देगा न लाइट का।

प्रश्नकर्ता : नहीं दिखाई देगा।

दादाश्री : उसी प्रकार से बुद्धि को पीछे का नहीं दिखाई देता

जबकि आत्मा का तो चारों तरफ से सभी ओर छा जाता है। स्व–पर प्रकाशक सभी ओर छा जाता है। अत: यह बुद्धि आम को देखते ही उसे एक ही तरफ देख सकती है और फिर अंदर मुँह में पानी आ जाता है। आम वहाँ पर है और यहाँ मुँह में पानी आ जाता है। इतना ज़्यादा इफेक्टिव है। उसमें अलग नहीं रह सकता जबकि इसमें अलग रहता है।

फिर, यदि आम नहीं हो तो वापस आ जाता हूँ, मेरी लाइट मेरे घर में। आम को देखने जाता है, उससे मेरा नहीं बिगड़ता। आम खट्टा हो तो मैं कहीं खट्टा नहीं हो जाता।

फिर कहता क्या है? आम के आकार का हो जाता हूँ, यानी ज्ञेयों को जानने में ज्ञेयाकार हो जाता हूँ। ज्ञेयाकार हो जाता हूँ फिर भी ज्ञेय नहीं हो जाता।

प्रश्नकर्ता : शॉर्ट में, मैं आम नहीं हो गया।

दादाश्री : यह लाइट इस तरह से छुए, तो लाइट चिपक नहीं जाती उससे। यह तो, उसके मन में ऐसा लगता है कि 'यह मुझसे चिपक गया।' बिल्कुल भी नहीं चिपकता। जो ज्ञान कभी भी ज्ञेय से चिपकता ही नहीं, उसे कहते हैं ज्ञान। ये दो वाक्य समझ में आ जाएँगे तो बहुत कल्याण कर देंगे।

अब, ये तो पाँच सौ आम हैं लेकिन ऐसी अनंत अवस्थाओं में संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ। और ऐसी शुद्धि नहीं रही है इसीलिए तो यह संसार खड़ा हो गया है।

तद्रूपता का आभास 'रोंग मान्यता' से, इसके टूटने पर होता है जाग्रत

प्रश्नकर्ता : शुद्धि में नहीं रहने का कारण क्या है?

दादाश्री : सेब को देखे तो ज्ञान ज्ञेय के अनुसार हो जाता है। अत: वह ज्ञेयाकार हो जाता है, वह चिपकता नहीं है। लेकिन ऐसे में

उस रूप, तद्रूप हो जाता है, उससे परेशानी है। वहाँ पर वह छूटेगा कैसे? वह तद्रूप किससे होता है? मान्यता से। वास्तव में तद्रूप भी नहीं होता लेकिन 'रोंग मान्यताओं' से तद्रूपता का आभास होता है। मान्यता सीधी हो जाए तो 'वह' खुद के असल स्वरूप में ही है।

प्रश्नकर्ता : तो अभी तक वैसा था (तद्रूप हो जाते थे) इसलिए *पुद्गल* की अवस्था के अनुसार, 'मैं हूँ या मेरी है', वैसा होता रहता था। उसके बजाय ये पूरी अवस्थाएँ बदल जाने पर भी 'मैं शुद्ध हूँ' रहता है, ऐसा हुआ न?

दादाश्री : इन *पुद्गल* की अवस्थाओं में भी शुद्ध अर्थात् उसमें मेरी ज्ञान की (यानी) जानने की अवस्थाएँ बदलती हैं लेकिन फिर भी 'मैं शुद्ध चेतन हूँ'।

प्रश्नकर्ता : इन *पुद्गल* की अवस्थाओं में 'मैं शुद्ध हूँ', इस प्रकार से शुद्धत्व की जागृति रखे तो चेतन की अवस्था कहाँ पर होती है?

दादाश्री : आम को ज्ञेयाकार देखे और खुद शुद्ध है, वही चेतन की अवस्था है। *पुद्गल* की अवस्था में चेतन ने आम को देखा तो चेतन शुद्ध ही है। फिर आम के बजाय कुछ और देखता है तो वह वैसा हो जाता है, फिर भी शुद्ध ही है।

अत: 'अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई, अर्थात् ज्ञेय को जानने में तदाकार हो चुकीं, ज्ञेयाकार हो चुकीं, ऐसी अवस्थाओं में भी मैं शुद्ध ही हूँ', कहता है। मुझे कोई ज्ञेय स्पर्श नहीं करता लेकिन ज्ञेयाकार ज्ञेय के आकार का हो जाता है। आम आए तो, उस आकार का हो जाता है और पपीता हो तो पपीता के आकार का हो जाता है और हाथी को देखे तो हाथी के आकार का हो जाता है।

ज्ञेयाकार होकर चारों तरफ से एक्ज़ेक्ट प्रकाशित करता है

प्रश्नकर्ता : आत्मा के पर्याय ज्ञेयाकार परिणमित होते हैं, अब इसे कैसे समझें?

दादाश्री : यह जो लाइट है न, आत्मा वैसे ही प्रकाश स्वभाव वाला है। अब उसके सामने ऐसे एक नारियल रखें तो प्रकाश क्या करेगा? वह नारियल ज्ञेय है लेकिन यह प्रकाश ज्ञेयाकार नहीं हो सकेगा, उसका क्या कारण है?

प्रश्नकर्ता : वह स्व-पर प्रकाशक नहीं है न, इसलिए आवरण के कारण रुक जाता है न?

दादाश्री : नहीं, यह जो पौद्‌गलिक प्रकाश है न, बाह्य प्रकाश, जो भौतिक प्रकाश है, वह ज्ञेय को ज्ञेयाकार के रूप में नहीं देख सकता। क्योंकि एक तरफ होता है न, तो दूसरी तरफ अंधेरा रहता है। जबकि आत्मा के प्रकाश में तो कुछ भी बाकी नहीं रहता। ज्ञेय को एक्ज़ेक्ट रूप में प्रकाशित करता है। ज्ञेयाकार हो जाता है। नारियल हो तो वह नारियल जैसा हो जाता है। आम हो तो आम जैसा हो जाता है। जामुन हो तो जामुन जैसा हो जाता है। पत्ता हो तो यह ज्ञान पत्ते जैसा हो जाता है। कुछ भी बाकी नहीं रहता। उसकी इतनी सी भी छाया नहीं पड़ती। इस आत्मा का प्रकाश ऐसा है।

ज्ञेय के अनुसार ज्ञेयाकार होता रहता है निरंतर

प्रश्नकर्ता : आत्मा के वे ज्ञेयाकार परिणाम फिर सतत बदलते रहते हैं?

दादाश्री : आम दिखाए तो आत्मा का पर्याय आम के आकार जैसा हो जाता है। फिर कुछ और देखने को मिले तो उसके आकार जैसा हो जाता है और पहले वाला चला जाता है, निरंतर इस तरह से चलता ही रहता है।

अब, 'अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई', जो मैं कहता हूँ न, उसे सब अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं। मैं जो समझता हूँ, वह अलग है और आप अपनी भाषा में जो समझ जाते हो, वह अलग है। सब अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं। लेकिन फिर भी थोड़ा-बहुत समझ में आ जाए तो भी बहुत हो गया।

'ज्ञेयाकार परिणमित होता हूँ', इसमें परिणमित शब्द बहुत बड़ी बात है। यह सभी लोगों को समझ में नहीं आ सकता। ये सब तो हाँ में हाँ मिलाते हैं। गाते ज़रूर हैं लेकिन सभी को समझ में आना मुश्किल है, परिणमित होना!

परिणमित हुई : ज्ञेय की अनंत अवस्थाओं को प्रकाशित करता है

प्रश्नकर्ता : परिणमित का वास्तविक अर्थ क्या है, वह बताइए न। आप किस अर्थ में समझे हैं, वह हमें बताइए।

दादाश्री : ऐसा है न, यह ज्ञेय है, और ज्ञान तो प्रकाश ही होता है। प्रकाश ऐसे फैल जाता है सब तरफ। लेकिन जब किसी ज्ञेय को देखता है तब उसी आकार का हो जाता है। अतः यह ज्ञान, ज्ञेय के आकार वाला ही हो जाता है, उसी को परिणमित कहा जाता है। ज्ञेय के आकार वाला हो जाता है, ऐसा कहने के बजाय, परिणमित कहा जाता है। उसमें परिणमित अर्थात् यह देखा, यानी कि यह ज्ञेय है न, उसे जानने के लिए इसकी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। ज्ञेयाकार अवस्था होती है। अतः इस ज्ञेय को जानने में परिणमित अवस्था। कौन सी अवस्था परिणमित हुई? तो कहते हैं, जैसा ज्ञेय है वैसी अवस्था परिणमित हुई है।

प्रश्नकर्ता : जैसा ज्ञेय होता है, उसे वैसी अवस्था दिखाई देती है। तो उसमें उसकी जो खामी होती है, दोष या त्रुटियाँ होती हैं, तो उसे वैसा ही दिखाई देगा और अगर परफेक्ट होगा तो परफेक्ट दिखाई देगा न?

दादाश्री : बस, जैसा ज्ञेय होता है वैसा ही दिखाई देगा। अन्य कोई झंझट नहीं। ज्ञेय अधूरा हो तो अधूरा दिखाई देगा, पूरा हो तो पूरा दिखाई देगा।

अपना ज्ञान तो ज्ञान ही है, लेकिन जिस घड़ी लटकते हुए आम को देखने में परिणमित होता है तब ज्ञान आम के चारों ओर घूम जाता है। आम की हाइट कितनी, लंबाई कितनी, चौड़ाई कितनी, सारा मेज़र

(माप), उसकी डंडी-वंडी सबकुछ देखा जा सकता है, उसका दिखाव वगैरह सबकुछ दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी दिखाई देता है?

दादाश्री : सबकुछ दिखाई देता है। अत: आम का आकार कैसा है, कैसा रंग है, इतने भाग में लाल रंग है, इतने भाग में हरा रंग है, सब दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : तो वही परिणमित है?

दादाश्री : परिणमित। परिणमित द्वारा क्या कहना चाहते हैं? जब वह आम को देखता है और तब उसे जानने में ज्ञान परिणमित हुआ होता है, ज्ञेयाकार हो जाता है। सर्वत्र प्रकाश, आम के हर तरफ से ज्ञेयाकार हो जाता है, ज्ञेय के आकार वाला हो जाता है। ज्ञान आम के आकार वाला हो जाता है, उसे 'परिणमित' कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : फूल था, उसमें से छोटा आम बनना शुरू हुआ, उसमें से आम बने और पक गए, लेकिन मुझे कोई लेना-देना नहीं है, मैं शुद्ध हूँ। हाँ, साथ में था सभी के।

दादाश्री : आम की एक भी दशा ऐसी नहीं है जिसमें आत्मा का प्रकाश न हो। आम को देखते ही पूरा परमाणु रूप से देखता है। वह प्रकाश खुद कैसा हो जाता है? आम स्वरूप ही हो जाता है। उस आम के सभी भागों में वह ज्ञेयाकार में परिणमित होती है। क्या परिणमित होती है? तो कहते हैं, अनंत अवस्थाओं में, ज्ञेय की जैसी अवस्था है वैसी उसकी अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : उस ज्ञान में आम दिखाई दिया यानी कि वह उसका पर्याय हुआ न?

दादाश्री : हाँ, यानी कि वास्तव में पर्याय ज्ञेयाकार हो जाते हैं। आत्मा के जो पर्याय हैं वे ज्ञेयाकार रूपी हो जाते हैं।

ज्ञान के पर्याय ज्ञेयाकार हो जाते हैं। ज्ञान खुद ज्ञानाकार रहता है, खुद ज्ञेयाकार नहीं होता।

परिणमित होता है ज्ञेयाकार में, फिर भी नहीं बनता ज्ञेय रूपी

प्रश्नकर्ता : लेकिन ज्ञेयाकार तो आत्मा के पर्याय हो जाते हैं न? किसी भी *पुद्गल* में ज्ञेयाकार हो जाता है न?

दादाश्री : लेकिन ज्ञेयाकार होता है, तो ज्ञेयाकार को और उसे परेशानी क्या है? सिनेमा देखने जाते हो, वहाँ पर आप दर्शक हो। सिनेमा ज्ञेय है, आप ज्ञाता और आपका ज्ञान ज्ञेयाकार होता है। आप ज्ञाता हो लेकिन आपका ज्ञान जो है वह, जैसा सिनेमा का ज्ञेय हो न, उसी आकार का हो जाता है। तो जब वह आकार वहाँ पर बंद हो जाता है तब यह (आत्मा का पर्याय) भी बंद हो जाता है। अत: इसे बंद करने की ज़रूरत नहीं है। जो आकार उत्पन्न होता है, जैसा दिखाई देता है वह उसी आकार का हो जाता है, ज्ञेयाकार हो जाता है।

'ज्ञान' ज्ञेयाकार में परिणमित होता है लेकिन ज्ञेय के रूप में परिणमित नहीं होता। चिपकेगा कब कि, 'ये परवल अच्छे हैं', ऐसा बोलते ही वहाँ चिपक जाएगा और बाकी सब जगह सामान्य रूप से रहेगा।

ज्ञेयों को जानने में किसी तरह की दिक्कत नहीं है। आत्मा को ज्ञेयों के साथ बंधन राग-द्वेष से है और वीतरागता से मुक्त है। चाहे देह हो, मन हो, वाणी हो लेकिन वीतरागता से आत्मा ज्ञेयों के साथ भी मुक्त है।

ज्ञेयाकार के रूप में परिणमित होने के बावजूद, 'मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ।' (लेकिन दोनों का) सामीप्य भाव इतना अधिक है कि शादी हो ही जाती है, फिर भी 'मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ'।

चिपकता है ज्ञेय में अशुद्ध उपयोग से

बाकी, ज्ञेय बाधक नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : ज्ञेय बाधक नहीं हैं लेकिन हमें ज्ञेयों में जो आसक्ति रहती है, वह बाधक है?

दादाश्री : हाँ, बस। उसके प्रति उसे आकर्षण है। अतः हम राग को क्या कहते हैं? आसक्ति।

ज्ञान की जो अवस्थाएँ होती हैं, वे भी ज्ञेय के आकार के अनुसार, ज्ञेयाकार होती हैं। आम जैसा आकार हो जाता है, कोई व्यक्ति आ रहा हो तो उस जैसा आकार हो जाता है, सभी के आकार की (अवस्थाएँ) हो जाती हैं। फिर भी वह चिपकता नहीं है, छूट जाता है। जगत् में अशुद्ध उपयोग होने की वजह से उससे चिपक पड़ता है।

तो जगत् क्या कहता है कि आत्मा चिपक पड़ा है। अरे, नहीं चिपका है। जो चिपक जाए, वह आत्मा नहीं है और आत्मा चिपकता नही है।

प्रश्नकर्ता : जो चिपकता है वह अहंकार है?

दादाश्री : अहंकार। हमने साफ-साफ कहा ही है न!

ज्ञान में देखकर बोलते हैं दादा, यह कहीं नहीं मिलेगा शास्त्रों में

यह सब हम देखकर बोलते हैं। कितनी बड़ी बात बोलते हैं, इस पूरे जगत् को देखकर! फिर उन अवस्थाओं में परिणमित होता हूँ, आम को देखकर आम जैसे आकार का हो जाता हूँ, फिर भी मैं उनमें तन्मयाकार नहीं होता, एकाकार नहीं होता। देखने के बावजूद भी लेपायमान नहीं होता। मैं यहाँ बैठा हूँ और मुझे ज्ञेय में सब दिखाई देता है, इसका मतलब वे कहीं मुझसे चिपक नहीं जाते। यानी कि ज्ञेय को जानने में परिणमित होता है फिर भी संपूर्ण शुद्ध हूँ जबकि संसारियों को चिपक जाता है। उन्हें तो, यदि जीभ को स्वादिष्ट लगने वाली कोई चीज़ हो तो मन में इच्छा होती है, या फिर कुछ और हो तब गुस्सा आता है।

अब इसे शास्त्रों में ढूँढने जाएँगे तो कहाँ मिलेगा? अब, आम

को जानने का प्रयत्न करता है! जानने में परिणमित उस अवस्था में भी (खुद) शुद्ध ही है। अशुद्धता नहीं आती उसमें। उसे देखने से कहीं शुद्धि टूट नहीं जाती। दशा ज्ञेयाकार में परिणमित होती है लेकिन यह मुक्त ही है। कितनी ज़बरदस्त शक्तियों का धारक है!

अनंत ज्ञेय, वे ज्ञेय कितने प्रकार के हैं? ओहोहो! जहाँ देखो वहाँ ज्ञेय दिखाई दिए। उनमें भी वह (खुद) संपूर्ण शुद्ध! आत्मा का प्रकाश ज्योति स्वरूप, वह ज्ञेयों को देखता है और फिर खुद ज्ञेयाकार हो जाता है। लेकिन फिर भी उसे कुछ स्पर्श नहीं करता। उसमें भी शुद्धता! अब वहाँ मान बैठा है कि इस कर्म ने मुझे स्पर्श किया। ऐसा मान बैठा है। माना हुआ कैसे छूटेगा? वह मानता क्यों है? तो कहते हैं, अंदर पाप-पुण्य के जो पर्याय हैं न, वे पर्याय उससे ऐसा करवाते हैं, मनवाते हैं। हम उन पर्यायों को तोड़ देते हैं एकदम से, अतः भूमिका क्लियर हो जाती है। फिर जागृति आ जाती है।

ज्ञेयों में परिणमित होता है फिर भी मैं शुद्ध ही हूँ। कोई पूछे, 'वहाँ चिपक नहीं गया?' तो कहते हैं, 'नहीं भाई। मैं शुद्ध ही हूँ। इसलिए घबराना नहीं।' 'मैं' (आत्मा) कहीं बिगड़ नहीं गया हूँ, आपकी (अहंकार की) मान्यता बिगड़ी है।

पर्यायों का होता रहता है विनाश, गुण रहते हैं परमानेन्ट

प्रश्नकर्ता : यह सब देखने वाली तो ज्ञानशक्ति ही है न?

दादाश्री : हाँ, ज्ञान से देखते हैं। लेकिन ज्ञान से जो देखते हैं वह चीज़ ज्ञेय है, जानने की चीज़ है। जानना है ज्ञान से, ज्ञान से जानना है तो कैसे जाना? तो कहते हैं, उसकी अवस्थाएँ उत्पन्न हुईं। आम को देखा तो आम रूपी हो गया। वह आम टूटकर गिरे तो यह वैसा हो गया। क्योंकि चीज़ें विनाशी हैं, अतः ये पर्याय विनाशी हैं। लेकिन ज्ञान विनाशी नहीं है, ज्ञान तो ज्ञान ही है, परमानेन्ट है।

विनाशी चीज़ों में परिवर्तन होता है, इससे आत्मा की ज्ञानशक्ति का भी परिवर्तन होता है। क्योंकि अवस्थाओं को देखने वाला, ज्ञान

है। जैसे-जैसे वे अवस्थाएँ बदलती हैं वैसे-वैसे ज्ञान पर्याय बदलते हैं। पर्यायों में निरंतर परिवर्तन होता ही रहता है। ज्ञान अनंत ज्ञेयों को जानने में बदलता रहता है। जिस प्रकार अवस्थाएँ बदलती हैं वैसे ज्ञान भी बदलता है, फिर भी ज्ञान शुद्ध रहता है, संपूर्ण शुद्ध रहता है, सर्वांग शुद्ध रहता है। पर्याय बदलते हैं।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान पर्याय स्वरूप से बदलता है?

दादाश्री : हाँ, और खुद के पर्यायों को भी जो जानता है वह खुद है, शुद्धात्मा है।

आत्मा शुद्ध चित्त स्वरूप है, लेकिन उसके पर्याय विनाशी हैं। जितने समय तक ज्ञेय रहता है, उतने ही समय तक ज्ञान के पर्याय रहते हैं और ज्ञेयों के विनाशी होने के कारण पर्याय विनाशी होते हैं। आम को देखे तो उतने समय तक पर्याय उत्पन्न होता है और आम चला जाए तो पर्याय का विनाश हो जाता है।

लेकिन ज्ञेयों में निरंतर बदलाव होता रहता है। यानी कि ज्ञेयों के परिवर्तनशील होने की वजह से इस ज्ञान के पर्याय उत्पन्न होते हैं, अवस्थाएँ सारी। ज्ञेय और दृश्य परिवर्तनशील होने के कारण ज्ञाता का ज्ञान और द्रष्टा के दर्शन में पर्याय व अवस्था रूपी बदलाव होता रहता है। क्योंकि देखना क्या है? तो कहते हैं, खुद अपने आप को देखना है। खुद तो सत् है, अविनाशी ही है और इन ज्ञेयों को देखना है। ये ज्ञेय परिवर्तनशील हैं, सारे ही। वह जब परिवर्तनशील को देखता है उस क्षण उसकी, ज्ञान की अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं।

गुण का उपयोग हो तब कहलाता है धर्म

प्रश्नकर्ता : ज्ञेयों को देखने व जानने में ज्ञान व दर्शन, वे धर्म कहलाते हैं या गुण कहलाते हैं?

दादाश्री : ज्ञान, गुण कहलाता है। ज्ञान-दर्शन व सुख, ये सभी गुण कहलाते हैं। क्योंकि 'मैं हूँ, मैं शाश्वत हूँ', ऐसा कहना चाहते हैं।

उसके बाद जब उस ज्ञान का उपयोग होता है, अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई अनंत अवस्थाओं में, तब वह धर्म कहलाता है, ज्ञान का धर्म कहलाता है। ज्ञान तो गुण है, शाश्वत गुण है। उसका धर्म क्या है? ज्ञेयों को जानना।

ज्ञेयों में नहीं जाता आत्मा, जाता है ज्ञान पर्याय

प्रश्नकर्ता : आत्मा का जो ज्ञान गुण है उसके द्वारा यह जाना। अब, अतीन्द्रिय ज्ञान और वहाँ पर आत्मा होता है। अब, मेरे अतीन्द्रिय ज्ञान से मैंने यह जाना कि यह चीज़ ऐसी है तब मेरा आत्मा ज्ञेय में जाता है या नहीं?

दादाश्री : आत्मा ज्ञेय में नहीं जाता। उसमें तो ज्ञान का पर्याय जाता है। पर्याय से देखा जा सकता है यह। अगर ज्ञेय इधर-उधर हो जाएँ तो पर्याय भी इधर-उधर हो जाते हैं। ज्ञेय कम-ज़्यादा हो जाते हैं तो पर्याय भी कम-ज़्यादा हो जाते हैं। ज्ञेय के आधार पर पर्याय बदलते हैं।

ज्ञेयों के और ज्ञान के पर्यायों के बीच निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, तभी तो वे दोनों इकट्ठे होते हैं।

लेकिन ज्ञेय और ज्ञाता एकाकार नहीं हों, उसे कहते हैं ज्ञान।

पर्याय की यथार्थ पहचान करवाई ज्ञानी ने

प्रश्नकर्ता : दादा, अब ये जो पर्याय हैं वे किसे दिखाई देते हैं? देखने वाला कौन है?

दादाश्री : प्रज्ञा!

प्रश्नकर्ता : अब ये पर्याय जब बाहर जाते हैं तब ज्ञेय को देखते हैं।

दादाश्री : पर्याय का उत्पन्न होना, उससे फिर दिखना शुरू होता है।

प्रश्नकर्ता : अब यही पर्याय अंदर जाते हैं न? जो पर्याय बाहर थे, ज्ञेयों को देख रहे थे, वे पर्याय वापस मुड़े। और ज्ञान में या दर्शन में, कहाँ जाकर समाते हैं?

दादाश्री : नहीं, पर्याय तो ज्ञेयों में ही जाएँगे। पर्याय तो अभी वहाँ पर सिद्ध लोगों के जो हैं न, वे ज्ञेयों में ही जाते हैं। ज्ञेयों के अलावा वे कुछ और नहीं देख सकते। और जब तक देखते नहीं और जानते नहीं हैं तब तक आनंद बंद हो जाता है। देखते और जानते हैं तभी उसे आनंद उत्पन्न होता है। अतः वहाँ पर उन सिद्धों को भी पर्याय में देखना और जानना होता है।

प्रश्नकर्ता : यह स्पष्ट करना है कि जो पर्याय बाहर जाते हैं ज्ञेयों में, अब वे पर्याय यदि अंदर जाएँ, तो क्या ज्ञान में या दर्शन में समाएँगे? यदि वह पर्याय ज्ञान का होगा तो ज्ञान में समाएगा, दर्शन का होगा तो दर्शन में समाएगा...

दादाश्री : ज़रूरत ही नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो वह क्या है?

दादाश्री : पर्याय तो बाहर का देखने के लिए है। क्यों? तो बाहर देखने की जो चीज़ें हैं न, वे परिवर्तनशील हैं इसलिए पर्याय भी परिवर्तनशील हैं। और जो मूल गुण हैं वे इधर-उधर नहीं होते।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का ज्ञान तो पर्यायों में ही आता है न या किसमें आता है?

दादाश्री : हाँ, पर्यायों में आता है लेकिन पर्यायों को आत्मा नहीं कहते। द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों एक साथ हों तब वस्तु कहलाती है, तत्त्व कहलाता है, और वह तत्त्व पूरा ही चाहिए। सिर्फ पर्यायों से नहीं चलेगा। गुणों के बिना पर्याय भी नहीं हो सकते। लेकिन पर्याय विनाशी हैं। लोग क्या समझे हैं कि आत्मा, ज्ञान के अलावा कोई और चीज़ होगी। इसलिए हम क्या कहते हैं कि वह एब्सल्यूट ज्ञान मात्र ही है।

द्रष्टा खुद ही मुख्य है, दृष्टि तो द्रष्टा का पर्याय है

फिर अनंत दृश्यों को देखने में परिणमित, अर्थात् खुद दृश्य स्वरूप हो जाता है, फिर भी खुद है द्रष्टा।

प्रश्नकर्ता : दृष्टि ही द्रष्टा है न, जिसे हम चेतन कहते हैं?

दादाश्री : दृष्टि तो उसका पर्याय है, द्रष्टा का पर्याय है।

प्रश्नकर्ता : पर्याय में भी द्रव्य तो समाया हुआ ही है न?

दादाश्री : पर्याय तो द्रव्य का प्रतिक्षण उत्पन्न होता हुआ भाव है। प्रतिक्षण उत्पन्न होती हुई अवस्था है। यानी कि द्रष्टा ने यह दृश्य देखा, यह देखा, यह देखा, यह देखा। द्रष्टा दृष्टि से देखता है। वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। चींटी दिखाई देती है, फिर शेर दिखाई देता है। फिर कुछ और, यानी कि उन अवस्थाओं में पर्याय निरंतर बदलते रहते हैं, द्रष्टा नहीं बदलता।

प्रश्नकर्ता : पर्याय में तत्त्वदृष्टि से तो द्रव्य दिखाई देगा न? पर्याय में तत्त्वदृष्टि ही द्रव्य है न?

दादाश्री : नहीं। पर्याय में तत्त्वदृष्टि नहीं होती, तत्त्व में तत्त्वदृष्टि होती है।

किरण सूर्य नहीं है, सूर्य ही सूर्य है। उसी प्रकार ये पर्याय किरण रूपी हैं। यदि कोई बादल आ जाए तो वे बंद हो जाते हैं लेकिन सूर्य कहीं गया नहीं है। या फिर इस किरण को तो यों ही अगर यहाँ पर कोई कपड़ा बाँध दें तो देख नहीं पाएँगे। सूर्य ही मुख्य चीज़ है। गुण शाश्वत होते हैं, पर्याय बदलते रहते हैं।

ज्ञेयों के कारण ज्ञान, लेकिन प्रकट होता है स्वतंत्र रूप से

प्रश्नकर्ता : 'ज्ञेयाकार में प्रकट होता हुआ खुद का परिणाम, वह मूलतः खुद के कारण ही प्रकट होता है?'

दादाश्री : खुद के कारण ही प्रकट होता है।

प्रश्नकर्ता : जो ज्ञान प्रकट होता रहता है वह स्वतंत्र रूप से प्रकट होता है न, या ज्ञेय के कारण प्रकट होता है?

दादाश्री : ज्ञान स्वतंत्र है, लेकिन ज्ञान ऑर्डर (अमल) में कब तक रहता है? तो कहते हैं, ज्ञेय होते हैं तभी यह ज्ञान है, वर्ना रहेगा ही कैसे?

प्रश्नकर्ता : ज्ञेय होते हैं तभी ज्ञान होता है, वह सही है लेकिन जो ज्ञान प्रकट हुआ है वह स्वतंत्र रूप से हुआ है या ज्ञेय के कारण हुआ है?

दादाश्री : नहीं, स्वतंत्र रूप से प्रकट हुआ है। प्रकट होने के बाद में ज्ञेय को देख सकता है।

प्रश्नकर्ता : अब, यह जो ज्ञान प्रकट हुआ, वह अवस्था पूर्व निश्चित है?

दादाश्री : नहीं, वह अवस्था पूर्व निश्चित नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर ऐसा हुआ न, कि वह ज्ञेय के कारण प्रकट हुआ? ऐसा अर्थ हुआ?

दादाश्री : ज्ञेय को लेना-देना नहीं है न! ज्ञेय का इससे लेना-देना नहीं है।

तत्त्व होते हैं गुण व अवस्था सहित ही

प्रश्नकर्ता : अब यह बताइए न, अनंत अवस्थाएँ यानी?

दादाश्री : ज्ञेय अनंत हैं इसलिए अवस्थाएँ अनंत हो जाती हैं।

प्रश्नकर्ता : ठीक है, लेकिन उन्हें अनंत अवस्था क्यों कहा गया है?

दादाश्री : आत्मा की भी अवस्थाएँ हैं, अनंत अवस्थाएँ हैं। अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई अनंत अवस्थाओं में मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ। भगवान कहते हैं, जितने तत्त्व हैं उन सभी में

गुण होते हैं और उनकी अवस्थाएँ होती हैं। यदि अवस्थाएँ नहीं हैं तो वह तत्त्व नहीं है। आत्मा की अनंत अवस्थाएँ हैं। दिन में यहाँ पर मोटर-घोड़ा गाड़ी की भाग-दौड़ चल रही हो तब सिद्ध आत्माओं की अवस्थाएँ बहुत बढ़ जाती हैं और रात को जब शांत हो जाता है तब कम हो जाती हैं। अनंत ज्ञेय यानी अनंत अवस्थाएँ।

सामान्य भाव से देखा तो छूटा, विशेष भाव से चिपका

और वे अवस्थाएँ बदलती ही रहती हैं, बारात में, शादियों में, घर में, मार्केट में, लेकिन किसी भी अवस्था में मेरा ज्ञान मैला नहीं होता। अवस्थाएँ निरंतर बदलती ही रहती हैं। यों एक आम को देखकर फिर वापस दूसरा कुछ देखता है, तीसरा देखता है, चौथा देखता है, वे पर्याय हैं। अवस्थाएँ सारी बदलती रहती हैं। लेकिन ज्ञान की अवस्थाएँ शुद्ध ही रहती हैं।

इन सभी ज्ञेयों को देखते हैं इसलिए वैसी ही सारी अवस्थाएँ हो जाती हैं लेकिन हम शुद्ध ही हैं। अपनी शुद्धता में कोई कमी नहीं आती। जलेबी देखी या कुछ और देखा लेकिन देखने से शुद्धता में कोई कमी नहीं आती। जलेबी देखकर अगर आप उसमें मेरापन करते हो और मोह करते हो तभी नुकसान होता है। देखकर यदि मुँह बिगड़ जाए न, तो उससे नुकसान होता है। क्योंकि विशेष किया, सामान्य भाव से नहीं देखा। बैंगन अच्छे हों तो उन्हें देखकर उनमें तन्मय हो जाता है और वैसे ही आकार वाला हो जाता है। ज्ञेयाकार हो जाता है, तो भगवान ने कहा है कि तू ज्ञेयाकार हो जाएगा तो उसमें हर्ज नहीं है, लेकिन सिर्फ तू उस अवस्था को जान, तो फिर तू मुक्त रह पाएगा। सभी चीज़ों को सामान्य भाव से देखना चाहिए, विशेष भाव से मत देखना। विशेष भाव से देखा तो चिपका ही समझो।

आपको सिर्फ ज्ञेयों को जानने का ही अधिकार है।

प्रश्नकर्ता : इसका अर्थ यह है कि सहज भाव रहे तो उसमें हर्ज नहीं है?

दादाश्री : सहज भाव ही बस। शरीर जलेबी खाए और आप अपने सहज भाव में, आप ज्ञाता-द्रष्टा रहो, बस यही।

सर्वांग : सर्व प्रदेशों में संपूर्ण शुद्ध

प्रश्नकर्ता : यह जो संपूर्ण शुद्ध और फिर सर्वांग शुद्ध ऐसा लिखा है, ऐसा क्यों लिखा है?

दादाश्री : ताकि लोगों को पता चले कि सभी प्रकार से शुद्ध हो चुका है। ऐसा समझने के लिए लिखा है।

प्रश्नकर्ता : तो आत्मा के जो अंग हैं वे सर्वांग हैं?

दादाश्री : अंग नहीं होते, आत्मा के प्रदेश हैं। सर्व प्रदेशों से शुद्ध है लेकिन प्रदेश समझ में नहीं आएँगे इसलिए सर्वांग कहा है। सर्वांग अर्थात् संपूर्ण। ताकि लोगों को समझ में आ जाए। प्रदेश समझ में नहीं आ सकते।

प्रश्नकर्ता : संपूर्ण शुद्ध और सर्वांग शुद्ध में क्या अंतर है?

दादाश्री : संपूर्ण शुद्ध हूँ अर्थात् एक्ज़ेक्टली शुद्ध ही हूँ, फिर वह भी सभी अंगों सहित, सभी अंगों सहित शुद्ध हूँ, इस प्रकार विस्तार से कहा है। सर्वांग अर्थात् सभी अंगों से, अंग-उपांग सभी में शुद्ध हूँ। अशुद्धता अब किसी भी जगह पर नहीं रही है। वास्तव में शुद्ध ही हूँ। मुझमें कभी अशुद्धि आई ही नहीं। सर्वांग शुद्ध है। सभी अंगों से शुद्ध हूँ। मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ और सर्वांग शुद्ध हूँ, मुझे कुछ भी स्पर्श नहीं करता। तब लोग पूछेंगे कि, 'यह सब देखते-करते हो तो आपको कोई कर्म नहीं बंधते?' तो कहते हैं, 'नहीं भाई, मुझे तो कोई कर्म नहीं बंधते।'

प्रश्नकर्ता : इस प्रकार से सभी द्रव्य खुद अपने आप में सर्वांगी शुद्ध हैं न?

दादाश्री : ये सभी द्रव्य शुद्ध ही हैं।

प्रश्नकर्ता : 'अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई अनंत

अवस्थाओं में मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ।' तो, 'जब हम यह बोलते हैं तब अंदर क्या परिणाम आने चाहिए?'

दादाश्री : कोई भी परिणाम नहीं आना चाहिए। इसे समझना चाहिए। इतनी सारी चीज़ें जानने की होने के बावजूद भी, उन्हें जानता हूँ फिर भी वे मेरी शुद्धता को नहीं बिगाड़तीं, ऐसा कहना चाहते हैं। 'गटर को देखता हूँ और जानता हूँ, फिर भी मेरा ज्ञान नहीं बिगड़ता और इत्र को देखता हूँ, जानता हूँ, बाकी सब करता हूँ, खराब या अच्छा देखता हूँ लेकिन ऐसा करने पर भी मेरा यह ज्ञान उनमें एकाकार नहीं हो जाता।' लेकिन लोग अंदर उलझन में पड़ जाते हैं कि ऐसा देखने से आत्मा बिगड़ जाएगा।

प्रश्नकर्ता : 'द्रव्य-गुण व पर्याय से संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ', तो यह जो द्रव्य से, गुण से और पर्याय से, उसका शुद्धत्व किस तरह से समझ में आएगा? और यह बोलने से बाहर फल आया है, ऐसा किस तरह से पता चलेगा?

दादाश्री : चिंता नहीं होगी तब। *उपाधि* (दु:ख) के परिणाम आने पर भी चिंता नहीं हो तो उस पर से पता चलेगा। पास हुआ तो पता नहीं चलेगा कि भाई, अच्छा लिखा होगा! अगर कोई पूछता रहे तो कहेंगे, 'भाई, मार्क्स देख आओ मेरे।'

ज्ञान समझने से परिणमित होगा अनुभव में

प्रश्नकर्ता : दादा, कभी ये बातें बहुत मुश्किल लगती हैं न, ऐसा लगता है कि यदि यह सब नहीं समझेंगे तो अपना मोक्ष हो पाएगा या नहीं?

दादाश्री : ये भाई पर्याय को नहीं समझते, तो क्या इस वजह से मोक्ष में नहीं जा पाएँगे? तो कहते हैं, 'नहीं, ऐसा नहीं है।' क्योंकि ज्ञानी पुरुष के आश्रय में रहकर जाना है न? जानने जाएँगे तो कभी उल्टा भी हो सकता है, इसके बजाय अनजान रहे, वही अच्छा। यह तो, इतना भी समझ में आया है। ये जो वाक्य दिए हैं न सारे, इन वाक्यों के आधार पर समझ में आया है।

प्रश्नकर्ता : इसमें ऐसा है न दादा, यही चीज़ बोलनी है लेकिन यदि समझ कर बोलें...

दादाश्री : तो फल मिलेगा, बहुत अच्छा मिलेगा और कभी न कभी समझना ही पड़ेगा न? इसीलिए मैं कहता हूँ कि कुछ न कुछ समझना। विचार आते हों, तो जो पूछना हो वह पूछना। लेकिन ठंडक ऐसी रहती है न, कि लगता है, 'पूछने की बात तो पूछ लेंगे, बाद में पूछ लेंगे।' क्योंकि ठंडक है न! कभी किसी बीमार आदमी से हम कहें कि, 'संडास?' तो वह कहेगा, 'दो लोग पकड़कर ले जाएँ तब जा पाता हूँ मैं।' लेकिन यदि उसके पीछे शेर पड़ जाए तो? दौड़ेगा उस समय। दो लोग पकड़ें-वकड़ें, ऐसा कुछ भी नहीं। वह सच में दौड़ेगा, अच्छे से! शेर पीछे नहीं पड़ा है, इस वजह से यह झंझट है।

फिर भी हर्ज नहीं है, दादा का ज्ञान है न! लेकिन जितना हो सके उतना असंतोष रखना, थोड़ा-थोड़ा। मन में ऐसा रखना कि यह जानना है, विशेष प्रकार से। और ऐसा जानना है इसीलिए तो आते हैं सभी लोग। यों ही कोई आता है क्या? घर पर ही आराम से बैठे रहते, यहाँ पर क्यों आते होंगे? क्योंकि उनकी इच्छा है, भावना है कि इसे जानकर पूर्ण कर लेना है।

बात को समझोगे तो काम आएगी। इस ज्ञान को सिर्फ समझना ही है, करना कुछ भी नहीं है। समझ में आ गया तो उसका परिणाम भी आ जाएगा। यह समझ भी पारिणामिक है और परिणाम भी पारिणामिक है। अत: तुरंत ही परिणाम में आ जाता है। जिस समझ से परिणाम नहीं आते, उसे समझ कहेंगे ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वह तो, जब आप ऐसे करते-करते यहाँ समझाते हैं तो समझ में आता है।

दादाश्री : यह तो ऐसे करते-करते टुकड़े-टुकड़े में ज़रा समझाते हैं। फिर ऐसे करते-करते समझ में फिट हो जाएगा।

शास्त्रों से परे बातें, अक्रम विज्ञान में

प्रश्नकर्ता : ज्ञानविधि में आप बुलवाते हैं उस समय बोल तो लेते हैं लेकिन...

दादाश्री : बोलने की ही ज़रूरत है। बोलेगा तो कभी न कभी उगेगा। अंदर छप गया है न! अतः जो कहता हूँ न, बाद में वह समझ जाएगा कभी न कभी। यदि बोला ही नहीं होगा तो क्या हो सकेगा?

प्रश्नकर्ता : फिर भी दादा, आप जो बुलवाते हैं उसके पीछे कोई गूढ़ वैज्ञानिक कारण दिखाई देता है।

दादाश्री : हाँ, बुलवाता हूँ। जब तक वह नहीं बुलवाऊँगा तब तक अंदर आत्मा अलग नहीं होगा न! इस अक्रम विज्ञान की यही तो सारी अद्‌भुतता है! नहीं तो आत्मा कभी भी अलग नहीं हो पाएगा। एक्ज़ेक्ट भेदज्ञान होना चाहिए। शास्त्रों में भेदज्ञान नहीं होता। ऐसा वाक्य होता है क्या कभी भी शास्त्रों में?

प्रश्नकर्ता : ना, है ही नहीं।

दादाश्री : ये वाक्य अनुभव सिद्ध हो जाएँ तो यहीं पर मुक्ति हो जाएगी। और ऐसे वाक्यों के बिना छुटकारा नहीं हो सकता और आत्मा मुक्त नहीं हो सकता कभी भी। मूल द्रव्य और उसकी मूल बातें होनी चाहिए। मौलिक बातें होनी चाहिए, शास्त्रों की बातें नहीं चलेगीं।

अद्‌भुत वस्तु प्राप्त हुई ज्ञानी की कृपा से

प्रश्नकर्ता : इसके लिए तो प्रकट पुरुष के आधार की आवश्यकता है। उनकी प्रकटता, उन्हीं का ज्ञान, अपना नहीं, उसी की अनुभूति होगी तो काम होगा।

दादाश्री : तो फिर हम कैसे हैं, यह पता नहीं चला? ऐसा होने के बावजूद, इतनी धमाल होने के बावजूद भी शुद्धता नहीं जाती, इसी को कहते हैं अक्रम, जबकि क्रम में तो संग छोड़ने के बाद ही असंग हो पाओगे।

यह बात किसी भी जगह पर नहीं है। इस बात की किसी भी जगह पर चर्चा नहीं करनी है। क्योंकि वे ज्ञेय को भी नहीं समझते। नहीं समझ सकते हैं इसे लोग। समझ ही नहीं सकते न! किसी के बस की बात ही नहीं है यह तो! यह बात ही अद्भुत कही जाएगी।

'अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई', इस वाक्य का अर्थ निकालना हो तो नहीं मिलेगा। इससे क्या कहना चाहते हैं, वह भी समझ में नहीं आएगा। हमें आत्मा प्राप्त हो गया है न? *लक्ष* में बैठ गया है न? फिर इससे अधिक और क्या चाहिए? और वह आत्मा अपने खुद के गुणधर्मों सहित है ही!

प्रश्नकर्ता : लेकिन फिर भी दादा, ऐसा होता है कि आपके जैसा कब होगा?

दादाश्री : गुणस्थानक (निश्चय का) तो आपको भी वही प्राप्त हुआ है जिसमें दादा हैं। बाकी, दादा तो सारा सामान पहले से ही भरकर लाए हैं।

आपकी भी ऐसी ही दशा हो गई है लेकिन यह ज्ञान रास्ते चलते मिल गया है। इसलिए बाहर धूल उड़ी कि ध्यान वहाँ पर चला गया, लेकिन उसे नहीं देखना है। धूल उड़े, कंकड़ उड़े, सबकुछ उड़ेगा लेकिन वे ज्ञेय हैं और हम ज्ञाता हैं। हमें ज्ञाता पद में बैठकर ज्ञेय को जानना है। पूरा ही जगत् उड़ जाए, माँ-बाप-बच्चे, मृत्यु शैय्या पर हों और वहाँ पर यदि ज्ञेय-ज्ञाता का संबंध रखे रहे तब यह विज्ञान उत्पन्न होगा। उनका मरना भी व्यवस्थित है न!

खुद सिर्फ ज्ञान सत्ता है। ज्ञाता सत्ता में रहे तो मुश्किलें खत्म। जितना पहले का उल्टा अभ्यास हुआ होगा न, उतना ही असर होगा। आपको आत्मज्ञान हो गया है, इसे क्या कुछ कम कहा जाएगा? वर्ल्ड में पूज्य होने जैसा पद प्राप्त हुआ है। बाकी, आप में आत्मा खड़खड़ाता ही है। आत्मा जो *लक्ष* में आया है वह खड़खड़ाता ही है। खड़खड़ाता है का मतलब यह नहीं कि डिब्बे में गोला डाल कर खड़खड़ाएँ वैसी आवाज़ आती है। यह आवाज़ वाली चीज़ नहीं है।

किसी को एक क्षण के लिए भी इसका *लक्ष* नहीं हुआ होगा और आप में तो हमेशा के लिए यह *लक्ष* बैठ गया है। अब कभी भी *लक्ष* को न चूकें, वही विज्ञान है।

सर्व ज्ञेय दिखाई देते हैं पूर्णतः, केवलज्ञान में

प्रश्नकर्ता : जिस प्रकार से आम का उदाहरण दिया न, तो उसी प्रकार से किसी मनुष्य या किसी व्यक्ति या किसी जीव या किसी प्राणी की भी तमाम अवस्थाओं का हमें पता चल सकता है? अंदर का सब पता चल सकता है?

दादाश्री : सब पता चल सकता है। अंदर-बाहर सबकुछ पता चल सकता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन जब वह स्टेज आएगी तब न?

दादाश्री : वह तो जब केवलज्ञान होगा तब।

प्रश्नकर्ता : केवलज्ञान होगा तब हमें ऐसा दिखाई देगा या फिर ऐसा समझ में आने पर हमें ऐसा पता चलेगा न, कि हमें केवलज्ञान होने लगा है?

दादाश्री : यह ज्ञान मिलने के बाद दो-एक जन्मों में जब वह खाली हो जाएगा, भरा हुआ माल तो उन फाइलों के खत्म होते ही फुल गवर्नमेन्ट। तब तक इन्टरिम गवर्नमेन्ट। फाइलें खत्म हो गईं तो फुल गवर्नमेन्ट। फाइलें यानी क्या? जो मन में आती रहती हैं। वे मन में, बुद्धि में आती रहती हैं। जब क्रोध आता है तब क्रोध-मान-माया-लोभ होते रहते हैं, वे सब फाइलें हैं।

प्रश्नकर्ता : मैं यदि इसे इस प्रकार से लूँ कि मुझे औरों की अनंत अवस्थाओं का ज्ञान नहीं चाहिए, मुझे मेरी ही अनंत अवस्थाओं का ज्ञान चाहिए, तो?

दादाश्री : वह तो, यह भी होगा और वह भी होगा, दोनों साथ में ही होगा। ऐसे ज़रा सा नहीं होगा। सुबह होते ही सूर्यनारायण सब

जगह एक साथ उग जाते हैं। वे सिर्फ हमारे लिए नहीं उगते, वे सभी के लिए उगते हैं।

पहले स्थूल देखता है उसके बाद होता जाता है सूक्ष्म, अंत में निरालंब

प्रश्नकर्ता : ज्ञानी को सभी ज्ञेयों का पता चलता है, लेकिन क्या वे किसी को बता नहीं सकते?

दादाश्री : उसके लिए शब्द ही नहीं हैं, अवर्णनीय, अवक्तव्य है।

प्रश्नकर्ता : आप ज्ञानी हैं, तो आप जब किसी भी व्यक्ति को देखते हैं तब उसकी तमाम अवस्थाओं का आपको पता चल जाता है। अब हमारी, ज्ञेयों को जैसा है वैसा जानने की शुरुआत कब होगी?

दादाश्री : वह शुरुआत तो हो गई है। अभी ये मन-वन सब दिखाई देते हैं, पढ़ पाते हो। वह सब ज्ञेय है और आप ज्ञाता हो। बुद्धि क्या उछल-कूद मचा रही है और यह सब क्या हो रहा है, यों जो है, आप वह सब जानते हो। वे ज्ञेय हैं और आप ज्ञाता हो। लेकिन जब वह अत्यंत सूक्ष्म हो जाएगा तब बहुत प्रकार से जान सकोगे। अभी यह ऊपर का स्थूल भाग दिखाई देता है, लेकिन स्थूल भाग दिखाई देता है इसलिए ज्ञेय-ज्ञाता का संबंध (स्थापित) हो गया। तभी से वह मुक्ति प्राप्त करेगा ही। बाकी, ज्ञेय-ज्ञाता का संबंध कब होता है? आत्मा प्राप्त होने के बाद में। और फिर सभी पर्याय शुद्ध होने के बाद अनंत ज्ञान कहलाता है। सूक्ष्म संयोग तो तभी झलकेंगे जब ज्ञान के शुद्ध पर्याय उत्पन्न होंगे और जिनके सभी पर्याय शुद्ध हो जाएँ वे अनंत ज्ञानी, परमात्मा स्वरूप!

यानी कि पर्याय हमेशा सूक्ष्म होते जाएँगे दिनोंदिन। संसार की सभी देखने लायक अवस्थाएँ देख ली जाएँगी, उसके बाद में वह सूक्ष्म स्तर आएगा, जल्दी से, एकदम से। उसके बाद जो दशा आएगी वह अवलंबन रहित होगी, निरालंब होगी। ज्ञानी निरालंब होते हैं। हमें कोई भी अवलंबन, शुद्धात्मा शब्द का या किसी भी तरह का अवलंबन नहीं

है। आपको शब्द का अवलंबन दिया है, हमारे लिए अवलंबन नहीं है। आपको कोई परेशानी आए तो आप शुद्धात्मा में घुस जाते हो। और हमें तो कोई परेशानी आए न, तो हम निरावलंबन में ही रहते हैं। फिर हमें अवलंबन की ज़रूरत ही नहीं है न! आपकी भी वह स्थिति आएगी बाद में। यह माल खप जाएगा, तब।

सिद्धात्मा नहीं करता मेहनत घूमने की, झलकता है सारा अंदर ही

प्रश्नकर्ता : फिर सिद्धक्षेत्र में पूरे ब्रह्मांड के ज्ञेयों का सबकुछ जानना है, तो मेरा आत्मा सभी जगह घूमेगा?

दादाश्री : नहीं! घूमेगा नहीं, अंदर झलकता है। घूमने की ज़रूरत नहीं है, झलकता है अंदर। जिस प्रकार यह दर्पण अपनी जगह पर खड़ा रहता है और जितने लोग आते हैं न, वे सभी उसमें झलकते हैं। हाँ, ज्ञान में ही झलकते हैं।

प्रश्नकर्ता : अब, जहाँ ज्ञान है वहाँ आत्मा होता है, तो फिर हर जगह जो कुछ भी झलकता है तो वहाँ सब जगह मेरा आत्मा है?

दादाश्री : आत्मा है ही। जहाँ ज्ञान नहीं, वहाँ आत्मा नहीं।

प्रश्नकर्ता : हम जितने-जितने ज्ञेय देखते हैं, यानी कि ज्ञान से जो ज्ञेय देखते हैं, तो हम जहाँ-जहाँ दूर-दूर के ज्ञेय देखते हैं, तो मेरा आत्मा वहाँ-वहाँ, सभी जगह जाता है?

दादाश्री : नहीं-नहीं। कहीं भी जाने की ज़रूरत नहीं है। वे जहाँ बैठे हैं न, वहाँ सिद्धक्षेत्र में बैठे हैं, वहाँ अंदर सबकुछ झलकता है। मैंने हाथ ऊँचा किया न, वह उन्हें उनके ज्ञान में झलकता है। उन्हें देखने नहीं जाना पड़ता, उपयोग नहीं रखना पड़ता। उपयोग रखने जाएँगे तो मेहनत होगी। उपयोग तो हमें रखना है। क्योंकि दुरुपयोग किया है, इसलिए शुद्ध उपयोग में आना पड़ता है। लेकिन उनके लिए शुद्ध उपयोग जैसा कुछ रहा ही नहीं न!

निज अवस्था को ज्ञेय रूप से देखता है, खुद तत्त्व स्वरूप परमात्मा

प्रश्नकर्ता : दादा, अंत में तो निज अवस्था को भी ज्ञेय के रूप में देखने वाला खुद ही तत्त्व स्वरूपी ज्ञान परमात्मा बन जाता है न?

दादाश्री : बस! आप इन 'चंदूभाई' को देखते रहो। खुद की निज अवस्था, चंदूभाई आपकी निज अवस्था है। उसे देखते ही आप, अवस्था के रूप में देखते हो तब आप खुद ही परमात्मा हो। निज अवस्था को भी ज्ञेय के तौर पर देखने वाला, अभी इसे ज्ञेय के तौर पर अलग देखे तो वह तत्त्व स्वरूप परमात्मा ही है। इस तरह, देखना और जानना आपका काम है और चंदूभाई का काम क्रिया करने का है, ऐसा कहना चाहता है यह वाक्य।

इस निज अवस्था को यानी कि आपकी यह जो अवस्था है, ये चंदूभाई, इन्हें 'ज्ञेय' के स्वरूप में, यानी कि आप खुद तो 'ज्ञाता' हो और ये 'ज्ञेय' हैं, इस प्रकार से देखने वाला...

प्रश्नकर्ता : देखने वाला, तत्त्व स्वरूपी ज्ञान खुद ही परमात्मा है।

दादाश्री : सही है।

ये जो चंदूभाई हैं वे ज्ञेय हैं, इनमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। एक जन्म के लिए (इनका) आकार भी निश्चित है। लेकिन फिर भी निरंतर बदलता ही रहता है।

अब नहीं रहा छानने को फिर से

मूल आत्मा का एक शब्द बोलूँ, 'अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई अनंत अवस्थाओं में मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ।' यह उसकी समझ में आ जाए, ऐसा कितनी बार उसकी समझ में आ जाए तब फिट होगा।

छानना हो तब तक छानो। बाकी, सब छान ही दिया है। अब, फिर से गेहूँ और कंकड़ को छानने की ज़रूरत नहीं है। यह तो कभी-कभी ही साधारण रूप से बात हो जाए तो वह अलग बात है। बाकी,

एक बार आत्मा अलग हो गया, उसके बाद उसे फिर से छानने की ज़रूरत नहीं है। तो अब वह आज्ञा में रहे। जिन आज्ञाओं का पालन करना है, उनमें ही रहना है। लेकिन फिर भी मन का स्वभाव है, किसी बात को उल्टी तरह से करता है। इसका हल लाना होगा। वर्ना कोई ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत कब तक है? जब तक ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप के भेद हैं तब तक ज़रूरत है। अभेद हो जाने के बाद कोई ज़रूरत नहीं है। अपना अभेद स्वरूप है, आत्मा अपना अभेद स्वरूप है और पहले वह दर्शन सीखना पड़ेगा, उसके बाद ज्ञान सीखना पड़ेगा।

प्रश्नकर्ता : फिर तप करना पड़ेगा। फिर समझ कर समा जाने की बात आती है।

दादाश्री : जिसमें अभी भी कमी है न, उसे समझकर समा लेना चाहिए। किसी को आज्ञा समझ में आ गई और आज्ञा का पालन होता ही है, फिर दिक्कत नहीं न! ज़रूरत ही नहीं है न! फिर भी मन उछल-कूद कर रहा हो तो बैठाकर, कुछ देर बातचीत करना। कुछ समझना बाकी रह गया हो तो समझ लेंगे ताकि समा जाए। यह बहुत सूक्ष्म बात है।

अब जगत् इस तक कैसे पहुँच सकता है? समकित-वमकित तक तो पहुँच ही नहीं सकता। केवलज्ञान स्वरूपी आत्मा दिया है। यह वाक्य है, यही केवलज्ञान स्वरूप है। 'अनंत ज्ञेयों को जानने में परिणमित हुई अनंत अवस्थाओं में मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ', यह केवलज्ञान वाक्य है। इसे द्रव्य-गुण व पर्याय से समझ लेगा तो सारा, पूरा ही केवलज्ञान समझ जाएगा।

अनंत ज्ञेयों को जानने में... हमारे इस वाक्य में इतना अधिक बल है कि बोलते ही फुल केवलज्ञान स्वरूप हो जाएगा। इस वाक्य को समझना है बहुत मुश्किल, लेकिन बोलने से फुल केवलज्ञान स्वरूप हो जाएगा। करेले का नाम नहीं जानता हो लेकिन सब्जी खाए तो स्वाद तो आ ही जाएगा न?

❖❖❖❖❖

[3]
अनंत शक्ति

[3.1]
अनंत शक्ति कौन सी? कैसी?

आत्मशक्ति अनंत है, लेकिन नहीं है वह मिकेनिकल

प्रश्नकर्ता : यदि आत्मा-परमात्मा कुछ कर ही नहीं सकता तो हम उसे अनंत शक्ति वाला क्यों कहते हैं?

दादाश्री : अनंत शक्ति वाला आत्मा-परमात्मा है लेकिन यह आप जैसा मानते हो उसमें वैसी मिकेनिकल शक्ति नहीं है। मिकेनिकल शक्ति पावर से उत्पन्न हुई है और यह सारी मिकेनिकल शक्ति है। आप अंदर खाना डालते हो तो यह मशीन चलती है। अगर खाना नहीं डालो, हवा नहीं भरो तो मशीन बंद हो जाती है।

शक्ति दो प्रकार की होती हैं : एक मशीनरी बनाने की शक्ति जबकि यह कुछ नहीं करता और शक्ति अपार है। ईश्वर की शक्ति अपार है लेकिन कुछ करती नहीं है। उसकी उपस्थिति से सब चलता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, यदि आत्मा अक्रिय है तो फिर इतनी सारी शक्ति आई कहाँ से उसमें?

दादाश्री : अनंत शक्तियों का मालिक है। अक्रिय है इसलिए ऐसी क्रिया नहीं करता। यह मेहनत वाली क्रिया मिकेनिकल है, मिकेनिकल नहीं करता है वह। लेकिन उसकी ज्ञानक्रिया ज़बरदस्त होती है, दर्शनक्रिया ज़बरदस्त होती है। अनंत शक्तियों का मालिक, ज़बरदस्त! मिकेनिकल शक्ति नहीं। यह मशीनरी चलती है और यह

सब लेने-देने की जो मिकेनिकल शक्ति है वह सारी *पुद्गल* की है। परमाणुओं की शक्ति है।

आत्मा में चलने की शक्ति नहीं है, बोलने की शक्ति नहीं है। आत्मा की जो शक्ति है, लोग यदि उसका अंश भी जानते न, तो लोगों का कल्याण नहीं हो गया होता ?

आत्मा हाज़िर तो पुद्गल दिखाई देता है शक्तिशाली

प्रश्नकर्ता : यदि यह *पुद्गल* निकल जाए तो आत्मा में से शक्ति निकल जाती है ?

दादाश्री : यह *पुद्गल* जो शक्ति वाला दिखाई देता है न, वह इसलिए क्योंकि उसमें आत्मा है। वर्ना यदि आत्मा निकल जाए न, तो यह शक्ति वाला नहीं दिखाई देगा।

प्रश्नकर्ता : अब, यह शक्ति तो जड़ है ?

दादाश्री : हाँ, यह जो दिखाई देती है वह सारी शक्ति जड़ है।

प्रश्नकर्ता : और यदि आत्मा में से यह शक्ति निकाल दी जाए...

दादाश्री : नहीं ! आत्मा में से नहीं आती है, आत्मा की उपस्थिति के कारण आती है। आत्मा हाज़िर है तो यह शक्ति उत्पन्न होती है। आत्मा यदि गैरहाज़िर हो जाए तो शक्ति खत्म हो जाएगी।

प्रश्नकर्ता : वह आत्मा में से नहीं आती लेकिन आत्मा में है तो सही न ?

दादाश्री : उसकी वह शक्ति अलग है, यहाँ उसमें से शक्ति नहीं आती है।

आत्म शक्ति अनंत लेकिन आवृत्त

आत्मा की शक्तियाँ स्वाधीन हैं लेकिन आवृत्त हैं इसलिए काम

नहीं आतीं। घर में हीरा गाड़ा हुआ हो तो उसका किसे पता चलेगा? लेकिन हीरे की शक्ति हीरे में भरी पड़ी है।

यानी आत्मा की इतनी अनंत शक्तियाँ आवृत्त पड़ी हुई हैं। पूरे ब्रह्मांड को थरथरा दें, हिला दें, ऐसी शक्तियाँ हैं।

दुनिया में जितने जीव हैं, उन सभी जीवों की शक्तियाँ इकट्ठी की जाएँ, उतनी सारी शक्ति एक आत्मा में है। आत्मा में जो शक्ति है वह अन्य किसी वस्तु में नहीं है, इतनी अधिक शक्तियाँ हैं।

परमात्म शक्ति अनंत लेकिन संसार में अशक्त

अंदर आत्मा की शक्ति है ही। आत्मा की शक्ति तो परमात्मपन की शक्ति है। बाकी, उस परमात्मा में एक सिका हुआ पापड़ तोड़ने की भी शक्ति नहीं है और यों वह अनंत शक्तियों का मालिक है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, पापड़ तोड़ने की शक्ति नहीं है लेकिन दूसरी तरफ आप ऐसा कहते हैं कि आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, तो दो शक्तियाँ हुईं?

दादाश्री : हाँ, दो प्रकार की शक्तियाँ। एक शक्ति है, ज्ञान-दर्शन, उसमें *लागणियाँ* (सुख-दु:ख की अनुभूति) होती हैं और दूसरी है, कार्य शक्ति, उसमें *लागणियाँ* नहीं होतीं।

अनंत शक्तियाँ जो हैं वे, ये शक्तियाँ, खुद की शक्तियाँ तो अपार हैं लेकिन वे शक्तियाँ ऐसी नहीं हैं। जबकि यह कहता है कि, 'मैं पहुँच गया, मेरी शक्ति है यह तो।' अरे, यह तेरी शक्ति है ही नहीं। यह तो रिज़ल्ट है।

मूल स्वरूप से जड़ तत्त्व लेकिन अनंत शक्तिशाली

प्रश्नकर्ता : तो फिर इस जड़ की खुद की कोई स्वतंत्र शक्ति है या सब आत्मा की वजह से ही है?

दादाश्री : जड़ की भी अनंत शक्तियाँ हैं। शक्तियाँ दो प्रकार

की हैं : एक चैतन्य शक्ति और दूसरी जड़ शक्ति। फिर जड़ में भी शक्ति तो है। देखो न, अणुओं में से ढूँढ निकाली है न! देखी न, ये सारी शक्तियाँ ?

प्रश्नकर्ता : अब, अभी जो बात चल रही है वे जो परमाणु हैं, उन परमाणुओं में भी शक्ति है ?

दादाश्री : परमाणुओं में है न शक्ति, लेकिन परमाणु अविभाज्य हैं इसीलिए शक्ति में बदलाव नहीं होता। जब परमाणु मिलते हैं न, तब अणु बनता है, और अणु को तोड़ा जा सकता है। यानी कि अणुओं में शक्ति है, और परमाणु शक्ति का पता नहीं चला है। अणु अर्थात् बहुत से परमाणु इकट्ठे होते हैं तब एक अणु बनता है जबकि परमाणु तो अविभाज्य हैं।

किसी भी चीज़ को उसके मूल स्वरूप में ले जाया जाए तो उसमें अनंत शक्तियाँ हैं। मूल स्वरूप की मूल शक्तियों का कभी भी नाश नहीं होता।

पुद्गल की अनंत शक्तियों ने भगवान को भी उलझा दिया

प्रश्नकर्ता : आत्मा की शक्ति और *पुद्गल* की शक्ति में क्या अंतर है ?

दादाश्री : *पुद्गल* में भी अनंत शक्तियाँ हैं। वह रूपी है और सक्रिय है। और वह *पुद्गल* भी कुछ कम नहीं है। *पुद्गल* ने भगवान को रोका हुआ है न, इसीलिए भगवान उसमें फँस गए हैं! मकड़ी खुद के आसपास जाल बनाती है और फिर खुद ही उसमें उलझ जाती है, उसके जैसी स्थिति है। यह *पुद्गल* की करामात है।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि *पुद्गल* और आत्मा दोनों की अनंत शक्तियाँ हैं, साथ ही यह भी समझाया है कि दोनों की शक्तियाँ अलग और निराली हैं, एक-दूसरे से कोई लेना-देना नहीं है, तो फिर *पुद्गल* ने भगवान को कैसे रोक दिया ?

दादाश्री : *पुद्गल* में 'मैं ही हूँ', ऐसा मानता था इसलिए उसकी शक्तियाँ *पुद्गल* में चली गई और वह *पुद्गल* शक्तिशाली बना। जब से 'मैं आत्मा हूँ', ऐसा *लक्ष* बैठ गया तभी से *पुद्गल* से अलग हुआ। लेकिन शक्तिवान हो चुके *पुद्गल* को नरम होने में देर लगती है और अलग हो चुके आत्मा को पूर्ण रूप में पहुँचने में भी समय लगता है।

आत्मशक्ति आवृत्त होने से चढ़ बैठी जड़ शक्ति

पुद्गल की शक्ति ने पूरे ही आत्मा को बाँध लिया है। छूटने ही नहीं देती अब। ज़ोर लगाती ही रहती है। अनंत शक्ति, वह जड़ की है। अणु-बम फोड़े थे, नहीं देखा था? अनंत शक्ति। वह जड़ में घुस गया इसलिए जड़ शक्ति प्राप्त हो जाती है। मिश्रचेतन की शक्ति अर्थात् जड़ और चेतन, दोनों के मिक्स्चर की शक्ति है।

आत्मा की अनंत शक्तियाँ हैं और *पुद्गल* की भी अनंत शक्तियाँ हैं। यह तो, पहले *पुद्गल* की अनंत शक्तियों से आत्मा फँस गया है, लेकिन *पुद्गल* की जड़ शक्ति है इसलिए अंत में ट्रिकबाज़ी (युक्ति) से आत्मा उसमें से निकल जाता है।

प्रश्नकर्ता : वह ठीक है, तो फिर जिसे आपने जड़ शक्ति कहा है, उसकी शक्ति अधिक है, यह बात तो साबित हो गई न?

दादाश्री : आत्मा की शक्ति आवृत्त हुई है। वह आवृत्त हुई है इसलिए जड़ शक्ति में यह मिक्स्चर हो गया, और वह जड़ शक्ति ही ऊपर चढ़ बैठी है! अब, यदि छूटना हो तो भी छूट नहीं पाता। वह तो जब ज्ञानी के पास जाए, तब छूट पाता है। वर्ना वह लाख जन्मों तक भी नहीं छूट सकता। और यह तो जिस प्रकार शराब पीते हैं और उसका *अमल* (असर रूपी सत्ता) होता है न, उस प्रकार से यह अहंकार का *अमल* है। इसलिए पूरा व्यवहार चलता रहता है।

अनंत शक्ति वाला लेकिन अहंकार की उपस्थिति के कारण उदासीन

प्रश्नकर्ता : *अमल* है लेकिन आत्मा की खुद की शक्ति तो है ही न?

दादाश्री : आत्मा में शक्ति है लेकिन आत्मा बिल्कुल उदासीन है। जब तक हम अहंकार में हैं तब तक आत्मा उदासीन है।

प्रश्नकर्ता : फिर भी, अगर आत्मा अनंत शक्ति वाला है तो फिर *पुद्गल* के जाल में से निकल क्यों नहीं जाता ?

दादाश्री : उसे क्या लेना-देना ? उसकी शक्ति को कहीं हिलाते नहीं हैं। ऊपर आवरण आ गया है इसलिए हमें दिखना बंद हो गया है। हम अपने आगे दीवार खड़ी कर देते हैं, आत्मा के और अपने बीच में।

सीमित ज्ञान प्रकट होता है पुद्गल के माध्यम से

प्रश्नकर्ता : तो फिर दादा, मोक्ष में जाने के लिए *पुद्गल* की शक्तियों की ज़रूरत पड़ती है क्या ?

दादाश्री : *पुद्गल* के माध्यम से आत्मा का ज्ञान प्रकट होता है। श्रुतज्ञान, मतिज्ञान, अवधिज्ञान, ये सारे ज्ञान *पुद्गल* के माध्यम से प्रकट होते हैं।

प्रश्नकर्ता : आत्मा की अनंत शक्तियाँ इन्द्रियों के माध्यम से प्रकट हो सकती हैं ?

दादाश्री : कुछ सीमित शक्तियाँ इन्द्रियों से प्रकट होती हैं। बाकी, बहुत आगे का प्रकट नहीं होता।

स्वक्षेत्र में स्वशक्ति, तो परक्षेत्र में विभूति

प्रश्नकर्ता : दादा, विभूति शक्ति के बारे में सुना है, वह समझाएँगे ?

दादाश्री : आत्मा की दो प्रकार की शक्तियाँ हैं : पहला, स्वक्षेत्र में रहे तो खुद की स्वशक्ति उत्पन्न होती है और दूसरा, परक्षेत्र में विभूति शक्ति उत्पन्न होती है। परक्षेत्र में रहते हुए स्वक्षेत्र में मुकाम रहता है। अपने वासुदेव नारायण कृष्ण भगवान विभूति कहे जाते हैं। रावण विभूति कहे जाते हैं और उस विभूति का मोक्ष होना होता है।

अभी कुछ समय के लिए थोड़ा नुकसान सहन करना पड़ता है, लेकिन वे तो महान ही बनेंगे। वे महान ही जन्मे थे।

ओहोहोहो! वह अनंत शक्ति कैसी!

प्रश्नकर्ता : आत्मा की अनंत शक्तियों में क्या-क्या आता है? वे किस प्रकार की हैं?

दादाश्री : आत्मा में अनंत ज्ञान शक्तियाँ हैं। एकाध-दो ज्ञान शक्तियाँ हैं, ऐसा नहीं है। ये अनंत ज्ञान शक्तियाँ हैं, इसी आधार पर तो ज्योतिष का ज्ञान, वकालत का ज्ञान, डॉक्टर का ज्ञान, ऐसे सारे ज्ञान बाहर निकले हैं। हर एक के अलग-अलग 'सब्जेक्ट्स' होते हैं। वे सभी ज्ञान खुल जाएँ, इतनी अधिक ज्ञान शक्ति है। अत: आत्मा अनंत शक्तियों का मालिक है, अनंत ज्ञान शक्तियाँ हैं और अनंत वीर्य शक्तियाँ हैं। बहुत ग़ज़ब की शक्तियों का धारक है, ऐसे हैं वे परमात्मा!

प्रश्नकर्ता : फिर और कौन सी शक्तियाँ हैं?

दादाश्री : आत्मा की शक्तियाँ अनंत हैं। उनमें से एक कल्प नाम की शक्ति है। कल्प वह खुद है, उसमें से वह विकल्पी बनता है और जब वह निर्विकल्पी हो जाता है तब कल्प हो जाता है।

ज्ञानी पुरुष हमें दिखा देते हैं, उसके बाद कल्प वृक्ष से अनंत शक्तियाँ खिल जाती हैं। अभी तो, (अज्ञान दशा में) शक्तियाँ भी नहीं खिलतीं। बल्कि सारी शक्तियाँ खत्म होने लगी हैं। अंदर जो शक्तियाँ होती हैं न, जो समता होती है वह भी चली जाती है।

अनंत शक्तियाँ हैं, इनकी विपरीत स्फुरणा से इतना बड़ा ब्रह्मांड खड़ा हो गया है उल्टी तरफ वाला, तो सम्यक् स्फुरणा से क्या नहीं हो सकता? जैसी स्फुरणा करे, वैसा ही बन जाता है। वह बेकार नहीं जाती। सिर्फ निश्चय करने की ही ज़रूरत है।

आत्मा में इतनी अधिक शक्तियाँ हैं कि दीवार में प्रतिष्ठा करे तो दीवार बोलने लगे, ऐसा है!

पूरे ब्रह्मांड को जानने की, अनुभव करने की, ऐसी सारी अनंत शक्तियाँ हैं।

आत्मशक्ति की लंबाई का अंत ही नहीं है! हर एक व्यक्ति के विचारों को 'एक्सेप्ट' कर ले, उस हद की लंबाई है। चोर चोरी करे तो उसे भी 'एक्सेप्ट' करे, दानेश्वरी दान दे तो उसे भी 'एक्सेप्ट' करे, सबकुछ 'एक्सेप्ट' करे, ऐसी वह आत्मशक्ति है, परमात्मशक्ति है और वही आत्मा है!

आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं। आत्मा तो आपकी भूल पर भी भूल निकालता है और उस पर भी भूल निकालता है। अंतिम भूल रहित है आत्मा।

इस आत्मा की शक्तियाँ ऐसी हैं कि हर बार कैसे बरतना, वे सारे उपाय बता देती हैं, और उन्हें कभी भूल नहीं पाते, आत्मा प्रकट होने के बाद।

ओहोहोहो! अनंत गुण हैं, अनंत शक्तियाँ हैं! खुद को अनुभव में आता है। अतः उसमें अन्य कुछ करना ही नहीं होता। क्योंकि पौद्गलिक शक्तियाँ इतनी अधिक दुःखदायी या दुःख देने वाली होती हैं। उन सब को स्पर्श ही नहीं होने देती यह। पानी में रहने के बावजूद पानी का स्पर्श नहीं होने देती, यानी कितनी सारी शक्तियाँ हैं! यह पूरी तरह से निर्लेप रख सकती हैं, असंग ही रख सकती हैं। संपूर्ण संग में रहने के बावजूद, भीड़ में रहने के बावजूद असंग रह सकता है। ऐसी तो कितनी (सारी) शक्तियाँ हैं खुद की! ये तो समझी जा सकें, ऐसी शक्तियाँ हैं। बाकी ऐसी तो बहुत सारी शक्तियों के बारे में जानता हूँ जिनका शब्दों में वर्णन भी नहीं हो सकता। उनका कैसे वर्णन करूँ मैं आपसे ?

प्रश्नकर्ता : इसलिए आत्मा को सर्वशक्तिमान कहा गया है ?

दादाश्री : इसीलिए वह भगवान है, वह कोई ऐसा-वैसा नहीं है! कोई भी चीज़ उसे डरा नहीं सकती। कोई भी चीज़ उसे डिप्रेशन

में नहीं ला सकती। उसे कोई दुःखी नहीं कर सकता। कितनी सारी, अनंत शक्तियाँ!

अपरंपार शक्ति है। एटम बम गिरने वाला हो तब भी अंदर ज़रा भी असर न हो, इतनी शक्ति है अंदर!

आत्मा की खुमारी ही ज़बरदस्त है। पूरे संसार के बम गिरें तब भी न हिले, वैसी है आत्मा की खुमारी।

प्रश्नकर्ता : आप जो कहते हैं भगवान, वे ये भगवान।

दादाश्री : हाँ! उसके पास अनंत शक्तियाँ हैं। शक्तियों के रूप में तो वह हर एक जीव में है। सभी प्रकार की शक्तियाँ हैं, तो उसमें क्या बाकी रहा? लेकिन ऐसी भौतिक शक्तियाँ नहीं हैं उसमें। उसमें सारी आध्यात्मिक, वास्तविक शक्तियाँ हैं।

आत्मा में ग़ज़ब की शक्तियाँ हैं, यहाँ बैठे-बैठे पूरा ब्रह्मांड दिखाई दे, ऐसा है। अंदर अनंत शक्तियों का भंडार है। एक उँगली पर पूरे ब्रह्मांड का भार उठा ले, ऐसा है। लेकिन जब प्रकट हो जाएँगी तब काम आएँगी।

प्रत्यक्ष आनंद, परमानंद, राग-द्वेष रहितपना, क्रोध-मान-माया-लोभ की निर्बलता रहितपना। किसी भी प्रकार की अशक्ति न रहे। किसी भी तरह के बोदरेशन को तोड़ दे। तमाम प्रकार की डिफिकल्टी (आपत्तियों) को तोड़ दे। किसी भी डिफिकल्टी को तोड़ कर आगे मोक्ष में जा सके, ऐसी अनंत शक्तियों का मालिक है।

प्रश्नकर्ता : वे जो अनंत शक्तियाँ हैं, वे तीर्थंकरों के अलावा अन्य किसी को दिखाई देती हैं क्या? तीर्थंकरों के अलावा अन्य किसी के समझ में आ सकती हैं?

दादाश्री : नहीं! औरों को पूरी तरह से समझ में नहीं आ सकतीं।

ज्ञानी से मिलते ही अनंत शक्तियाँ छूट जाती हैं जड़ के बंधन में से

आत्मा अनंत शक्ति वाला है, क्योंकि मोक्ष में जाते हुए विघ्न अनेक प्रकार के हैं। विघ्न अनेक प्रकार के हैं इसलिए यदि अनंत शक्ति नहीं होगी तो वे जाने भी नहीं देंगे। इसीलिए अनेक विघ्नों को हटाकर खुद मोक्ष में जाता है।

भगवान भगवान ही हैं! अनंत गुण हैं! अनंत सुख है! अनंत ज्ञान है! अनंत दर्शन है! अनंत शक्ति है उनके पास! भगवान के पास यदि इतनी अनंत शक्तियाँ नहीं होतीं न, तो ये मोक्ष में नहीं जाने देते। यह जो अनात्मा की माया है, यह भगवान के बाप को भी मोक्ष में न जाने दे! लेकिन भगवान भी अनंत शक्ति वाले हैं न!

अनंत शक्ति वाला है *पुद्गल,* उसे हटाकर खुद बाहर निकल जाता है। अनंत प्रकार की परेशानियाँ आने पर भी अंत तक पहुँच जाता है, ऐसी अनंत शक्तियों वाला है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा की जो अनंत शक्तियाँ हैं वे अनंत शक्तियाँ इस संसार में से छूटने के लिए ही हैं?

दादाश्री : इसमें से छूट ही नहीं सकते। छूट पाएँ, ऐसा है ही नहीं लेकिन अनंत शक्तियों के आधार पर छूट जाता है, वर्ना इसमें तो इस जड़ ने जो बाँधा है... आत्मा को किसने बाँधा है? वेल्डिंग से काटने पर भी कट सके, ऐसा नहीं है। लोहा तो वेल्डिंग से कट सकता है लेकिन यह बंधन तो ऐसा है! हाँ, यह ऐसा अनंत है कि वेल्डिंग या किसी भी तरह नहीं कट सकता, ऐसा है। उसे सिर्फ ज्ञानी पुरुष ही काट सकते हैं।

प्रश्नकर्ता : तो अनंत शक्तियों का उपयोग इसे छुड़वाने के लिए ही करना है?

दादाश्री : छूटने के लिए ही अनंत शक्तियों का उपयोग करना

है। उन अनंत शक्तियों का उपयोग कब होता है? ज्ञानी पुरुष से मिलने के बाद जब वे आत्मा को अलग कर देते हैं तब अनंत शक्तियों का उपयोग होता है, वर्ना तब तक अनंत शक्ति हो ही नहीं सकती।

आत्मशक्ति है शुद्धता-अपरिग्रह-वीतरागता और निर्भयता से

प्रश्नकर्ता : आत्मा की जो अनंत शक्तियाँ हैं वे अनंत शक्तियाँ किसी परिग्रह के कारण नहीं हैं लेकिन उसकी शुद्धता के कारण हैं न?

दादाश्री : उसकी शुद्धता के कारण।

प्रश्नकर्ता : परिग्रह के कारण नहीं हैं न?

दादाश्री : परिग्रह होता तब तो शक्ति वाला कहलाता ही नहीं न! हथियार रहित शक्ति!

प्रश्नकर्ता : व्यापकता है, वह भी शुद्धता के कारण है?

दादाश्री : शुद्धता के कारण ही है न! सबकुछ शुद्धता के कारण।

प्रश्नकर्ता : आत्मा, वह शुद्ध स्वरूप की शक्ति है? चेतना?

दादाश्री : बिल्कुल शुद्धात्मा। मूल स्वरूप से परमात्मा है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन क्या वह शक्ति का एक स्वरूप है?

दादाश्री : परमात्मा में क्या-क्या नहीं होता? वीतराग, निर्भय। निर्भय अर्थात् सभी कुछ, फिर किसी शक्ति की ज़रूरत ही नहीं रही न! निर्भय को शक्ति की ज़रूरत है क्या?

प्रश्नकर्ता : निर्भय रहने में शक्ति की ज़रूरत नहीं रहती?

दादाश्री : नहीं-नहीं। ज़्यादा शक्तियों वाला होगा तभी उसे भय नहीं लगेगा न किसी से। निर्भय अर्थात् कभी भी भय न लगे। अनंत शक्तियों का धनी अर्थात् निर्भय, वीतराग, निरंतर परमानंदी, ऐसा आत्मा।

आवरणों के हटने पर व्यक्त होती है परमात्म शक्ति

प्रश्नकर्ता : आत्मा की शक्ति की अभिव्यक्ति किस प्रकार से होती है ?

दादाश्री : वह तो, आवरण हटते ही अभिव्यक्ति होती है। आवरण हटाने का उपाय करने से आवरण हटते हैं। आवरणों का हटना कार्य है, इफेक्ट है और उपाय कॉज़ है। अत: कॉज़ करने से वे हट जाएँगे, और उसकी शक्ति प्रकट होगी। शक्ति तो है ही, प्रकट नहीं होती। शक्ति तो पूर्ण है लेकिन प्रकट होनी चाहिए न ?

मूल आत्मा के स्वरूप में कई अनंत शक्तियाँ हैं लेकिन जब तक वह स्वरूप प्रकट नहीं हो जाता तब तक सारी शक्तियाँ व्यर्थ जाती हैं। जिसकी खुद की अपनी संपूर्ण शक्तियाँ व्यक्त हो जाएँ, वह परमात्मा है। लेकिन ये शक्तियाँ आवृत्त हैं, वर्ना खुद ही परमात्मा है।

लोकसंज्ञा से आवृत्त हुईं अनंत शक्तियाँ

प्रश्नकर्ता : आवरण हटने पर अनंत शक्तियाँ प्रकट होती हैं, तो उन आवरणों के बारे में ज़रा ज़्यादा समझाइए।

दादाश्री : स्वरूप के अज्ञान को ही कहते हैं मोह का आवरण। आत्मा तो अनंत शक्तियों का धारक है लेकिन आवरण निकालने हैं। स्वरूप का अज्ञान है और स्वरूप का अदर्शन है, ये दोनों सब से बड़े आवरण हैं।

हर एक जीव में, गधे में, कुत्ते में, और गुलाब के पौधे में भी आत्मा की अनंत शक्तियाँ हैं लेकिन वे आवृत्त हैं, इसीलिए फल नहीं देतीं। जितनी प्रकट हुई होती हैं उतना ही फल देती हैं। इगोइज़म और ममता वगैरह सब चले जाने पर वे शक्तियाँ व्यक्त होती हैं।

आत्मा की चैतन्य शक्ति किससे आवृत्त है ? यह चाहिए और वह चाहिए। लोगों को चाहिए था और उनका देखकर हम भी सीख गए वह ज्ञान। 'इसके बिना नहीं चल सकता। मेथी की सब्ज़ी के बिना

नहीं चलेगा', ऐसे करते-करते फँसाव हो गया! अनंत शक्ति वाला है लेकिन उस पर पत्थर डालते रहे! आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं लेकिन इस जगत् में घर्षण और संघर्षण से ही सारी शक्तियाँ खत्म हो जाती हैं।

खुद में अनंत शक्तियाँ हैं। बेहिसाब चीज़ें हैं फिर भी यह देखो न, कुछ भी करके परेशानियों में दिन बिताने पड़ते हैं। चिंता-परेशानियाँ! अनंत शक्तियाँ हैं लेकिन सब आवृत्त हुई पड़ी हैं। जिस प्रकार घर में दादा ने बहुत धन गाड़ा हुआ हो लेकिन पता नहीं होता इसलिए वह व्यक्ति पाँच रुपये उधार ढूँढने जाता है। तब अगर लोग कहें, 'भाई, तेरे घर में तो बहुत धन है।' तो वह कहता है, 'लेकिन मुझे पता नहीं है।' इसका क्या हो सकता है? उस धन को निकाल दिया जाए तो काम आएगा। अत: अनंत शक्तियाँ हैं।

सामान्य भाव से सभी जीव आत्मा ही हैं, परमात्मा ही हैं लेकिन जिनका जितना आवरण टूट गया और शक्ति प्रकट हुई, उतना ही उसे फल मिलता है। बाकी, कोई किसी का *ऊपरी* है ही नहीं। मैं किसी का *ऊपरी* नहीं हूँ, मैं तो निमित्त हूँ। मेरी शक्तियाँ प्रकट हो गई हैं, आपकी शक्तियाँ प्रकट होंगी। एक ही है, वस्तु एक ही है। आप में अप्रकट है और मुझ में प्रकट है। तो प्रकट के पास से प्रकट शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

आत्मा प्राप्त होने पर व्यक्त होती हैं अनंत शक्तियाँ

अंदर अनंत शक्तियाँ हैं, अनंत सिद्धियाँ हैं लेकिन अव्यक्त रूप से रही हुई हैं। अंदर सुंदर, रमणीय शक्तियाँ हैं, गज़ब की शक्तियाँ हैं! उन्हें छोड़कर बाहर की कुरूप शक्तियाँ मोल ले आए। स्वभावकृत शक्तियाँ कितनी सुंदर हैं! और इन विकृत शक्तियों को बाहर से मोल लाए! दृष्टि अंदर गई ही नहीं। आत्मा प्राप्त होने पर वे शक्तियाँ व्यक्त होने लगती हैं। मोक्ष में जाने की अनंत शक्तियाँ हैं। वे शक्तियाँ अव्यक्त भाव से पड़ी हुई हैं, उन्हें व्यक्त करो।

पुद्गल की, आत्मा की सभी शक्तियाँ एक मात्र प्रकट परमात्मा

में ही लगाने योग्य हैं। मनुष्य में पूर्ण परमात्म शक्ति है, जिसका उपयोग करना आना चाहिए। 'ज्ञानी पुरुष' सभी शक्तियाँ देने को तैयार हैं। शक्तियाँ आपके अंदर ही भरी पड़ी हैं लेकिन आपको ताला खोलकर लेने का हक नहीं है। जब ज्ञानी पुरुष खोल देंगे तब वे निकलेंगी।

अंदर ऐसी कितनी भव्य शक्तियाँ हैं! अंदर की ओर दृष्टि ही नहीं गई है न! वह तो, जब यहाँ आत्मा की बातें सुनते हैं तब दृष्टि जाती है। दृष्टि जाती है तब आत्मा प्राप्त होता है। (आत्मा) प्राप्त होता है तब थोड़ी-बहुत शक्तियाँ निकलती हैं। तब हम देखते हैं कि ओहोहो! अंदर इतनी सारी शक्तियाँ थीं, इतनी थोड़ी निकली हैं तब भी इतना सुख महसूस हो रहा है, तो जब पूरी निकलेंगी, इसका पूरा विकास हो जाएगा तो कहाँ पहुँचाएँगी? और ज्ञानी पुरुष को हम देखें तब भी हमें ऐसा लगेगा कि हमारी तुलना में उनके अंदर कितनी अधिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं! वे शक्तियाँ हमें कितना (अधिक) आनंद देती हैं। तो सभी में उतनी ही शक्तियाँ हैं। शक्तियों की कोई कमी-वमी नहीं हैं। अब, हमें वे निकालनी हैं। आपको छूट दी है। जिस पद पर मैं बैठा हूँ, उसी पद पर आपको बैठाया है।

महात्माओं में ऐसे प्रकट होती हैं अनंत शक्तियाँ

आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं। वे शक्तियाँ जगत् में सभी लोगों के पास हैं लेकिन अव्यक्त हैं। आप में मैंने व्यक्त कर दी हैं। 'हमारी' संपूर्ण शक्तियाँ व्यक्त हो गई हैं इसलिए हम व्यक्तात्मा हैं। आप सभी में कुछ अंशों तक व्यक्त होती जा रही हैं।

जब आत्मा की शक्तियाँ व्यक्त हो जाती हैं तब बाहर का कोई झंझट करने को रहता ही नहीं। सिर्फ अंदर विचार आते ही बाहर सब अपने आप ही उस अनुसार हो जाता है। 'व्यवस्थित' सब कर देता है। राजा से भी बहुत उच्च प्रकार का है आत्मा का वैभव! यह तो भगवान पद है!

'आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं', ऐसा क्यों कहा गया है? क्योंकि

अनंत काम कर सकता है! आपको आयोजन करना आना चाहिए। उनमें से जितनी (शक्तियाँ) आपको लेना आ जाएगा, जितना एडजस्टमेन्ट करना आ जाएगा उतना ही आपको प्राप्त होगा।

आप शुद्धात्मा से देखते हो इसलिए आप में जगत् दृष्टि नहीं है। उस दृष्टि को आपने एक तरफ रख दिया है। आप तरणतारण हैं, तर जाते हैं और तारते हैं। आपके कल्पना करते ही सिद्ध हो जाए, ऐसी (शक्तियाँ) दी हुई हैं आपको, वे परमानेन्ट हैं।

एकतार होने पर प्रकट हो जाती हैं शक्तियाँ

खुद को ऐसा लगना चाहिए कि निरालंब है। कोई भी चीज़ मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती, मन में पूरी तरह से ऐसा भान हो जाए न, तो कितनी शक्तियाँ उत्पन्न हो जाएँगी! शक्ति वाले को छूने से बदलाव हो जाता है।

आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, यदि आप एकतार हो जाओगे तो शक्तियाँ प्रकट हो जाएँगी।

प्रश्नकर्ता : श्रेणियों की शुरुआत होगी तभी एकतार होंगे न?

दादाश्री : हाँ! श्रेणियों की शुरुआत करनी है। और कौन सी श्रेणियों की शुरुआत करनी है? हम शुद्धात्मा के स्वरूप में बरतने लगे और एकतार होने लगे कि श्रेणी की शुरुआत हो गई।

प्रश्नकर्ता : पाँच इन्द्रियों के विषय और चार संज्ञाएँ, वह सब तो रहता ही है न?

दादाश्री : वह सब शरीर में रहा हुआ है। इसके लिए तो हमें चंदूभाई से कहना है कि, 'पास में बैठो। आपका सिर दुःख रहा है, हम शुद्धात्मा का ध्यान करेंगे।' उस समय जो शक्ति उत्पन्न होती है न, वह शक्ति उस पर जाती है।

आप शुद्धात्मा हो और ये चंदूभाई जो भी करते हैं उसे देखते रहना है। चंदूभाई की मदद करते रहना है। शुद्धात्मा में अनंत शक्तियाँ

हैं। अनंत शक्तियों से चंदूभाई को देखते रहना है, चंदूभाई को शक्ति देते रहना है। जितनी माँगे उतनी शक्ति दे सकते हो। शुद्धात्मा अनंत शक्ति वाला है।

अनंत शक्तियों के उपयोग से मिलता है परमानेन्ट सुख

प्रश्नकर्ता : आत्मा की अनंत शक्तियों का उपयोग इस संसार से छूटने के काम आता है। इसके अलावा और क्या प्राप्त होता है?

दादाश्री : अनंत शक्तियों के उपयोग से निरा सुख ही मिलेगा, हमेशा के लिए, परमानेन्ट सुख।

प्रश्नकर्ता : लेकिन क्या आप दु:ख के अभाव को सुख कहते हैं?

दादाश्री : अभी तो दु:ख का अभाव है, बाद में सुख का सद्भाव शुरू होगा। पहले तो दु:ख का अभाव ही नहीं रहता था, दु:ख बढ़ रहा था, दु:ख का मल्टिप्लिकेशन होता रहता था जबकि अब तो दु:ख का अभाव हो गया है। इसे तो दुनिया के सभी साधु-संत क्या कहते हैं? 'ये तो भगवान हैं।'

प्रश्नकर्ता : लेकिन हमें ऐसा नहीं लगता, दादा। दुनिया की बात तो ठीक है लेकिन दु:खों के अभाव से क्या हासिल किया?

दादाश्री : नहीं-नहीं! उसे दुनिया 'भगवान' कहती है, साधु-संत सभी।

प्रश्नकर्ता : हमें इससे तो निस्बत नहीं है कि दुनिया क्या कहती है लेकिन हमें तो आत्मा का वह अनंत सुख है न, तो उसका ठीक से अनुभव होना चाहिए न?

दादाश्री : हो गया है न वह सारा अनुभव तो! दिन भर अनुभव बरतता है आत्मा का।

प्रश्नकर्ता : आपने एक बार कहा था कि यदि खुद का विश्वास

न खोए तो आत्मा वैभव सहित ही है। उसे खुद में विश्वास नहीं है अभी।

दादाश्री : नहीं-नहीं! वह वैभव ही है। आत्मा है तो वैभव होगा ही लेकिन वह अभी खुद के स्थान पर है ही नहीं न?

प्रश्नकर्ता : नहीं। यदि आत्मा में शक्ति और ऐश्वर्य हैं तो फिर उनकी स्पष्ट अनुभूति होनी चाहिए न?

दादाश्री : स्पष्ट तो दिन भर होता है, और कितना होगा!

अनंत शक्ति का उपयोग मुख्यतः ज्ञाता-द्रष्टा रहने में ही

प्रश्नकर्ता : आत्मा को हम ज्ञाता-द्रष्टा कहते हैं, उसमें देखना और जानना होता है और साथ ही ऐसा भी कहते हैं कि आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, तो अब देखने और जानने में ही उसकी इन शक्तियों का उपयोग होता है?

दादाश्री : नहीं, शक्तियों का उपयोग कई तरह से होता है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर हम सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा ही क्यों कहते हैं?

दादाश्री : ज्ञाता-द्रष्टा मुख्य चीज़ है। अगर यह आ जाए न तो सभी शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हम इस तरफ (कषायों में) नीचे उतर गए हैं तो अगर इसमें जॉइन्ट कर लेंगे तो वे सारी शक्तियाँ अपने आप ही ऑटोमैटिकली प्राप्त हो जाएँगी।

प्रश्नकर्ता : प्राप्त होंगी वह ठीक है लेकिन फिर वह सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा ही नहीं रहता न, उसे और भी कुछ करना पड़ता है न, क्या इसका अर्थ यह हुआ?

दादाश्री : और क्या करना पड़ता है?

प्रश्नकर्ता : ज्ञाता-द्रष्टा के अलावा अगर शक्तियाँ अपने आप उत्पन्न होती हों, तो वह कर्ता रूपी हुआ न?

दादाश्री : दूसरी शक्तियाँ हमें चाहिए ही नहीं न! हमें सिर्फ

आनंद ही चाहिए। जीवमात्र क्या ढूँढता है ? आनंद ढूँढता है। फिर वह आनंद भी कैसा ? 'टेम्परेरी नहीं चलेगा, हमें सनातन आनंद चाहिए, परमानेन्ट चाहिए', ऐसा कहता है। जितना ज्ञाता-द्रष्टा रहे उतना आनंद उत्पन्न होता है। धीरे-धीरे-धीरे निरंतर ज्ञाता-द्रष्टा रह सकेगा। अन्य तो बहुत सारी अपार शक्तियाँ हैं। आत्मा की उल्टी शक्तियों से ही तो यह संसार खड़ा हो गया है।

प्रश्नकर्ता : उल्टी शक्तियों से ?

दादाश्री : हाँ, विभाविक शक्तियों से ही तो यह इतना बड़ा संसार खड़ा हो गया है। यह कितना बड़ा संसार खड़ा हो गया! बहुत सी, अपार शक्तियाँ हैं लेकिन यदि उन सब का उल्टी जगह उपयोग होने लगे तो बेकार चली जाती हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, उल्टा उपयोग नहीं होना चाहिए। उल्टा उपयोग होने लगे तो अलग बात है लेकिन यदि सीधी तरह से उपयोग होता है तो ज्ञाता-द्रष्टा में उपयोग होगा या अन्य प्रकार से भी उपयोग हो सकता है ?

दादाश्री : सीधी तरह से तो ज्ञाता-द्रष्टा में ही उपयोग होता है, अन्य प्रकार से उपयोग नहीं करना है कोई। उसका कारण क्रियाकारी धर्म नहीं है। आत्मा में कुछ भी करने का धर्म है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : यदि कुछ करना ही नहीं है तो शक्तियाँ व्यय कैसे होंगी ?

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है, अनंत शक्ति कहने का भावार्थ यह है कि यह पूरा जगत् खड़ा हो गया है। ये पेड़-पौधे वगैरह सब, सिर्फ आत्मा की उल्टी शक्तियों से ही यह सब उत्पन्न हो गया है। इन अनंत शक्तियों को देखो तो सही, बाहर कितनी सारी (शक्तियाँ) दिखाई देती हैं! और खुद को यदि सनातन सुख चाहिए तो ज्ञाता-द्रष्टा में आ जाओ। ये सारे जो सिद्ध भगवान हैं, वे सब ज्ञाता-द्रष्टा-परमानंद! निरंतर उसी में ही रहा करते हैं और खुद के अनंत सुख में। (उसमें

से) अगर एक सेकन्ड का सुख भी यहाँ गिरे तो जगत् के लोगों को साल भर तक सुख रहेगा, इतना अधिक सुख है उनके पास।

ज्ञाता-द्रष्टा रहने से : मिलता है अनंत सुख, मिटते हैं सर्व विघ्न

प्रश्नकर्ता : तो इसका अर्थ यह हुआ कि ये जो सारी अनंत शक्तियाँ हैं, उन शक्तियों का उपयोग सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा रहने में ही होता है, अन्य प्रकार से शक्तियों का उपयोग नहीं होता?

दादाश्री : इसमें अन्य सारी शक्तियाँ हैं ही लेकिन हमें क्यों चाहिए? हमें तो सुख चाहिए। मनुष्य, जीवमात्र सुख ढूँढता है। उस सुख के लिए वह ये सारी झंझट करता है। संसार में सुख, कल्पित सुख मिलता है। वह सुख नाशवंत है, अंत वाला है और अंत में वापस दु:ख आकर खड़ा रहता है। वह दु:ख भी नाशवंत है, कल्पित है और सुख भी कल्पित है। वास्तविक सुख नहीं है, वास्तविक सुख तो अगर एक सेकन्ड के लिए भी मिल जाए तो फिर हमेशा के लिए जॉइन्ट हो जाएगा, सनातन सुख। आत्मा प्राप्त होने के बाद में खुद की जो सारी शक्तियाँ प्रकट होती हैं, वह है अनंत शक्ति। तो हमने यह जो कहा है न कि, 'संसार में विघ्न अनेक प्रकार के होने से (उनके सामने मैं) अनंत शक्ति वाला हूँ।' सभी विघ्नों को हटा सकता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, वही कह रहा हूँ न। यदि हम यह जो कहते हैं कि विघ्नों को हटा सकता है तो वह सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा ही नहीं रहता, कुछ और भी करना होता है न?

दादाश्री : (अन्य) कुछ भी नहीं करना है, इतना ही करना है लेकिन सभी विघ्नों को निकाल देता है, तमाम प्रकार के।

प्रश्नकर्ता : इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञाता-द्रष्टा रहे तो बाकी का सब अपने आप, ऑटोमैटिक निकल जाएगा।

दादाश्री : बाकी सब अपने आप ही निकल जाएगा। अपने आप निकले बिना चारा ही नहीं है।

अर्थात् हम जो शाश्वत सुख ढूँढ रहे हैं, अपना वह सुख मिल जाने के बाद कोई दबाव नहीं, किसी की परवशता नहीं। जीव यही ढूँढ रहे हैं, शाश्वत सुख। उस सुख के मिलने के बाद दुःख नहीं आता और परवशता नहीं।

प्रश्नकर्ता : दादा, वह मैं समझ गया लेकिन अभी भी ठीक से समझ में नहीं आ रहा है कि आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं। जिनकी कोई सीमा ही नहीं हैं, ऐसी शक्तियाँ हैं और हम ऐसा कहते हैं कि उसे ज्ञाता-द्रष्टा ही रहना है, तो उन शक्तियों का उपयोग ज्ञाता-द्रष्टा में ही रहता है। बाकी में नहीं रहता, वह मुझे अभी भी ठीक से समझ में नहीं आ रहा है।

दादाश्री : ऐसा नहीं है, अनंत शक्तियाँ कहने का भावार्थ क्या है? यह जो जगत् उत्पन्न हो गया है, यह उसकी उल्टी शक्ति से है! अब सीधी शक्ति इतनी सारी है कि जगत् के चाहे कैसे भी विघ्न हों, तब हम क्या वाक्य बोलते हैं?

प्रश्नकर्ता : मोक्ष में जाते हुए विघ्न अनेक प्रकार के होने से उनके सामने मैं अनंत शक्ति वाला हूँ।

दादाश्री : मोक्ष में जाते हुए अनेक प्रकार के विघ्न आएँ तो सभी विघ्नों का नाश कर देता है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर उतने ज्ञाता-द्रष्टा नहीं रहे, उसके बाद?

दादाश्री : ज्ञाता-द्रष्टा रहने से ही विघ्नों का नाश होता है, वर्ना नहीं होता। अन्य कोई उपाय नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा रहने से तमाम विघ्नों का नाश हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : दादा, विघ्न तो मर्यादित हैं न?

दादाश्री : विघ्न? हाँ, मर्यादित।

प्रश्नकर्ता : हाँ, इसलिए नष्ट हो जाएँगे कुछ समय में।

दादाश्री : हर एक की क्षमता के अनुसार मर्यादित विघ्न होते हैं लेकिन आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं। वे विघ्न चाहे कितने भी होंगे उन्हें तोड़ देंगी।

अनेक अंतरायों के सामने अनंत शक्तियाँ, फिर मोक्ष में वे रहती हैं स्टॉक में

प्रश्नकर्ता : मोक्ष में भी अनंत शक्तियाँ हैं?

दादाश्री : हाँ, सभी शक्तियाँ हैं लेकिन वहाँ उनका उपयोग नहीं करना होता। मोक्ष में जाते हुए अनेक अंतराय हैं इसलिए उनके सामने मोक्ष में जाने के लिए अनंत शक्तियाँ हैं।

प्रश्नकर्ता : 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', ऐसा बोलते हैं लेकिन सिद्ध भगवानों के लिए वह शक्ति कौन सी है?

दादाश्री : यह तो, जब तक वाणी है तभी तक 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', ऐसा बोलने की ज़रूरत है और मोक्ष में जाते हुए विघ्न अनेक प्रकार के हैं इसलिए उनके सामने हम अनंत शक्ति वाले हैं। बाद में कुछ भी नहीं रहता। जब तक वाणी और विघ्न हैं, तभी तक ऐसा बोलने की ज़रूरत है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के मोक्ष में जाने के बाद उसकी ज्ञाता-द्रष्टा के अलावा और कौन सी शक्ति है?

दादाश्री : अन्य कई शक्तियाँ हैं। खुद की शक्तियों से इन सब को पार करके (मोक्ष में) जाता है। मोक्ष में जाने के बाद उन सभी शक्तियों का 'स्टॉक' रहता है। आज भी वे सारी शक्तियाँ हैं, लेकिन जितना उपयोग हुआ उतना सही है।

प्रश्नकर्ता : मोक्ष में जाने के बाद वे शक्तियाँ औरों के काम नहीं आतीं न?

दादाश्री : फिर किसमें उपयोग करना है? वहाँ क्या काम है उपयोग करके? खुद को कोई परेशानी न आए ऐसी 'सेफसाइड' रहती है।

अनंत शक्ति डालने से, रिलेटिव भी बनता है शक्तिशाली

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि चंदूभाई को शक्ति देते रहना है, इस बारे में ज़्यादा समझाएँगे ?

दादाश्री : आत्मा अनंत शक्ति वाला है। तो अब उसकी अनंत शक्तियों को रिलेटिव में डाला जाए तो रिलेटिव में भी ज़बरदस्त शक्ति आ ही जाती है। आपको और कुछ समझ में नहीं आए तो रिलेटिव में अविरोधाभास रहना अब। आपको ज्ञान दिया है इसलिए जब समझ में नहीं आए, सूझ न पड़े तब 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, अनंत सूझ वाला हूँ', ऐसा बोलना। दर्शन कम पड़े तो 'मैं अनंत सूझ वाला हूँ।' देह की शक्ति कम पड़े तो 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ।' जंगल में शेर, भेड़िया या सिंह मिल जाए तब 'मैं अमूर्त हूँ', और जब शरीर में बाधा-पीड़ा हो तब 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', ऐसा बोलना।

अंदर आत्मा की अनंत शक्तियाँ हैं। इतनी सारी शक्तियाँ हैं कि बोलते ही परिणामित होंगी।

आत्मरूप होकर बोलने से शक्तियाँ प्रकट होती हैं

प्रश्नकर्ता : महात्माओं में आत्मशक्तियाँ कैसे प्रकट होती हैं ?

दादाश्री : खुद अनंत शक्ति वाला ही है! आत्मा होकर 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', बोलने से वे शक्तियाँ प्रकट होती जाती हैं। 'ज्ञानी पुरुष' जो रास्ता बताएँ, उस रास्ते से छूट जाना है, वर्ना नहीं छूटा जा सकता। इसलिए जैसा वे बताएँ, उस रास्ते पर चल कर छूट जाना।

यह सेल्फ का रियलाइज़ किया इसलिए अनंत शक्तियाँ बढ़ीं, प्रकट हो गईं। ज़बरदस्त शक्तियाँ प्रकट हो गईं।

आत्मा अर्थात् अनंत शक्तिवान, अब उस पर से जैसे-जैसे आवरण हटेंगे वैसे-वैसे शक्तियाँ खिलती जाएँगी बाहर, प्रकट होती जाएँगी।

प्रश्नकर्ता : आवरण हटने के बाद उन आवरणों के पीछे जो रहा हुआ है, क्या वही कार्य करता है ?

दादाश्री : कोई कार्य नहीं करता। स्वभाव बताते हैं अपना-अपना। यदि कार्य कर रहा होता तब तो वहाँ पर करने वाला बन जाता। वह अपना स्वभाव बताता है, अनंत शक्ति वाला।

ज्ञान वाक्य बोलने से दूर होते हैं, कमज़ोरी व डिप्रेशन

चंदूलाल को ज़रा कुछ शरीर-वरीर में कमज़ोरी आ जाए, ज़रा कमज़ोर हो गए हों तब आपको चंदूलाल से बुलवाना पड़ेगा कि, 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ।' ऐसा लगभग पंद्रह मिनट तक बुलवाओगे न, तो चंदूलाल में शक्तियाँ प्रकट हो जाएँगी।

ज्ञान वाले का मन निर्बल नहीं हो जाता। 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', बोलते ही मन एक्ज़ेक्ट हो जाता है। शरीर के सामने मन कमज़ोर हुआ कि खत्म हो जाएगा।

अंदर से उल्टा बोले तो हमें सीधा बोलना चाहिए। वह कहे, 'कमज़ोरी लग रही है', तो कहना, 'बोलो चंदूलाल, मैं अनंत शक्ति वाला हूँ।' अनंत शक्ति वाला हूँ, पाँच मिनट बोलेगा तो फर्स्ट क्लास हो जाएगा।

शरीर का व मन का स्वभाव है, या तो एलिवेशन या फिर डिप्रेशन। अब हम चंदूभाई से अलग हो गए हैं इसलिए व्यवहार तो अलग रखना पड़ेगा न? यानी चंदूभाई से बात करना कि, 'डिप्रेशन आया है?' तब आप बुलवाना, 'मैं अनंत सुख का धाम हूँ' तो चंदूभाई बोलेंगे, 'मैं अनंत सुख का धाम हूँ।' आपको इनमें खुद के गुणों का आरोपण करना है। तो रेग्युलर हो जाएगा।

शरीर खुद का नहीं है फिर कोई और तो खुद का हो ही नहीं सकता। ऑल दीज़ आर टेम्परेरी, आत्मा खुद का है। देह का मालिक, मन डिप्रेस हो जाए तो कहना, 'हमारे पास अनंत शक्तियाँ हैं।'

अब तो जो बचा है वह प्रतिष्ठित आत्मा है। अब प्रतिष्ठित को ज़रा पुश ऑन देना होगा, शक्तियाँ देनी होंगी। हमें बुलवाना है कि, 'अनंत शक्ति वाला हूँ', तो हो जाएगा।

अपने पास ज्ञान है इसीलिए हम बोल सकते हैं, 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', इससे कमज़ोर शरीर में भी शक्ति आ जाती है और बाहर वाले तो बोलते हैं 'मैं खत्म हो गया हूँ', तो खत्म हो जाता है।

शरीर बूढ़ा हो गया है लेकिन क्या आत्मा भी बूढ़ा हो गया है? आत्मा अनंत शक्ति वाला है। जितनी शक्तियाँ बाहर निकाले उतनी उसके बाप की।

ब्रह्मांड थरथराए ऐसी शक्ति प्रकट करवाते हैं दादा

आत्मा में तो अनंत शक्तियाँ हैं, और शक्तियों को जितनी तरफ घुमानी हो उतनी घुमाओ। उसे घुमाने वाला चाहिए। जितनी तरफ, करोड़ों तरफ घुमानी हो तो घुमाई जा सकती है। ऐसा नहीं है कि इतनी झंझट आ गई तो अब क्या होगा? क्या होगा, कहा तो न जाने क्या हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : इसका अर्थ ऐसा हुआ कि वह आत्मा को कुछ मानता ही नहीं है। अंदर अनंत शक्ति वाला आत्मा बैठा हुआ है तो उससे शक्तियाँ माँग न!

दादाश्री : हाँ! आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, वहाँ पर शक्ति माँग न। या फिर आत्मा रूप हो जा या फिर तू आत्मा के थ्रू, आत्मा से शक्तियाँ माँग।

प्रश्नकर्ता : आत्मा रूप होने से पहले शक्ति माँगी जा सकती है?

दादाश्री : हाँ, शक्ति तो माँगी जा सकती है न!

प्रश्नकर्ता : आत्मा रूप नहीं हुआ हो फिर भी शक्ति माँगी जा सकती है?

दादाश्री : माँगी जा सकती है न! हम कहें, 'हे शुद्धात्मा भगवान! आप अंदर बैठे हैं। अब मुझे शक्ति दीजिए।'

हमें तो ऐसा बोलना है, 'हे दादा भगवान! आपकी साक्षी में मैं

अनंत शक्ति वाला हूँ।' फिर देखना तो सही, शक्तियाँ कैसे प्रकट होती हैं! क्या बोलना है? 'आपकी साक्षी में मैं अनंत शक्ति वाला हूँ।' बोलोगे या नहीं बोल सकोगे? यह जो सिखा रहा हूँ, ये सब बहुत अच्छी दवाइयाँ हैं। देखो न, भाई ने दवाई ली तो इनका कितना अच्छा हो गया! दवाई लेने की भावना होती है?

प्रकट कर लो अनंत शक्तियाँ, ज्ञान के उपयोग से

दादा भगवान का नाम लोगे न, तो चाहे कुछ भी... (किसी भी परिस्थिति में) मन स्थिर नहीं हो रहा हो तो वह भी होने लगेगा। चाहे कैसी भी खराब पोज़िशन हो, 'दादा भगवान को नमस्कार करता हूँ' बोलना। क्योंकि चौदह लोकों के नाथ को मैंने खुद देखा है। उनमें क्या-क्या शक्तियाँ नहीं हैं, अनंत शक्तियों के जो धनी हैं! तो अब बोलोगे ऐसा?

आप ऐसा जो बोलते हो, 'अनंत शक्तियाँ हैं', तो वे शक्तियाँ कितनी हैं? किसके जैसा रूपक है? छोटे बच्चे से हम पूछें कि समुद्र देखने गया था? कितना बड़ा था? तो वह अपने हाथ चौड़े करके उतना ही दिखाता है, उसी प्रकार अपने महात्माओं का है। लेकिन आत्मा में ग़ज़ब की शक्तियाँ हैं! अनंत शक्तियाँ हैं! पूरे ब्रह्मांड को हिला दें इतनी शक्तियाँ हैं! लेकिन घर के मालिक को वह देखना नहीं आए तो फिर उसका कोई क्या करे?

खुद तो अनंतानंत शक्तियों का भंडार है, मात्र भान होना चाहिए। भान होने के बाद शक्तियाँ प्रकट कर लेनी चाहिए।

❖❖❖❖❖

[3.2]
अनंत ऐश्वर्य

आत्मा परम ऐश्वर्य, लेकिन जितना अनजान उतना अप्रकट

प्रश्नकर्ता : दादा, हर एक आत्मा में ऐश्वर्य तो है ही न?

दादाश्री : होता ही है, अनंत ऐश्वर्य है। आत्मा बिना ऐश्वर्य वाला नहीं है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उसका भान नहीं है इसलिए...

दादाश्री : उसे खुद को पता ही नहीं है कि मैं ऐश्वर्य वाला हूँ। जितना उसे पता चलेगा उतना ही उसका ऐश्वर्य प्रकट होगा। ऐश्वर्य है ही खुद में लेकिन (उसका) पता चलना चाहिए।

आत्मा परम ऐश्वर्य है, लेकिन इन आवरणों के कारण सारा ऐश्वर्य बंधन में आ गया है। अंदर जितने अंश तक की उसमें से लाइट निकलती है, उतने अंश का उसे फल मिलता है। अर्थात् अंश स्वरूपी तो उसकी यह लाइट है, प्रकाश है, न कि आत्मा अंश स्वरूप है। आत्मा तो सर्वांश ही है, वर्ना हो ही नहीं पाता सर्वांश। फिर कैसे हो पाता? आत्मा सर्वांश ही है सभी में, सर्वांश। मैंने अपना प्रकट हो चुका आत्मा देखा है। सर्वांश रूप से था और सर्वांश रूप से है। आवरण टूट गया, बस। अत: आत्मा परमात्मा से अलग नहीं हुआ है, वह खुद वही है।

जितना अहम् हो डाउन उतनी ईश्वरीय शक्तियाँ प्रकटें अप

जितना ऐश्वर्य प्रकट हुआ है न, तो उतनी ईश्वरीय शक्तियाँ प्रकट

हुई हैं। जैसे-जैसे शक्तियाँ प्रकट होती हैं न, उसे ऐश्वर्य कहते हैं। आत्मशक्ति प्रकट होने को ऐश्वर्य कहते हैं।

मनुष्य तो परमात्मा ही है। अनंत ऐश्वर्य प्रकट हो सकता है, ऐसा है। लेकिन इच्छा करते ही मनुष्य बन गया। वर्ना खुद जो चाहे वह प्राप्त कर सकता है लेकिन अंतरायों के कारण प्राप्त नहीं कर पाता।

दुनियादारी की चीज़ें ऐसी हैं कि आत्मऐश्वर्य प्रकट कर दें! लेकिन यह तो, बल्कि आत्मऐश्वर्य ले लिया! ऐश्वर्य प्रकट होना यानी क्या? जितनी डिग्री तक का प्रकाश बढ़ता है उतनी डिग्री तक का ऐश्वर्य प्रकट होता है। जितना अहम् कम उतना ही ऐश्वर्य आता है। इसलिए ईश्वर की तरह कार्य सफल होते हैं।

स्वभाव के आकर्षण से विभुत्व में से प्रकट होता है प्रभुत्व

प्रश्नकर्ता : 'आत्मा प्रभुत्व वाला है', यह समझाइए।

दादाश्री : आत्मा प्रभुत्व वाला है। ज़रा सी भी हीनता न बताए, ऐसा है। अनंत शक्ति वाला है। संयोगों में फँस गया है इसलिए शक्ति रुंध गई।

अहम् जितना कम होता है उतना प्रभुत्व आता है। जब तक प्रभुत्व नहीं हो तब तक विभुत्व रहता है। विभुत्व में से स्वभाव का आकर्षण प्रभुत्व प्रकट करवाता है।

प्रश्नकर्ता : स्वभाव का आकर्षण प्रभुत्व प्रकट करवाता है?

दादाश्री : हाँ, पहले स्वभाव बदलता है, फिर स्वभाव के प्रति आकर्षण होता है। स्वभाव का आकर्षण विभुत्व में से प्रभुत्व प्रकट करवाता है। जहाँ आकर्षण उत्पन्न होता है न, वह प्रभुत्व प्रकट करवाता है। विभुत्व तो है ही लेकिन जैसे-जैसे आकर्षण बढ़ता है वैसे-वैसे प्रभुत्व प्रकट होता है।

विभाविक शक्ति प्रकट हुई, वह विभुत्व है। उसके बाद फिर स्वाभाविक शक्ति पूर्ण प्रकट हो जाती है, वह प्रभुत्व है।

प्रकट हुआ ऐश्वर्य अक्रम द्वारा ज्ञानविधि में

प्रश्नकर्ता : अक्रम मार्ग शास्त्रों में प्रमाण है और अक्रम मार्ग सही है, फिर भी सब इसका लाभ क्यों नहीं ले पाते?

दादाश्री : इन दादा के ऐश्वर्य को भी नहीं समझे हैं ये लोग, कि क्या ऐश्वर्य है! यानी कि 'ये भेदविज्ञानी हैं', ऐसा ऐश्वर्य उन्हें पता नहीं चला। उन्हें ऐसा लगता है कि इस काल में भेदविज्ञानी हो ही नहीं सकते।

प्रश्नकर्ता : यह जो आपकी ज्ञानविधि है, उसमें ग़ज़ब की शक्ति है!

दादाश्री : हाँ! एक्ज़ेक्ट केवलज्ञान ही है। पूरी ज्ञानविधि केवलज्ञान ही है और यह मेरी शक्ति नहीं है, ऐश्वर्य प्रकट हुआ है। दो घंटों में मोक्ष दे दे, ऐसा ऐश्वर्य प्रकट हुआ है। जिसे दादा की ज्ञानविधि मिल जाती है, आत्मज्ञान हो जाता है उसका मोक्ष हो जाता है। वर्ना लाख जन्मों में भी ठिकाना नहीं पड़े।

यह तो मूल आत्मा का ऐश्वर्य है! अहो! ऐश्वर्य है यह! वर्ना दो घटों में तो कहीं मोक्ष हो सकता है? यह तो मूल आत्मा का वैभव है। उस आत्मा को हमने देखा है। उसका ऐश्वर्य अपार है।

ज़बरदस्त ऐश्वर्य प्रकट हुआ है। जो माँगो वह मिल सकता है यहाँ पर, जितना चाहिए उतना! माँगते-माँगते थक जाए जगत् में! माँगने की अपनी पात्रता होनी चाहिए। बहुत बड़ा ऐश्वर्य है यह। घंटे भर में तो मनुष्य की पूरी दृष्टि बदल जाती है।

ऐश्वर्य को सजाए, ऐसी अद्भुतता दादा की!

अमरीका वालों ने तो आश्चर्य-वाश्चर्य नहीं बोला, अद्भुत! अद्भुत! अद्भुत!

प्रश्नकर्ता : वह अद्भुतता अर्थात् दादा के आत्मा की ऐश्वर्यता?

दादाश्री : ऐश्वर्यता। यह तो ऐश्वर्यता के भी पार निकल जाए ऐसी चीज़ है। अद्भुतता तो उसे भी सजाए, ऐसी चीज़ है। ऐश्वर्य को भी सजाए, ऐसी चीज़ है।

प्रश्नकर्ता : ऐश्वर्य को भी सजाए!

दादाश्री : हंअ, ऐसी अद्भुतता!

प्रश्नकर्ता : ऐश्वर्य को सजाए तो यह ऐश्वर्य यानी क्या?

दादाश्री : ऐश्वर्य अर्थात् प्योरिटी। अभी हमारी प्योरिटी में ज़रा चार डिग्री की कमी है। उन चार डिग्री में से डेढ़ एक डिग्री तो पूर्ण हो गई, ढाई डिग्री बाकी बची हैं। तो यदि वे ढाई डिग्री पूर्ण हो जाएँ तो कम्प्लीट संपूर्ण प्योरिटी आ जाएगी।

जिनमें ऐश्वर्य उत्पन्न हो जाए, वे ईश्वर

प्रश्नकर्ता : जो छः ऐश्वर्य वाले होते हैं वे ईश्वर या भगवान कहलाते हैं, क्या ऐसा है?

दादाश्री : भगवान अर्थात् जिन्हें भगवत् गुण प्राप्त हो गए हैं न, उन्हें यह दुनिया भगवान कहती है। जिन्हें भगवत् गुण प्राप्त हो गए हैं, ऐश्वर्य गुण, ऐश्वर्य!

प्रश्नकर्ता : माया नहीं निकले तो ऐश्वर्य कहाँ से आएगा?

दादाश्री : माया के निकल जाने पर ही ऐश्वर्य उत्पन्न होता है। माया नहीं निकले तब तक ऐश्वर्य उत्पन्न नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : सामान्य चेतन में ऐश्वर्य, ऐसा तो किसी शास्त्र में नहीं लिखा गया है। सामान्य चेतन में ऐश्वर्य होता है? ऐश्वर्य तो भगवान में होता है, चेतन में नहीं होता न?

दादाश्री : नहीं-नहीं, इस चेतन में नहीं है। यह चेतन (दशा) भी विभाव दशा है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसी प्रतीति होने के बाद खुद को खुद के ऐश्वर्य का भान होता है। खुद चैतन्य तो परमात्मा है।

खुद अनंत शक्ति का धनी, अनंत ऐश्वर्य का धनी, ऐसे हैं भगवान! वे निरालंब हैं, और प्रत्येक मनुष्य भगवान बन सकता है। सामान्य मनुष्यों में जो गुण नहीं दिखाई देते, ऐसे गुणों के जो धारक हों, वे भगवान। जिनमें पाशवता का पूर्ण रूप से नाश हो चुका है, उन्हें भगवान कहते हैं। पाशवता के गुण जितने कम होते जाएँ और दैवीय गुण पैदा होते जाएँ और जब पाशवता के गुणों का संपूर्ण नाश हो जाए और दैवीय गुण संपूर्ण रूप से पैदा हो जाएँ तो वे देव हैं, वे ईश्वर हैं। जिनमें ऐश्वर्य उत्पन्न होता है वे ईश्वर हैं। वही आत्मा है, अन्य (आत्मा) नहीं।

मालिक हुए बिना मालिकी ब्रह्मांड की, आत्म ऐश्वर्य द्वारा

मुझसे लोग पूछते हैं कि, 'दादा, आपको दुनिया कैसी दिखाई देती है?' मैंने कहा, 'तुझे जैसा दिखाई देता है वैसा ही मुझे दिखाई देता है। क्या तुझ से कुछ अलग दिखाई देता है मुझे? तुझे जो दिखाई देता है उसमें तुझे राग-द्वेष है और मुझे उसमें राग-द्वेष नहीं हैं, बस इतना ही फर्क है।'

प्रश्नकर्ता : राग-द्वेष रहित?

दादाश्री : हंअ, और उसके अलावा जो तुझे नहीं दिखाई देता है, मुझे वैसा अनंत दिखाई देता है। यह मेरे ज्ञान की विशालता है और ऐश्वर्यपन है। लेकिन तुझे तेरे ऐश्वर्य के अनुसार दिखाई देता है, तेरी बाउन्ड्री के अनुसार, कम्पाउन्ड के अनुसार। ऐश्वर्यपन अर्थात् कम्पाउन्ड। पूरा जगत् कम्पाउन्ड हो जाए, वह ऐश्वर्यपन!

प्रश्नकर्ता : दादा ऐसा तो तभी हो सकता है न, जब इस शरीर का मालिकीपन न रहे, वर्ना कैसे हो सकता है?

दादाश्री : मालिकीपन न रहे तभी ऐश्वर्य (प्रकट) होता है, वर्ना नहीं हो सकता। मालिकी वाला तो बंधन वाले भाग में है। उसके पास तो दो प्लॉट है और शरीर, वे... इतने में ही वे भटकते रहते हैं और जिसकी मालिकी पूरी तरह से खत्म हो गई प्लॉट-व्लॉट सभी में से...

प्रश्नकर्ता : दादा, तो हमारी भी धीरे-धीरे, जैसे-जैसे मालिकी कम होती जा रही है वैसे-वैसे...

दादाश्री : हाँ, अब आपको विश्वास हो गया है कि आपको (प्लॉट की, देह की) मालिकी नहीं है। इसलिए अब धीरे-धीरे कम होती जाएगी। पहले प्रतीति हो जानी चाहिए कि वास्तव में मालिक नहीं है।

प्रश्नकर्ता : दादा, आत्मा का वह ऐश्वर्य, वह यह है?

दादाश्री : हाँ! ऐश्वर्य, (अद्भुत) ऐश्वर्य! इसीलिए तो हम ब्रह्मांड के मालिक हैं! बिना मालिक की मालिकी है। अगर मालिकी भाव हो तो टाइटल रहता है और टाइटल संदूक में रखना पड़ता है। अपने पास संदूक नहीं होती है। मालिक हैं, यह बात हंड्रेड परसेन्ट (सौ प्रतिशत) है। भले ही इन्कम टैक्स वाले साहब चिल्लाएँ, लेकिन हम हंड्रेड परसेन्ट (मालिक) हैं! टाइटल है तो वे लगाएँगे न इन्कम टैक्स?

बहुत बड़ा पद है यह तो! जिस पद के आगे और कोई पद नहीं है, ऐसा पद है यह। जो आपने प्राप्त किया है, वह पद!

बिलीफ बदलते ही चित्त का बिखरना रुक जाता है, तब प्रकट होता है ऐश्वर्य

प्रश्नकर्ता : भरा हुआ माल फूटने लगे तब ऐसा किस तरह फिट करें कि, 'मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ?'

दादाश्री : कभी जब लोभ की गांठ फूटे, लालच की बात आने लगे ऐसे समय में, 'मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ, मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ, मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ', ऐसा बोलने से वे सभी परमाणु निकलते जाएँगे। उनका असर नहीं होगा।

चित्तवृत्ति जितनी बिखरती है उतना ही ऐश्वर्य कम होता जाता है और जितनी मूल जगह पर स्टेबलाइज़ (स्थिर) हो जाती है उतना ऐश्वर्य उत्पन्न हो जाता है, संपूर्ण ऐश्वर्य!

प्रश्नकर्ता : ज्ञान लेने के बाद में ये जो सब महात्मा हैं, इनकी चित्तवृत्ति धीरे-धीरे एक जगह पर इकट्ठी होती जाती है न?

दादाश्री : करना आ जाए तो हो जाएगी, और क्या?

प्रश्नकर्ता : क्या हर एक को ऐसे थोड़ा टाइम लगता है?

दादाश्री : अब कमज़ोर नहीं पड़े, और हमारे विज्ञान में रहे तो एकाग्र हो ही जाएँगी, एक ही जन्म में। ऐसा है, चाहे वर्तन में न हो लेकिन बिलीफ में है न?

प्रश्नकर्ता : हाँ, बिलीफ में है।

दादाश्री : तो फिर जो बिलीफ में है वही सत्य, फिर चाहे वर्तन में न हो। वर्तन अपने हाथ की, काबू की बात नहीं है लेकिन बिलीफ में है न?

प्रश्नकर्ता : बिलीफ में पूरी तरह से है।

दादाश्री : आपको क्या लगता है? वर्ना यदि कभी वर्तन की नेसेसिटी होती तो हमें डाँटना पड़ता सभी को। हम वर्तन को नहीं देखते हैं, बिलीफ को देखते हैं कि तेरी बिलीफ कहाँ है? हमारा वर्तन और बिलीफ एक ही प्रकार के हैं। आपकी बिलीफ अलग है और वर्तन अलग तरह का है।

प्रश्नकर्ता : यह जो ऐश्वर्य कम हो गया, तो जैसे-जैसे चित्त बिखरता जाता है वैसे-वैसे ऐश्वर्य कम होता जाता है। तो वह कम हुआ है, ऐसा एक्ज़ेक्टली कैसे पता चलेगा कि यह कम हो गया?

दादाश्री : पता चलता ही है न! अभी ऐश्वर्य कम है इसीलिए तो कितने लोग दखल देते हैं। सहन करना पड़ता है, कितने लोग परेशान करते हैं, कोई बॉस डाँटता है। सहन नहीं करना पड़ता?

प्रश्नकर्ता : हाँ, सहन करना पड़ता है।

दादाश्री : ऐश्वर्य कम है तभी तो डाँटते हैं न! यदि ऐश्वर्य होता तो वह क्यों डाँटता?

प्रश्नकर्ता : दादा, तो इसका अर्थ यह है कि ये जो क्लेश होते हैं अंदर, मन में जो दुःख होता रहता है...

दादाश्री : हाँ, वह सब यह ऐश्वर्य कम होने की वजह है, और यदि ऐश्वर्य हो तब तो कौन डाँटने वाला है? ऐसे डाँटने के लिए आए न, तो चेहरा देखने से पहले ही ऐसे-ऐसे हो जाएगा, 'अरे बाप रे! क्या होगा, क्या होगा, क्या होगा?' क्योंकि ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य देखते ही घबराहट, पसीना छूट जाता है। अतः ऐश्वर्य की ज़रूरत है, किसी और चीज़ की ज़रूरत नहीं है। अब, आपकी पहले की बिलीफ रोंग थी, सम्यक् नहीं थी इसलिए यह फल आया है। यह तो आपको भुगतना ही होगा। लेकिन अभी आपकी बिलीफ अलग जगह पर है, ऐश्वर्य प्राप्त करने की तरफ ही बिलीफ है, लेकिन यों वर्तन में ऐश्वर्य नहीं रह पाता। उसमें हर्ज नहीं है, लेकिन रात-दिन यह देखते रहना है कि बिलीफ कहाँ पर है, और बिलीफ को सहारा देते रहना है, बिलीफ को विटामिन देते रहना है।

कैसा ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है! रास्ता कितना सुंदर है! आसान, सरल! भूखे नहीं मरना है, न ही आलू छोड़ने हैं, न ही मिठाई छोड़नी है, न ही तीखा छोड़ना है, न बीवी-बच्चों को छोड़ना है, और न ही बंगले छोड़ने हैं, यह सब भले ही रहा! चित्तवृत्ति इनमें क्यों रहनी चाहिए?

❖❖❖❖❖

[3.3]
अनंत वीर्य

ज्ञानी का आत्म वीर्य, तीर्थंकरों का अनंत वीर्य

आत्मा का स्वरूप क्या है? आत्मा तो खुद परमात्मा है, अनंत ज्ञान वाला, अनंत दर्शन वाला, अनंत शक्ति वाला, अनंत वीर्य वाला है।

प्रश्नकर्ता : अनंत वीर्य अर्थात् क्या? किस अवस्था में अनंत ज्ञान-दर्शन-चारित्र और अनंत वीर्य प्रकट होता है? अनंत वीर्य वाली दशा कौन सी है?

दादाश्री : ज्ञान-दर्शन से चारित्र बनता है, स्व-चारित्र से अनंत वीर्य उत्पन्न होता है। वही अनंत वीर्य वाली दशा है।

प्रश्नकर्ता : कौन सी?

दादाश्री : यह सब दिखाई देता है, ये सारे पदार्थ और चीज़ें, ये द्रव्य-गुण-पर्याय से, भूतकाल से लेकर भविष्यकाल तक सभी दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : और आत्म वीर्य किसे कहते हैं?

दादाश्री : हमारा यह आत्म वीर्य कहलाता है। आप दिन भर देखते नहीं हो? जबकि तीर्थंकरों का अनंत वीर्य, इससे कुछ अलग ही तरह का बढ़ा हुआ होता है, बस इतना ही। इसे वीर्य कहते हैं। और कोई वीर्य-बीर्य नहीं है। आत्म वीर्य से अनंत लाभ-लब्धि मिलती है।

प्रश्नकर्ता : तो खुद के आत्मा के गुणों में रममाण (लीन) हो जाता है? आत्मा के गुणों में निरंतर रमा हुआ रहे, उसे अनंत वीर्य माना जाता है?

दादाश्री : ऐसे तो ज्ञानी भी रह सकते हैं, अनंत वीर्य ऐसा नहीं होता। अनंत वीर्य तो ऐसे हाथ लगाएँ तब भी कुछ का कुछ (बदलाव) हो जाता है! अनंत वीर्य!

अनंत वीर्य अर्थात् अनंत शक्ति, अपार शक्ति! यों हाथ लगाने से ही सामने वाले का काम हो जाता है।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-शक्ति व उल्लास, यह है आत्मवीर्य

'मैं शुद्धात्मा हूँ, आत्म वीर्य वाला हूँ।' तो यह देह-वीर्य किसे कहा जाता है? देह-वीर्य *पुद्गल* को कहा जाता है, जो निकल जाता है। जबकि आत्म वीर्य शक्ति और उल्लास है। वह तो आत्मा का उल्लास और शक्ति है, ज़बरदस्त। ज्ञान-दर्शन व चारित्र इसके मुख्य गुण हैं। चारित्र अर्थात् ज्ञाता-द्रष्टा में रहना। चारित्र अर्थात् रमणता और वीर्य वाला अर्थात् जिसमें उल्लास है, उपयोग है। उसे उपयोग में रख सके, ऐसी उल्लास शक्ति है।

प्रश्नकर्ता : दादा, यह जो आत्म वीर्य की बात बताते हैं आत्मा का वह वीर्य अगर बहुत उल्लासित हो जाए तो वह रियल-रिलेटिव में आता है?

दादाश्री : रियल-रिलेटिव में ही है, रियल में नहीं है। रियल में तो वीर्य ही है। ऐसे में अनंत वीर्य का मालिक हो जाता है! रियल तो अनंत वीर्य कहलाता है। अपना जो मूल आत्मा है वह अनंत वीर्य है। जहाँ पर रुचि है वहीं पर आत्मा का वीर्य बरतता है।

लालसाएँ छूटेंगी और अहंकार का विलय होगा तब आत्म वीर्य बढ़ेगा

प्रश्नकर्ता : हम शांत व स्थिर बैठे हों, उस समय बाहर से

कोई क्रोधित व्यक्ति आए तो उस समय अपने परिणाम बदल जाते हैं तो उसके लिए हमें कौन सा आत्मबल बढ़ाना चाहिए ताकि अपने परिणाम नहीं बदलें? उस समय कौन सा उपाय करना चाहिए?

दादाश्री : वह आत्म वीर्य का अभाव है। अब शरीर की लालसाएँ और उसकी तरफ के भाव को अभाव कर दोगे तो आत्म वीर्य बढ़ेगा। भौतिक सुखों की तरफ अभाव रखेंगे तो आत्म वीर्य बढ़ेगा। आत्म वीर्य खत्म होने का कारण क्या है? भौतिक सुखों में ही डूबा रहता है निरंतर। फिर उसका आत्म वीर्य खत्म हो जाता है। नहीं तो फिर ज्ञानी पुरुष के पास जाना चाहिए, वे तुझे संपूर्ण आत्म वीर्यवान बना सकते हैं।

आत्मशक्तियों को तो आत्म वीर्य कहा जाता है। आत्म वीर्य कम हो तो उससे कमज़ोरी उत्पन्न होती है, क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न हो जाते हैं। अहंकार की वजह से आत्म वीर्य टूट जाता है। तो जैसे-जैसे अहंकार विलय होगा वैसे-वैसे आत्म वीर्य उत्पन्न होता जाएगा। जब-जब आत्म वीर्य घटता हुआ लगे तब पाँच-पच्चीस बार ज़ोर से बोलना कि, 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', तो शक्ति उत्पन्न हो जाएगी।

टूटेंगे वीर्यांतराय तो प्रकट होगा आत्म वीर्य, अंत में अनंत वीर्य

प्रश्नकर्ता : अनंत वीर्य कैसे प्रकट होता है?

दादाश्री : भगवान क्या कहते हैं कि जब अंतराय टूटेंगे तब अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनंत वीर्य प्रकट होगा। तो यह वीर्य किसके आधार पर है? 'मैं कर रहा हूँ लेकिन हो नहीं रहा।' अरे, यह वीर्यांतराय है। उसके अंतराय डाले हैं। हर कहीं अंतराय डाले हैं। अब यदि उसमें समझ होती तो नहीं डालता। लेकिन अब कौन समझाए उसे? ऐसी समझ ही नहीं है इसलिए यह स्थिति है। अत: मैं आपसे क्या कहता हूँ? सारे अंतराय टूटने का रास्ता बना दिया है मैंने आपके लिए। ये जो आज्ञाएँ दी हैं न, इनसे सारे अंतराय टूट जाएँगे।

आपको आत्मा दिया है। अब आत्म वीर्य प्रकट होगा जबकि पहले अंतराय था। वीर्यांतराय था, अनंत वीर्य का जो अंतराय था वह टूटेगा अब। कृपालुदेव ने कहा है न, *'सर्व भाव ज्ञाता-द्रष्टा सह शुद्धता।'* तमाम प्रकार के ज्ञाता-द्रष्टा भाव ही रहेंगे, शुद्धता के। फिर *'कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो।'* अनंत वीर्य कहा है, वीर्य पर जो वीर्यांतराय डाले थे वे सब टूट जाएँगे और अनंत वीर्य उत्पन्न होगा।

❖❖❖❖❖

[4]
अनंत सुखधाम

अनंत सुखधाम समझने पर पहचान सकेंगे आत्मा को

प्रश्नकर्ता : आत्मा को पहचानने का लक्षण क्या है?

दादाश्री : पहचानना तो... अविनाशी पद है वह, अनंत सुखधाम है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख। खुद के सुख को बाहर ढूँढने नहीं जाना पड़ेगा। और दुःख तो है ही नहीं।

आत्मा अनंत आनंद का धाम है फिर भी बाहर सुख ढूँढता रहता है। यह तो, अंदर ही सुख है लेकिन बाहर जगत् में सभी लोग सुख ढूँढते हैं लेकिन सुख की परिभाषा ही तय नहीं करते। 'सुख ऐसा होना चाहिए कि जिसके बाद कभी भी दुःख न आए।' इस जगत् में एक भी ऐसा सुख हो तो ढूँढ निकाल, जा। शाश्वत सुख तो खुद में, स्व में ही है। खुद अनंत सुख का धाम है और लोग नाशवंत चीज़ों में सुख ढूँढने निकले हैं!

आत्मा को जानते ही उत्पन्न होता है अतीन्द्रिय सुख

प्रश्नकर्ता : आत्मा का सुख ही अतीन्द्रिय सुख है न? वह कैसे प्राप्त होता है?

दादाश्री : हाँ! अतीन्द्रिय सुख तो केवल खुद के आत्मा का अनंत सुख है। वह तो आत्मा जाने बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

यदि ज्ञानी पुरुष मिल जाएँ तो वे खुद के सुख का भान करवा देते हैं। तब फिर सुख बरतता रहता है।

ज्ञानी पुरुष खुद के शाश्वत सुख को, जो अनंत सुख का कंद है वह चखा देते हैं। इसलिए निज घर मिलते ही शुद्ध चित्त यानी शुद्धात्मा प्राप्त हो जाता है।

'आई' (मैं) में इन्टरेस्ट आ जाए तो निरा सुख ही है। सुख का धाम है, परम सुख का धाम है! अनंत सुख का धाम है, जिस सुख के आने के बाद कभी भी दुःख हो ही नहीं। फाँसी लगा दे तब भी नहीं। फाँसी लगा दे तो जिसे फाँसी लगनी है उसे लगती है, जानने वाला जानता है। *पुद्गल* को फाँसी लगती है, आत्मा को कभी फाँसी लग ही नहीं सकती। इन अंबालाल को आप गालियाँ दो, मारो तब भी मुझ पर असर नहीं होगा। क्योंकि दोनों बिल्कुल अलग रहते हैं। फाँसी लगा दो तो भी मुझे हर्ज नहीं है। मेरी इच्छा नहीं है लेकिन फिर भी अगर आप सब लगाओ तो उसमें आपत्ति नहीं है। क्योंकि मुझे पड़ोसी के तौर पर इतना तो रखना ही पड़ेगा कि मेरी इच्छा नहीं होनी चाहिए। उन्होंने मुझे, मेरे लिए चक्कर लगाए हैं, मेरा काम किया है। इतना उपकार तो मुझे मानना पड़ेगा न! पड़ोसी के तौर पर रहते हैं ये। तो आप जब चंदूभाई के साथ पड़ोसी की तरह रहोगे तब सनातन अनुभूति होगी।

परमानंद गुण से अनुभव होता है आत्मा

प्रश्नकर्ता : सनातन अनुभूति इतनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म चीज़ है, उसकी अनुभूति किस प्रकार से हो सकती है? प्रत्यक्ष किस प्रकार से दिखाई देगा?

दादाश्री : आप आत्मा हो, ऐसी सनातन अनुभूति होगी। और उस आत्मा की अनुभूति किस प्रकार से होती है? आत्मा निराकारी है, अमूर्त है। किसी चीज़ से दिखाई न दे, ऐसा है। उसे प्रत्यक्ष देखने का प्रयत्न करना गुनाह है। तो फिर कैसे पहचानेंगे? तो कहते हैं, अनुभव से। उसके परमानंद नामक गुण से प्रकट होगा।

वह आनंद जो कि उसका मुख्य गुण है, वह आनंद उत्पन्न होगा। उसका आवरण टूटा कि आनंद हुआ। वह खुद नहीं है, ऐसा है ही नहीं, वह तो पूरा ही है। इस आवरण का ही दखल है। तो जब यह ज्ञान देते हैं तब आवरण टूटते हैं तो अनुभव हो जाता है, सुख उत्पन्न होता है।

सिद्धों के एक-एक प्रदेश खुले होते हैं। एक-एक प्रदेश पर खुद का अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन और अनंत सुख है! लेकिन कहाँ गया (अपना) वह सुख? 'स्वरूप ज्ञान' मिलने के बाद में जैसे-जैसे आत्मप्रदेश निरावृत होते जाते हैं, वैसे-वैसे आनंद बढ़ता जाता है।

मस्ती वाला आनंद मन का, निराकुल आनंद आत्मा का

प्रश्नकर्ता : आत्मा के ध्यान के समय जो आनंद उत्पन्न होता है, उसके बारे में समझाएँगे?

दादाश्री : हम किसी चीज़ का ध्यान करें, कोई व्यक्ति आत्मा का ध्यान करने लगे, तो वह ध्याता है, ध्येय है आत्मा, तब फिर ध्यान उत्पन्न होता है। एकाकार होने को ध्यान कहते हैं और ध्यान में आनंद उत्पन्न होता है। वह ऐसा समझता है कि यह मुझे आत्मा का अनुभव हुआ। नहीं है वह आत्मा अनुभव। आनंद तो दो प्रकार का होता है; मस्ती वाला आनंद, वह व्याकुलता वाला होता है और निराकुलता वाला आनंद, वह है वास्तविक आनंद, आत्मा का आनंद। सनातन आनंद निराकुलता वाला होता है।

लेकिन जब तक आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया तब तक मन का आनंद है। और मन का आनंद कुछ समय के लिए रहा, फिर नहीं रहा। तो उस मन के आनंद में और आत्मा के आनंद में क्या अंतर है? तो वह यह कि मन का आनंद मस्ती वाला आनंद है और यह निराकुल आनंद है।

प्रश्नकर्ता : तो इसका अर्थ यह हुआ कि मन चला जाएगा तभी आत्मा का आनंद होगा?

दादाश्री : जब मन बिल्कुल काम करना बंद कर दे तब आत्मा का आनंद शुरू हो जाता है। आत्मा का वह आनंद निराकुलता वाला होता है। ज़िंदगी भर जो आकुलता-व्याकुलता देखी होती है उससे मुक्त रहता है, निराकुल रहता है। अंदर शांति महसूस होती है।

अप्रयास आनंद के लिए नहीं है ज़रूरत किसी चीज़ की

प्रश्नकर्ता : उस आनंद के बारे में ज़रा ज़्यादा समझाएँगे?

दादाश्री : आनंद अर्थात् क्या? जो बिना किसी भी चीज़ के होता है वह आनंद। चीज़ों के आधार पर जो आनंद होता है उसे सुख कहते हैं। चीज़ों के बिना जो आनंद होता है वह आनंद, वही भगवान है। तुझे कभी बिना चीज़ों के आनंद हुआ है?

प्रश्नकर्ता : चीज़ों के बिना आनंद नहीं होता।

दादाश्री : चीज़ों के आधार पर आनंद... चीज़ें शायद न भी हों, तब फिर आनंद का क्या होगा? चीज़ों के बिना भी रहे, ऐसा आनंद चाहिए ताकि वह बिना मेहनत के प्राप्त होता ही रहे! चीज़ें हों तब तो उसे लेने जाना पड़ेगा बाज़ार में। परवल की सब्ज़ी से हमें आनंद होता हो तो हमें बाज़ार में लेने जाना पड़ेगा, और यदि उस दिन नहीं मिले तो फिर क्या करेंगे? पैसे नहीं होंगे तब परवल कैसे लाएँगे? अतः ऐसा आनंद या सुख भोगने का अर्थ ही नहीं है न! मीनिंगलेस! और जो सुख होने के बाद में वापस दुःख ही आए तो उसे सुख कहेंगे ही कैसे? क्योंकि जिस सुख का अंत आता है उसे सुख कैसे कह सकते हैं? तुझे क्या लगता है?

जगत् की कोई भी चीज़ नहीं मिले और आनंद मिले तो वह आत्मानंद कहलाता है। आनंद तो, अंदर परमानंद होना चाहिए, जागृति पूर्वक वाला। मूर्च्छा नहीं होनी चाहिए। संपूर्ण जागृति पूर्वक आनंद होना चाहिए।

आनंद अंदर से आना चाहिए। बाहर से, आँखों से देखकर आए,

वैसा नहीं होना चाहिए। सनातन आनंद चाहिए! चेतन का आनंद तो एक बार आ जाने के बाद में फिर वापस नहीं जाता। चेतन का आनंद सनातन होता है!

सुख और आनंद के बीच सूक्ष्म भेद का वर्णन किया ज्ञानी ने

प्रश्नकर्ता : दादा, आनंद को सुख नहीं कह सकते?

दादाश्री : नहीं, आनंद और (भौतिक) सुख में तो बहुत अंतर है। आत्मा के उस सनातन सुख को नहीं देखा है, उसकी परछाई भी नहीं देखी है।

प्रश्नकर्ता : आनंद और सुख के बीच क्या अंतर है, यह ज़रा समझाइए न?

दादाश्री : (इस संसार के) जो सुख हैं वे वेदना हैं, एक प्रकार की वेदना है। यदि वह सुख बढ़ जाएगा तो दुःख होगा। यदि आइसक्रीम से तुझे सुख मिलता है और वही आइसक्रीम बहुत खिलाते जाएँ तो क्या होगा तुझे? यानी कि वह सुख खुद वेदना है। सुख भी वेदना है और दुःख भी वेदना है।

जिसे सुख-दुःख कहते हैं वास्तव में वह सुख-दुःख नहीं है लेकिन *शाता-अशाता* है, वेदनीय है। वे दोनों वेदनीय हैं। वेदनीय अर्थात् दोनों दुःख हैं। *शाता* ठंडक देती है और *अशाता* गर्मी देती है। बहुत ठंडक दे तो वह भी दुःख है।

बर्फ को छूने से वह ठंडा लगता है। वह गर्मी में ठंडा लगे तो सुख होता है। सर्दी में ठंडा लगे तो दुःख होता है। अर्थात् ये सुख और दुःख, ये वेदना हैं। इसे (सुख को) *शाता* वेदनीय कहते हैं और (दुःख को) *अशाता* वेदनीय कहते हैं। जबकि आनंद तो स्वभाव है खुद का। निरंतर आनंद, एक क्षण के लिए भी इधर-उधर नहीं होता।

इस संसार के सुख व दुःख तो कल्पनाएँ ही हैं। खुद ही अनंत

सुख का धाम है। उसी में से यह सुख निकलता है। और संसार का यह जो सारा सुख है, यह उसी में से आरोपित किया हुआ है।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, वास्तविक सुख किसे कहेंगे?

दादाश्री : जिस सुख को ज़्यादा भोगने से दुःख रूप हो जाए तो वह वास्तविक सुख नहीं है। जिस सुख को हमेशा भोगने पर भी वह दुःख रूप न हो जाए, उसे कहते हैं वास्तविक सुख। अतः आत्मा का जो सुख है वह सनातन सुख है।

प्रश्नकर्ता : सुख और आनंद दोनों शाश्वत रूप से, साथ में मिल सकते हैं?

दादाश्री : सुख तो हो या न भी हो, आनंद शाश्वत रूप से मिल जाएगा। क्योंकि वेदनीय कर्म है न, इसलिए *अशाता* भी होती है और *शाता* भी हो सकती है। यों तो तीर्थंकर भगवानों को भी थोड़ी-बहुत *अशाता* वेदनीय हो जाती है, कभी हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : किसी के साथ क्या कभी ऐसा हुआ है कि सुख और आनंद साथ में हों?

दादाश्री : नहीं! वर्ल्ड में कभी भी ऐसा नहीं हुआ है। यह आनंद हमेशा के लिए मिल जाता है, शाश्वत आनंद मिलता है।

सुख है ही कहाँ 'यहाँ' संसार में? ये तो भ्रामक मान्यताएँ हैं। इसीलिए 'हम' खुले तौर पर कहते हैं कि आप जो सुख ढूँढ रहे हो, वह सुख 'यहाँ' नहीं मिलेगा। (वास्तविक) सुख आत्मा में है। हमने वह सुख चखा है, अनुभव किया है। इसीलिए 'हम' सभी से कहते हैं कि इस तरफ आओ, उस तरफ सुख नहीं है।

प्रश्नकर्ता : सुख की वास्तविक अनुभूति कैसी होती है?

दादाश्री : एक भी अनुभूति वास्तविक नहीं है। जब तक वास्तविक नहीं हो तब तक क्रोध-मान-माया-लोभ रहते हैं, तब तक दुःख रहता है, चिंता होती है, चिढ़ मचती है। कुछ लोगों को शादी

करने पर ऐसी अनुभूति होती है कि जितना सुख स्त्री में है उतना किसी भी चीज़ में नहीं है। दूसरी तरफ अगर कोई ब्रह्मचारी हो तो वह कहेगा, ब्रह्मचर्य में जो सुख है ऐसा सुख किसी में भी नहीं है! यानी कि वे अनुभूतियाँ स्टैन्ड स्टिल (प्रगति रुक गई है) हैं सारी, बिना बरकत वाली। जो अनुभूति प्राप्ति के बाद में जाए नहीं, वैसी सनातन अनुभूति होनी चाहिए।

न हो अवलंबन बाहर का, वह है आंतरिक सुख

प्रश्नकर्ता : इन दोनों को अलग कैसे समझा जाए कि यह आंतरिक सुख है और यह बाह्य सुख है?

दादाश्री : जब बाहर का अवलंबन नहीं हो और सुख बरते, तो वह आंतरिक सुख है, और अगर चाय अच्छी आए और सुख बरते तो चाय के कारण बाहर से आया है। अगर ठंडी हवा आए, और अच्छा लगे तो उसे बाहर से आया हुआ सुख कहा जाएगा।

प्रश्नकर्ता : हम सुख और आनंद की यह जो परिभाषा समझे हैं तो उसका प्रमाण तो बाह्य सुख है। हमने यही देखा है, और अपने पास यही प्रमाण है लेकिन अंदर का जो सुख है उसके अनुभव का हमें पता नहीं चलता कि किस प्रकार का है? उसका क्या प्रमाण है?

दादाश्री : इंसान सो क्यों जाता है? जब थकान लगे तब नींद आती है और थकान उतर जाती है। लेकिन साथ ही मन में ऐसा लगता है कि आज बहुत अच्छी नींद आई। बहुत अच्छी अर्थात् खुद को सुख बरतता है। इन पाँच इन्द्रियों के दरवाज़ें बंद ही कर दिए न, तब भी अंदर का सुख बरतता है। इसीलिए तो लोगों को सोने पर अंदर सुख बरतता है। सो जाने पर सुख बरतता है। लेकिन वे सारे सुख आवरण लाने वाले सुख हैं। आत्मा को बोरे में डालकर सुख प्राप्त किया जाए तो वह गलत है, उसके बजाय तप करके सुख प्राप्त करना अच्छा है।

नींद में से जागने पर सुख क्यों महसूस होता है? आत्मा में से ही सुख आता है, वह सुख अहंकार को महसूस होता है।

यह बाहर की मशीनरी बंद हो जाए तो भगवान तो हाज़िर ही हैं, उनका सुख बाहर निकलता है। खुद अनंत सुख का कंद ही है, इसलिए फिर अंदर का सुख बाहर निकलता है। जब यह मशीनरी चल रही होती है तब वह सुख बाहर निकलता तो है लेकिन दिखाई नहीं देता।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का जो अंदर का आनंद है, उसका क्या प्रमाण है? स्पष्ट रूप से ऐसा कैसे पता चलेगा कि यह आत्मा का ही आनंद है?

दादाश्री : हम अपनी चीज़ जब दूसरों को दे देते हैं, उस समय पता चलता है। कोई दु:खी व्यक्ति हो तब हम अस्पताल में जाकर उसे कोई चीज़ दे आएँ तो उस समय अंदर आनंद महसूस होता है, वह अपना खुद का है। वह बाहर से नहीं आता।

प्रश्नकर्ता : अपनी चीज़ औरों को देने से उत्पन्न हुआ न वह?

दादाश्री : देने से तो दु:ख ही होता है हमेशा। देने में सुख है ही नहीं। देने में सुख होता तो लोग सबकुछ दे नहीं देते? लेकिन देते समय जो आनंद होता है वह अंदर का आनंद है। उसे दु:ख होना चाहिए, उसके बजाय यदि सुख होता है तो वह अंदर का आनंद है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उसमें भी औरों को चीज़ देने का अवलंबन रहा न?

दादाश्री : अवलंबन का प्रश्न नहीं है। ऐसे करते-करते उसे समझ आएगा कि आंतरिक सुख किसे कहते हैं। सचमुच का आंतरिक सुख कब आता है कि जब एकांत में बहुत दु:ख हो न, तब उसे दु:ख मानता है। कुछ देर दु:ख में रहने के बाद अंदर उसे सुख बरतता है। बाद में अच्छा हो जाता है। दु:ख में सुख कहाँ से आया? नहीं-नहीं, एक घंटे से दु:खी-दु:खी था और कुछ देर बाद हम से कहता है कि, 'हाँ, अब कोई दिक्कत नहीं है, अब चलो।' वह सुख अंदर से आया।

अंदर से हेल्प करता है। फिर उसे ठीक कर देता है बेचारे को। अंदर के सुख से ही जीवन जी रहे हैं लोग। लेकिन वह चीज़ उनके अनुभव में नहीं है न।

महात्माओं को फीके लगते हैं सांसारिक सुख, रहती है निराकुलता

प्रश्नकर्ता : ठीक है दादा समझ में आ गया, बाहर की किसी भी चीज़ में सुख है ही नहीं, सुख खुद के आत्मा में से मिलता है, फिर चाहे उसे खुद के आत्मा के बारे में पता नहीं है, अज्ञान प्रवर्तमान है लेकिन सुख तो आत्मा के संग ही है। अब प्रश्न यह होता है कि हम महात्माओं को तो आत्मा का ज्ञान हुआ है तो उस अनंत सुख का अनुभव कब होगा?

दादाश्री : स्पष्ट वेदन होने में देर लगेगी। अस्पष्ट वेदन है अभी। अतः आपको स्पष्टता में... इसमें तो बहुत टाइम लगेगा अभी।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का शुरुआती सुख और अंतिम (पूर्ण) सुख, इनमें अंतर तो है न? कैटेगरी में बहुत अंतर है न?

दादाश्री : शुरुआती सुख से ही उसे यह सब फीका लगने लगता है। संसार के सुख फीके लगने लगते हैं न, इसलिए उसका अभिप्राय आत्मा की ओर बढ़ता जाता है, और उसका यह अभिप्राय घटता जाता है। लेकिन फिर भी यह छूटता नहीं है, इसका क्या कारण है? तो कहते हैं, जो पूर्व कर्म जमे हुए हैं, वे क्रम छोड़ते नहीं हैं न! इच्छा नहीं हो तब भी संसारी सुख भोगने पड़ते हैं। फीका लगे तब भी भोगो, कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के सुख का पता कैसे चलता है कि यह आत्मा का ही सुख है?

दादाश्री : बाहर की किसी भी चीज़ से सुख न हो। कुछ भी देखने से सुख उत्पन्न नहीं हो, कुछ सुनने से, खाने से, ठंडक से, स्पर्श

से या किसी भी प्रकार का इन्द्रिय सुख न हो, पैसों के कारण सुख न हो, कोई 'आइए, आइए' कहने वाला न हो, विषय सुख न हो, ऐसे में अंदर जो सुख बरतता है वह आत्मा का सुख है। लेकिन इस सुख का आपको खास पता नहीं चल पाता।

दूसरा आत्मा के सुख का लक्षण यह है कि निराकुलता रहती है। ज़रा भी आकुलता-व्याकुलता हो जाए तो समझना कि उपयोग किसी और जगह पर है, मार्ग भूले हैं। बाहर से परेशान होकर आए न, तब पंखा चलाने से बहुत अच्छा लगता है। उसे शुद्ध उपयोग नहीं कहा जाएगा, उसे भी जानना चाहिए। *अशाता* वेदनीय हो तो उसे भी जानना चाहिए और निराकुलता भी रहनी चाहिए। दोनों को जानना चाहिए। *शाता* वेदनीय के साथ एकाकार हो जाए तो उसे भूल कहा जाएगा।

खुद मूल स्वरूप हो जाए तो बरतेगा आनंद

प्रश्नकर्ता : पहले कहा था 'आत्मा अनंत आनंद का धाम है', इस बारे में ज़्यादा स्पष्टता कीजिए?

दादाश्री : आत्मा का पूरा अस्तित्व आनंद वाला ही है। जैसे आनंद का ही कंद हो, वैसा है। उसमें दुःख आ ही नहीं सकते, खुद ही सुख है। जिस प्रकार बर्फ के अंदर अंगारे नहीं होते हैं न, उसी तरह से यह आनंद का ही गोला है। इसमें और कुछ भी प्रवेश नहीं कर सकता। अर्थात् मूल स्वरूप हो जाए तो आनंद ही है, दुःख है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो दुःख भुगतने वाला अपना शरीर है या कोई और है? दुःख कौन भुगतता है?

दादाश्री : अहंकार दुःख भुगतता है। ये जो दुःख महसूस होते हैं, ये अहंकार को होते हैं और जो सुख महसूस होते हैं वे भी अहंकार को होते हैं। बीच में अहंकार बाधक है और यही अज्ञानता है। अहंकार यानी 'मैं करता हूँ और मैं भोगता हूँ', यही अहंकार है। यह अहंकार चला जाए तो आत्मारूप हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : तो फिर यह पीड़ा आत्मा को स्पर्श नहीं करती।

दादाश्री : आत्मा को पीड़ा कभी भी स्पर्श ही नहीं हुई है और यदि पीड़ा स्पर्श हो जाए न, स्पर्श हो जाए तो वह पीड़ा सुखमय हो जाएगी। आत्मा तो अनंत सुख का धाम है। माने हुए आत्मा को पीड़ा होती है, मूल आत्मा को कुछ भी स्पर्श नहीं करता।

यहाँ बर्फ का बड़ा टुकड़ा हो और उसके ऊपर अंगारे डाले जाएँ तो क्या बर्फ जल जाएगी? बर्फ जलेगी या अंगारे बुझ जाएँगे?

प्रश्नकर्ता : अंगारे बुझ जाएँगे।

दादाश्री : बर्फ कभी भी नहीं जलती, अंगारों को बुझना पड़ता है। जिस प्रकार से बर्फ ठंडा कंद है, उसी प्रकार आत्मा आनंद का कंद है। यानी उसे दुःख स्पर्श करे न, तो वह भी सुख रूप हो जाता है।

वह आत्मा कैसा सुख का धाम होगा! निरा सुख ही छलकता रहता है। मूसलाधार सुख आता रहता है।

यह बर्फ का उदाहरण तो मानो स्थूल उदाहरण है, 'एक्ज़ेक्ट' नहीं कह सकते। लेकिन आत्मा अनंत सुख का धनी है, उसे दुःख स्पर्श ही नहीं कर सकता। कैसे स्पर्श करेगा? यदि स्पर्श करेगा तो वह सुख बन जाएगा, सिर्फ स्पर्श मात्र से ही सुख बन जाएगा।

एक ही दिन यदि आत्मा के संग व्यवहार रखे तो फिर दुःख आएगा ही नहीं। सुखिया का संग है तो दुःख आएगा ही कैसे? पूरे जगत् का दुःख आत्मा पर पड़ जाए न, तब भी आराम से, स्थिर। क्योंकि वह दुःख हम पर पड़ता ही नहीं है, दुःख दुःख पर पड़ता है। क्योंकि आत्मा में दुःख नामक गुण है ही नहीं। आत्मा पूरा, निरंतर सुख का ही कंद है। पूरा कंद ही सुख का है। जहाँ देखो वहाँ निरा सुख है लेकिन 'मैं बहुत दुःखी हूँ', ऐसा चिंतवन करने से खुद के अनंत सुख पर आवरण आ जाता है और दुखिया हो जाता है। 'मैं सुखमय हूँ', चिंतवन करते ही सुखमय हो जाता है।

'मैं अनंत सुखधाम हूँ', ऐसा चिंतवन करने से होते हैं दुःख के भागाकार

प्रश्नकर्ता : दादा, और अधिक समझाइए कि, 'मैं बहुत दुःखी हूँ', ऐसा चिंतवन करने से दुःखी हो जाता है?

दादाश्री : आपको यह ज्ञान तो मिला है फिर भी अगर आप कहो कि, 'सिर दुःख रहा है, सिर दुःख रहा है, सिर दुःख रहा है', तो बढ़ता जाएगा। हाँ, सिर दुःख रहा हो और कोई पूछे कि, 'भाई, अभी क्यों इतने गुमसुम हो?' तब कहना, 'ज़रा असर हो गया है' और आपको फिर से क्या बोलना है कि, 'अनंत सुखधाम हूँ, अनंत सुखधाम हूँ।' भागाकार करेंगे न तो कोई रकम नहीं बचेगी जबकि संसारी लोगों से तो गुणाकार हो जाते हैं। जिन्हें ज्ञान नहीं है न, उनसे गुणाकार हो जाते हैं। किस तरह से?

प्रश्नकर्ता : अज्ञान के कारण।

दादाश्री : 'मुझे दुःख रहा है', ऐसा कहते हैं इसलिए। जितना बोलते हैं उतना बढ़ता जाता है। आत्मा का स्वभाव कैसा है? जैसा चिंतवन करे, वह वैसा ही हो जाता है। ऐसा चिंतवन हुआ कि सिर दुःख रहा है, तो वैसा हो जाता है। तो हमें किससे भागाकार करना चाहिए? 'अनंत सुखधाम हूँ।' (मैंने) ये सब तरीके बताए हैं। सभी तरीके बता दिए हैं इसमें, अगर ढूँढ निकाले तो सभी दवाइयाँ हैं इसमें। पूरे अस्पताल की सारी दवाइयाँ दे दी हैं। कोई भी दवाई बाकी नहीं रखी। लेकिन अब इतनी जाँच करनी पड़ेगी न, कि ये शीशियाँ कहाँ रखी हुई हैं?

'अनंत सुखधाम' बोलते ही, आधि-व्याधि-मोहनीय भागें दूर

प्रश्नकर्ता : देह में कोई वेदना हो उस समय असल में तो ऐसे निश्चय से आत्मा निर्वेदक है, मन व शरीर वेदक हैं। उसे वेदना होती है लेकिन उस समय अगर ज़ोर-ज़ोर से बोले, 'मैं अनंत सुख का

धाम हूँ, मैं अनंत सुख का धाम हूँ, मैं अनंत सुख का धाम हूँ, मैं अनंत सुख का धाम हूँ', तो वे सारी वेदनाएँ चली जाएँगी। उनका बिल्कुल भी भार नहीं लगेगा।

दादाश्री : पाँच-पच्चीस बार बोलने से ठीक हो जाएगा।

यह शरीर परेशानियों का कंद है और आत्मा अनंत सुख का कंद है। शरीर तो थोड़ी देर भी चैन से नहीं बैठने देता। रोज़ खिलाते हैं, पिलाते हैं, नहलाते हैं, धुलाते हैं फिर भी सीधा नहीं रहता।

कभी यदि चंदूभाई की तबीयत ठीक नही हो, हाथ, पैर दुःख रहे हों तब कहना, 'अनंत सुख का धाम हूँ, बोलो।' यह तो, पूँजी में से इस्तेमाल करना है न! पहले तो औरों से माँगते थे। हम एक रुपया माँगें तो कहेगा, 'दस दिए हैं' जबकि उसने हमें सिर्फ एक ही दिया, बल्कि अपने नौ चले गए!

शरीर को दुःख हो, तब 'मैं अनंत सुख का धाम हूँ' बोलने से आमने-सामने बैलेंस होकर ठीक हो जाता है। और जब अंदर मानसिक परेशानी हो रही हो तब 'अनंत सुखधाम' बोलते ही अंदर (सुख) बरतने लगता है।

तुझे जब अकुलाहट हो रही हो तब 'मैं अनंत सुखधाम हूँ। मैं अनंत सुखधाम, ऐसा परमात्मा हूँ। मैं अनंत सुख का कंद हूँ', ऐसा बोलना तो सुख उत्पन्न होगा। खुद संपूर्ण सुख स्वरूप परमानंदी है, वह नापसंदगी को 'मैं अनंत सुख वाला हूँ', कह कर बदल देता है।

अत: अपनी शक्तियाँ इसमें डालो। अपने अंदर अपार शक्तियाँ हैं, वे इसमें डाल देनी हैं। पड़ोसी है न, फाइल नंबर वन! मोह हो रहा हो तो बोलना कि, 'मोहनीय अनेक प्रकार की होने से उनके सामने मैं अनंत सुख का धाम हूँ', तो मोह खत्म हो जाएगा। मोह का परिमाण अनंत होने से उनके सामने मैं अनंत सुख वाला हूँ। मेरे सुख के सामने मोहनीय कुछ भी नहीं है।

वे विनाशी सुख हैं जबकि यह तो अविनाशी सुख है। अनंत

प्रकार के मोह और उनमें 'मैं अनंत सुखधाम हूँ', ऐसा कहते हैं। अतः मुझे किसी अन्य मोह की ज़रूरत नहीं है। यह तो, फँस गया है उसमें से निकल जाना है अब।

साहजिक व बिना साधन के प्राप्त वह आनंद है आत्मा का

प्रश्नकर्ता : सही है, मोहनीय के सामने मैं अनंत सुखधाम हूँ।

दादाश्री : मोहनीय अनंत होने के कारण भगवान ने बताया है कि, 'मोहनीय अनेक प्रकार की होने से उनके सामने मैं अनंत सुख का धाम हूँ।' मोहनीय अनेक प्रकार की हैं, यानी कौन-कौन से प्रकार की हैं? जो त्याग किया वह मोहनीय, कपड़े पहनता है वह मोहनीय, आत्मा के अलावा बाकी सब मोहनीय। ये तप-त्याग वगैरह सब मोह के प्रकार हैं।

प्रश्नकर्ता : तप-त्याग को भी मोहनीय कहा तो धार्मिक पुस्तकें पढ़ना भी मोहनीय में आता है? मुझे तो वे पढ़ने में बहुत आनंद आता है।

दादाश्री : पुस्तक पढ़ने से जो आनंद हुआ वह पौद्‌गलिक आनंद है और वह वापस चला जाएगा। आनंद तो अपने अंदर से ही आना चाहिए। वह भी निरंतर, कुछ भी न पढ़ना पड़े। वह आनंद का संग्रहस्थान है पूरा ही। संग्रहस्थान अर्थात् जो देखना चाहो वह सब देखने मिलता है, और फिर आनंद! अब यह किस कारण से है? तो कहते हैं, निर्लेप आत्मा दिया है सभी को। लेकिन निर्लेप का इस्तेमाल करना तो आना चाहिए न सभी को? उसका इस्तेमाल करने में डिफेक्ट (कमी) है, सिर्फ यही डिफेक्ट है!

यानी कि पुस्तक में से आनंद नहीं आना चाहिए, बिल्कुल भी नहीं आना चाहिए। देखो, अपना आनंद कैसा है? परमानेन्ट आनंद है! अतः बाहर कहीं से उधार नहीं लाना है। किसी से प्राप्ति नहीं करनी है। कोई मेहनत नहीं करनी है। बिना मेहनत का आनंद खुद के पास ही है।

यह रिलेटिव स्टेज वाला मार्ग नहीं है। यू आर कम्प्लीट आत्मा और शुद्ध हो, प्योर आत्मा, शुद्धात्मा है और फिर निर्लेप है, असंग है। इतना समझाने के बाद भी अगर निर्लेपता और असंगता में नहीं रह पाते हो तो आपकी समझ कच्ची है, इतना ग़ज़ब का विज्ञान प्राप्त होने के बाद भी!

किसी भी पुस्तक को पढ़ना यानी कि मेहनत करके आनंद हुआ, वह सारा पौद्‌गलिक आनंद है। मेहनत करके नहीं, साहजिक आनंद रहना चाहिए। हाथ काट ले तो भी आनंद न जाए, ऐसा साहजिक आनंद रहना चाहिए। यह कैसा आत्मा दिया है? साहजिक आनंद वाला दिया है। जितनी आपकी समझ में कमी है उतना आप उसका आनंद नहीं उठा पाते।

प्रश्नकर्ता : वैसा आनंद तो रहता है उसमें कोई परेशानी नहीं है।

दादाश्री : तो उसी आनंद में रहने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्य कहीं नहीं ढूँढना है और कहीं पर यदि पढ़ते हो तो 'फाइल है', ऐसा मानकर पढ़ना और फाइल का समभाव से *निकाल* करना। इसमें आनंद आया ऐसा कहते ही आपका यह ज्ञान भ्रमित हो जाता है। उसमें आनंद है ही नहीं। पुस्तक में आनंद होता तो पुस्तक लोगों के लिए कॉमन (सामान्य) नहीं हो जाती। और पुस्तक का आनंद तो, दो लुटेरों की कहानी पढ़ने में ज़्यादा आनंद आता है। तब तो उठने का मन भी नहीं करता।

बाहर से कोई भी आनंद आए तो वह आनंद पौद्‌गलिक है। और खुद को किसी चीज़ के बिना आनंद आए, साहजिक आनंद, उसमें किंचित्‌मात्र भी प्रयत्न नहीं, अप्रयास, तो वह खुद का वास्तविक आनंद है। यदि उसे चखेगा न, तो भरपूर तृप्ति रहेगी हमेशा, निरंतर! भरपूर तृप्ति! वह जो दिया है उस भाग को समझकर उसमें आ जाओ न! यदि मान्यता बदलती है तो उस मान्यता को हटाओ कि 'भाई, तू मेरे घर में मत आना। तू फॉरेन है, होम नहीं है तू। बाहर जा यहाँ से।' फलानी (मान्यता) आई, तो, 'होम में मत आना, बाहर जा। आप

अपने देश में बैठो, हमें अपने देश में रहने दो। पड़ोसी की तरह हम आपका पूरा ध्यान रखेंगे क्योंकि आप निर्जीव हो। आपका स्वयं प्रकाश नहीं है इसीलिए मैं आपको प्रकाश दूँगा, लेकिन आप तो बाहर बैठो। दखल मत देना हम में'। तो खुद का साहजिक आनंद रहेगा। इससे अपार, ग़ज़ब का आनंद होता है! ग़ज़ब अर्थात् बेहिसाब।

भगवान ने कहा है कि सिद्ध भगवान का एक मिनट का आनंद... यदि पूरी दुनिया के तमाम जीवों के एक साल के आनंद को इकट्ठा किया जाए, तो उसके बराबर होता है। लो, एक मिनट में! सिद्ध भगवान जैसा आनंद आपको नहीं रहता? आप आठवें भाग तक के सिद्ध हो चुके हो और आपको कैसा लगना चाहिए, कि यह शरीर भार रूप लगते रहना चाहिए, कि यह बोझ है। 'यह जो फाइल है यह बोझ है', ऐसा ही लगते रहना चाहिए कि यह बोझ है। आनंद कम न होने दे, ऐसा निर्लेप आत्मा दिया है। फिर किसी से ज़रा सी भी भूल नहीं होगी। साइन्स है यह तो। एक परमाणु की भी भूल हो जाए तो पूरा साइन्स बदल जाएगा, फिर भी आपका आत्मा चला नहीं जाएगा इसलिए बार-बार सेट हो जाओ। यदि सीट बदल जाए, फिसल जाओ तो फिर से सेट हो जाओ, फिर से फिसल जाओ तो फिर से सेट हो जाओ लेकिन बाहर का मेहनत वाला आनंद पौद्गलिक आनंद है, विनाशी है। प्रयास से किए हुए को पौद्गलिक कहते हैं।

जो अपना नहीं है उसे यदि एक तरफ रख दें तो अनंत सुख प्राप्त होता है। ये सारी पराई चीज़ें हैं, आत्मा के अलावा बाकी सभी पराई चीज़ें हैं। कोई भी चीज़ कभी भी आपकी नहीं हो पाएगी। इसलिए दादा ने जो आत्मा दिखाया है वह आत्मा, वही अपना स्वरूप है और वही अपनी संपत्ति है और उसमें अनंत सुख का धाम है। खुद का जो सुखधामपन है, उसी में रहना है।

सुखधाम के अलावा अंदर अन्य कोई भी परिणाम उत्पन्न हो, *शाता* चली जाए न, तो समझना कि शुद्धात्मा से बाहर निकल गए। अंदर *शाता* (निराकुलता) रहती है न? अंदर रहती है न *शाता*?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : ये मुझ से क्या कहते हैं? बाहर मुझे सभी परेशानियाँ रहती हैं लेकिन अंदर की *शाता* नहीं जाती। मैंने कहा, 'पूरे जगत् को अंदर *अशाता* रहती है और बाहर *शाता* रहती है, लेकिन हमें अंदर *शाता* रहती है', वही आत्मा है। बस यही देखना है कि *शाता* न जाए, कुछ और नहीं देखना है। *शाता* चली जाए तो फिर से शुद्धात्मा का रटन करते रहना, किसी और में पड़ने जैसा है ही नहीं। समभाव से फाइलों का *निकाल* करना है।

सुख-दुःख के असर से मुक्त, वही आनंद

प्रश्नकर्ता : दादा, सत्-चित्त दोनों स्वरूप समझ में आते हैं लेकिन आनंद समझ में नहीं आता।

दादाश्री : वह तो यदि हमारी आज्ञाओं का पालन करोगे तो निरा आनंद ही रहेगा। आज्ञा पालन करने वाला होना चाहिए। कभी भी उलझेगा नहीं और आनंद रहेगा।

आपको क्या रहता है भाई, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा रहता है?

प्रश्नकर्ता : हाँ, अखंड रूप से। चाहे कैसे भी संयोग हों चिंता, दुःख नहीं रहते। लेकिन परम आनंद स्वरूप क्या है, वह अभी ठीक से समझ में नहीं आता।

दादाश्री : दुःख में जो आनंदमय स्थिति रहती है उसे कहते हैं आनंद।

प्रश्नकर्ता : दुःख तो चला ही जाता है यों।

दादाश्री : वही आनंद है। आनंद हो तो सुख-दुःख का असर नहीं होता, उसी को आनंद कहते हैं। जगत् विस्मृत करवा दे, उसे आनंद कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : तो उदासीनता और आनंद कितने अलग हैं?

दादाश्री : बहुत अलग हैं। उदासीनता वैराग्य में से उत्पन्न हुई चीज़ है और आनंद तो ज्ञान की चीज़ है। यह तो हमारे ज्ञान का फल है, किसी ने उदासीनता नहीं देखी हो, फिर भी। वैराग्य नहीं देखा हो, फिर भी।

बढ़े-घटे वह आनंद पड़ोसी का, स्वाभाविक है आत्मा का

प्रश्नकर्ता : कभी भी जब आनंद-उल्लास का अतिरेक हो जाता है तो क्या वह आत्मा का है?

दादाश्री : उल्लास अधिक हो जाता है तो वह भी आत्मा का स्वभाव नहीं है और जो डाउन (कम) हो जाता है वह भी आत्मा का आनंद नहीं है। वह दृष्टि फेर का रोग है। जो कम-ज़्यादा होता है, वह माल भी पड़ोसी चंदूभाई के वहाँ का है। आत्मा तो स्वाभाविक आनंद में रहता है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि जो भी अतिरेक आनंद होता है वह, वह नहीं है लेकिन उस जैसा दिखाई देता है।

दादाश्री : वह जो अति हो जाती है, वह भी हम नहीं हैं। अपने पड़ोसी को जो डाउन महसूस होता है वह भी (हम) नहीं हैं। ये सारे गुणधर्म तो पड़ोसी के हैं, अति होना, कम होना, बढ़ना-घटना। उससे (अलग रहकर) खुद अपने घर में ही मुकाम रखना चाहिए। उसके बाद चेहरे पर आनंद आएगा। किसी को ऐसा लगेगा कि, 'भाई कुछ नई तरह की खोज करके लाए हैं! कुछ है, इनके पास कुछ है!' मूल वस्तु में इस तरह उल्लास कम-ज़्यादा हो जाए, वह आत्मविभाग नहीं है।

प्रश्नकर्ता : आनंद आत्मा का अन्वय गुण माना जाता है न?

दादाश्री : हाँ, आनंद तो आत्मा के सहचारी गुणों में से एक गुण है, अन्वय गुण है। आत्मा जानने के बाद आत्मा का शुद्ध पर्यायिक आनंद उत्पन्न होता है। वह क्रमशः बढ़ते-बढ़ते संपूर्ण दशा तक पहुँचता

है। जैसे बाहर के सभी संयोगों में से मुक्त हो जाने के बाद पूर्ण केवलज्ञान होने तक कुछ भाग शुद्ध पर्याय में नहीं रहते। केवलज्ञान के बाद में जब सभी (भाग) शुद्ध पर्यायों में आ जाते हैं, तब वह मोक्ष में चला जाता है।

प्रश्नकर्ता : जो पूर्णस्वरूप हो जाता है उसका क्या कर्तव्य है?

दादाश्री : चंद्र की पड़वा, दूज या तीज में उसका क्या कर्तव्य है? जितना आवरण टूटा उतना प्रकाश देता है।

सभी फेज़ेज़ चले जाने के बाद पूर्ण आत्मा, वह आनंद का कंद है और पूरी दुनिया खुद में झलकती है। वह दुनिया में नहीं झलकता, जैसे दर्पण में झलकता है वैसे। फिर अवलंबन नहीं लेता।

वहाँ से वापस नहीं आना है। फिर से कर्म नहीं लगेंगे। उसे वहाँ पर निरा परमानंद सुख भोगना है, हमेशा के लिए। खुद के स्वाभाविक गुणों में ही, सुख में ही रहना है। और इन सभी को कभी न कभी वहीं पर जाना है।

स्वाभाविक सुख के लिए नहीं है ज़रूरत शरीर की

प्रश्नकर्ता : लेकिन उस सुख का... फिर यदि वहाँ शरीर नहीं रहेगा तो सुख का पता कैसे चलेगा?

दादाश्री : यह शरीर है न, इसीलिए सुख का पता नहीं चलता। इस शरीर को लेकर ही तो सुख का बिल्कुल भी पता नहीं चलता। जिसे हम सुख कहते हैं वह वास्तविक सुख नहीं है। वह तो *शाता* वेदनीय है, और दुःख *अशाता* वेदनीय है। यह वास्तविक सुख नहीं है। वास्तविक सुख तो सनातन सुख है, जो सुख आने के बाद में फिर कभी जाए ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उस सुख का पता कौन से अंग को चलता है?

दादाश्री : अंग की ज़रूरत ही नहीं है। अंग को जो पता चलता

है न, वह वेदनीय कहलाता है जबकि यह (आत्मा का सुख) स्वाभाविक सुख है।

स्वाभाविक यानी वह खुद ही आनंद से भरपूर है। यह तो दूसरों में से आनंद लेने निकला है कि, 'इसमें से आनंद लूँ या इसमें से लूँ या जलेबी में से लूँ!' वह खुद आरोपण करता है इसलिए जलेबी में आनंद महसूस होता है, वर्ना नहीं होगा। बल्कि दुःख महसूस होगा। अर्थात् चीज़ों में आनंद नहीं है। बल्कि उनमें खुद का आनंद डालता है।

प्रश्नकर्ता : उस देह रहित सुख का अनुभव अभी कैसे हो सकता है?

दादाश्री : देह रहित सुख के अनुभव का खुद चिंतवन करता है लेकिन देह तो है ही साथ में, अतः वह सुख देह रहित सुख जैसा नहीं हो सकता। इस पर से हमें हिसाब लगाना है कि यहाँ यदि इतना अधिक सुख है तो वहाँ कैसा सुख होगा!

सिद्धगति में ज्ञान-दर्शन से सुख का स्वानुभव

प्रश्नकर्ता : जो सिद्धगति में हैं, मोक्ष में चले गए हैं, वे लोग जिस देह रहित सुख का अनुभव करते हैं उस सुख का अनुभव कौन करता है?

दादाश्री : खुद ही, खुद अपने आप का अनुभव करता है। खुद अपने आप का स्वानुभव सुख भोगता ही रहता है और फिर वे निरंतर गतिमान हैं। उनका कार्य क्या है? ज्ञानक्रिया और दर्शनक्रिया, जो निरंतर चलती ही रहती हैं!

प्रश्नकर्ता : फिर वहाँ उन्हें क्या ज़रूरत है इस ज्ञानक्रिया और दर्शनक्रिया की?

दादाश्री : वह तो उनका स्वभाव है। यह जो लाइट है यह निरंतर हमें देखती रहती है न? यह लाइट यदि चेतन होती तो निरंतर हमें देखती ही रहती या नहीं? उसी प्रकार से यह चेतन देखता रहता है।

अब वे वहाँ पर रहकर क्या देखते होंगे? अब उनके पास जो ज्ञान व दर्शन हैं न, उनके उसी अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन का उपयोग होता है, उसके परिणामस्वरूप आनंद होता है। अत: आनंद पहले नहीं आता। आनंद पहले और फिर ज्ञान और दर्शन, ऐसा नहीं है। उनके ज्ञान और दर्शन का जब उपयोग होता है तब आनंद रहता ही है! उनके पास ज्ञान व दर्शन के अलावा और कुछ भी नहीं है। वह पूरा स्वरूप ही ज्ञान स्वरूप है, दर्शन स्वरूप है। मैंने हाथ ऊँचा किया, वह सब सिद्धों को ज्ञान में दिखाई देता है। वे सिद्ध ज्ञेयों को जानते ही रहते हैं। इस जगत् में ज्ञेय और दृश्य दो ही चीज़ें हैं। ज्ञेय को जानते रहते हैं और दृश्य को देखते रहते हैं। उसका परिणाम क्या है? अनहद सुख, सुख का अंत ही नहीं। वह स्वाभाविक सुख है।

प्रश्नकर्ता : अब, वे सभी अलग-अलग होते हैं या सभी एक लेवल में ही हैं?

दादाश्री : उनमें अंतर नहीं है! वे तो देहधारी ही नहीं हैं न! वे सभी तो अरूपी हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, आत्मा मोक्ष में जाता है और फिर ज्ञाता-द्रष्टा बनता है, फिर क्या उसी में आगे बढ़ता रहता है?

दादाश्री : फिर आगे बढ़ने का रहा ही कहाँ कि वह बढ़ेगा?

प्रश्नकर्ता : बस, एक स्थिर स्थिति हो गई?

दादाश्री : फिर वह ध्येय है और वही परमात्मा जीवन, बस। जो हम ढूँढ रहे हैं। अनंत जन्मों से क्या ढूँढ रहे हैं? तो कहते हैं, सुख। लेकिन ऐसा सुख आने के बाद फिर दु:ख आए तो अच्छा नहीं लगता। तो कहते हैं, सनातन सुख चाहिए। सनातन सुख खुद का स्वभाव है।

प्रश्नकर्ता : मोक्ष में जो सुख है वह किस आधार पर है? उसका आधार तो होगा ही न?

दादाश्री : वह दृश्यों और ज्ञेयों के आधार पर है। आत्मा खुद ज्ञाता-द्रष्टा है, और उसका सुख दृश्य और ज्ञेयों के आधार पर है।

सत्-चित्त है स्वरूप आत्मा का, आनंद उसका स्वभाव

प्रश्नकर्ता : दादा, आत्मा ज्ञान स्वरूप है या आनंद स्वरूप है?

दादाश्री : वह आनंद स्वरूप, ज्ञान स्वरूप सभी कुछ है। उसका मूल स्वरूप, ज्ञान स्वरूप है। आनंद तो उसका स्वभाव ही है, स्वरूप नहीं।

प्रश्नकर्ता : हम जो सच्चिदानंद कहते हैं न, सत्-चित्त-आनंद, तो वह आत्मा का ही स्वरूप है न?

दादाश्री : नहीं। सत्-चित्त आत्मा का स्वरूप है और आनंद उसका स्वभाव है। सत्-चित्त अर्थात् आत्मा का स्वरूप। सत्-चित्त अर्थात् शुद्धता, शुद्ध चित्त, शुद्धात्मा।

परमानंद, वही है मोक्ष

प्रश्नकर्ता : तो फिर आत्मा का स्वभाव क्या है? परमानंद या मोक्ष?

दादाश्री : दोनों ही उसके स्वभाव हैं!

प्रश्नकर्ता : परमानंद और मोक्ष में कोई अंतर है क्या?

दादाश्री : मोक्ष में और परमानंद में अंतर नहीं है। जिसमें परमानंद उत्पन्न हुआ न, वह व्यक्ति एकाध जन्म में मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। यानी फिर इस देह से मुक्ति मिल जाती है। फिर वापस देह उत्पन्न नहीं होती।

अत: परमानंद तो जीवन मुक्ति कहलाती है, उसी को मोक्ष कहते हैं। वह सब से बड़ा मोक्ष है। अभी हम मोक्ष में ही रहते हैं, हमेशा के लिए। बीस साल से हम मोक्ष में हैं। ज्ञान से पहले नहीं थे, तब तो बेहिसाब चिंता और परेशानियाँ, अंदर अहंकार और पागलपन था सारा।

परमानंद अर्थात् परम तृप्ति। शरीर गया तो परम तृप्ति। शरीर गया तो परमानंद। जब तक शरीर का बोझ है तब तक तृप्ति। बाहर चाहे कितनी भी आफतें आ रही हों फिर भी तृप्ति नहीं जाती।

प्रयत्न से आत्मानंद, बिना प्रयत्न के सहजानंद, पूर्णत्व से परमानंद

प्रश्नकर्ता : परमानंद और आत्मानंद में क्या अंतर है?

दादाश्री : आनंद तो आपको आ गया है। वह आनंद क्या है? तो कहते हैं कि संसार का कोई दु:ख स्पर्श नहीं करे, वह आनंद।

प्रश्नकर्ता : और परमानंद?

दादाश्री : परमानंद अर्थात् खुद अपने सुख में ही रचा-बसा रहता है।

प्रश्नकर्ता : तो आनंद, सहजानंद और परमानंद में क्या अंतर है?

दादाश्री : सहजानंद अर्थात् बिना प्रयत्न के आनंद उत्पन्न होता रहता है, किसी भी प्रकार के प्रयत्न के बिना। आत्मानंद प्रयत्न वाला है, प्रयत्न के बिना मिले, वह सहजानंद और परमानंद अर्थात् भगवान। यह एक ही प्रकार का आनंद है लेकिन आत्मानंद प्रयत्न दशा में है, और प्रयत्न रहित आनंद, सहजानंद। सहज अर्थात् प्रयत्न किए बिना, अप्रयत्न दशा। हमारा सहजानंद है और आपका आत्मानंद है।

प्रश्नकर्ता : और सब से श्रेष्ठ परमानंद?

दादाश्री : परमानंद, वह पूर्णाहुति।

आत्मा के संग अभेदता, तो रहता है परमानंद

आत्मा के संग निरंतर रहने वाला गुण है परमानंद। वह प्रतिक्षण साथ में रहता है। परमानंद के बिना आत्मा रह ही नहीं सकता। परमानंद, यदि 'हमारी' 'आत्मा' के साथ एकता-अभेदता उत्पन्न हो जाए तो हमें उस परमानंद का लाभ मिल जाएगा। यदि आत्मा से अलग है, यानी 'मैं चंदूभाई हूँ', तो फिर ज़रा सा भी परमानंद नहीं चखेगा।

आनंद में दु:खों से मुक्त हो जाता है, संसारी दु:खों से, इसलिए शांति अनुभव करता है, शांति का! वह कड़वी दवाई पीता है फिर भी परेशानी नहीं आती, कोई गाली दे जाए तो भी परेशानी नहीं होती। वह शांति का अनुभव करता है। उस दशा का अनुभव होने के बाद में परमानंद आता है। लेकिन उस समय आनंद तो रहता ही है पूरा। कोई गाली दे तो भी अंदर असर नहीं होता यानी आनंद तो है ही। संसारी दु:ख के अभाव को तो सब से बड़ा सुख कहते हैं।

स्वभान होने के बाद रहता है परमानंद, जो है स्वभाव 'खुद' का

प्रश्नकर्ता : परमानंद में कौन रहता है? मैं रहता हूँ या परमात्मा रहते हैं?

दादाश्री : नहीं, आप खुद ही, मैं ही। 'मैं चंदूभाई नहीं', 'मैं चंदूभाई', वह रिलटिव व्यू पॉइन्ट से है। 'मैं शुद्ध चेतन हूँ', ऐसा भान हो जाना चाहिए आपको। अस्तित्व का भान हो जाना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : चेतन को परमानंद में रहने की ज़रूरत है क्या?

दादाश्री : नहीं, खुद ही परमानंद स्वभाव वाला है, स्वाभाविक रूप से परमानंद है। उसे रहने की कोई ज़रूरत नहीं है। खुद स्वाभाविक है। यह तो, आप 'मैं चंदूभाई' हो गए इसीलिए आप परमानंद ढूँढते हो। क्योंकि आपके पास परमानंद नहीं है।

बुद्धि की दखलंदाज़ी गैरहाज़िर, वहाँ पर परमानंद हाज़िर

प्रश्नकर्ता : कौन सी स्थिति को हम परमानंद कहते हैं? उसका कोई वर्णन तो होगा न?

दादाश्री : ये सूर्यनारायण हैं लेकिन दिखाई नहीं देते। फिर भी नीचे प्रकाश दिखाई देता है। बादल हल्के हैं इसलिए छाया वाला प्रकाश दिखाई देता है। अभी आपको ऐसा सुख मिला है और जब बादल नहीं रहेंगे और स्वभाव में ही आ जाएँगे तो परमानंद है।

प्रश्नकर्ता : उस परमानंद की तरफ जाएँ कैसे?

दादाश्री : बुद्धि का उपयोग नहीं हो और ज्ञाता-द्रष्टा रहे तो परमानंद रहता ही है। और उस परमानंद का अनुभव ही आत्म अनुभव है। दखलंदाज़ी नहीं करे तो वह ज्ञाता-द्रष्टा रहेगा और उसी का फल परमानंद है। शुद्धात्मा का स्वभाव ज्ञायक स्वभाव है। उस स्वभाव का फल क्या है? परमानंद!

गुप्त चमत्कार यानी क्या कहना चाहते हैं कि यह परमानंद खुद के पास ही है। इसे ढूँढने के लिए देखो यह धाँधली मचाई है, लेकिन वह मिलता नहीं है। यह गुप्त चमत्कार है। यदि वह मिल जाए तो काम हो जाएगा।

जब खुद अपने दोष देखेगा तब स्वयं ज्योति सुखधाम हो जाएगा!

❖❖❖❖❖

[5]

अगुरु-लघु

गुण : पुद्गल के गुरु-लघु, आत्मा के अगुरु-लघु

प्रश्नकर्ता : आत्मा के गुण अगुरु-लघु हैं, यह समझाइए।

दादाश्री : आत्मा के गुण जो हैं न, वे अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। बढ़ते नहीं हैं, घटते नहीं हैं। उसका परमानंद नामक गुण है। ज़रा भी बढ़ता या घटता नहीं है। ज्ञान नामक गुण है, वह ज़रा भी नहीं बढ़ता या घटता नहीं है। दर्शन नामक गुण ज़रा भी बढ़ता या घटता नहीं है। अगुरु-लघुत्व, बढ़ता-घटता नहीं है। बढ़ने-घटने को ही भ्रांति कहते हैं, उसी को *पुद्गल* कहते हैं।

गुरु-लघु अर्थात् गोत्रकर्म उत्पन्न होते हैं। ऊँच-नीच रहती है। उच्च गोत्र, नीच गोत्र, वह सब गुरु-लघु है। गोत्र लघु-गुरु बनाता है और अगोत्र अलघु-गुरु बनाता है।

जो कम-ज़्यादा होता है वह सब अनात्मा ही है और जो कम-ज़्यादा नहीं होता, वह आत्मा है।

यह जो अपना *पुद्गल* है न, अपना शरीर है न, जिस *पुद्गल* को हमें छोड़ देना है, वह गुरु-लघु स्वभाव वाला है और हम अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। हमें इस विकारी *पुद्गल* से छूटना है। इसलिए हमने कहा है कि यह सब गुरु-लघु स्वभाव वाला है, और मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ।

चेतन का स्वभाव अगुरु-लघु है। अपना मूल स्वभाव अगुरु-लघु है इसलिए तो, खुद गुरु-लघु में से अगुरु-लघु स्वभाव वाला बनने का प्रयत्न कर रहा है।

मैं शुद्धात्मा, ज्ञाता-द्रष्टा व परमानंदी और उसके जो गुण हैं वे सभी अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। और जड़ के ये जो सारे गुण हैं, ये गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। शुद्धात्मा का स्वभाव देखने और जानने का है, वह कभी भी कम-ज़्यादा नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : चेतन में तो ज्ञाता-द्रष्टा, दो ही भाव हैं न या और कोई भाव हैं?

दादाश्री : अन्य बहुत सारे भाव हैं लेकिन वे सब अगुरु-लघु भाव हैं। खुद कम-ज़्यादा होता ही नहीं है और जो कम-ज़्यादा होते हैं उन्हें हमें देखना है कि ये जड़ भाव हैं।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का अगुरु-लघु स्वभाव यानी किसी भी प्रदेश को बाहर नहीं जाने देता, ऐसा?

दादाश्री : हाँ, उसके प्रदेश से बाहर नहीं जाने देता, यानी कि स्थिरता नहीं छोड़ता।

ज्ञेय-दृश्य गुरु-लघु, आत्मा अगुरु-लघु

प्रश्नकर्ता : अगुरु-लघु स्वभाव के बारे में ज़रा ज़्यादा स्पष्टता कीजिए।

दादाश्री : ये सभी चीज़ें गुरु-लघु हैं, जो आपके टच में आती हैं न! वज़न में हल्की होती हैं, भारी होती हैं। हल्की हों तो भारी हो जाती हैं, भारी हों तो हल्की हो जाती हैं, ऐसा सब आता है न?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : यह घड़ी की चैन जैसे-जैसे घिसती जाती है वैसे-वैसे हल्की होती जाती है न?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : और गुरु यानी ये बाल बढ़ते ही रहते हैं, हम कटवाते रहें फिर भी?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : गुरु होते ही रहते हैं न?

और अगुरु-लघु अर्थात् बढ़ते-घटते नहीं हैं, मोटा नहीं होता, पतला नहीं होता, लंबा नहीं होता, ठिगना नहीं होता, वज़नदार नहीं होता, हल्का नहीं होता, जैसा है उसी स्थिति में रहता है।

प्रश्नकर्ता : ठीक है, जो हम देखते हैं वे सारी चीज़ें गुरु-लघु ही हैं।

दादाश्री : सारी गुरु-लघु हैं। जितनी देखो न, वे सारी गुरु-लघु हैं। इस जगत् की सारी चीज़ें गुरु-लघु वाली हैं।

जगत् में जो कुछ दिखाई देता है, वह गुरु-लघु है। गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। उन्हें देखने वाला (बुद्धि, अहंकार) भी गुरु-लघु स्वभाव वाला है और जो आत्मा है वह अगुरु-लघु स्वभावी है।

अब ऐसा अगुरु-लघु स्वभाव सभी तत्त्वों का है। छहों तत्त्व निर्लेप हैं। सभी अविचल हैं।

सिर्फ आत्मा ही नहीं, छहों तत्त्व अगुरु-लघु

प्रश्नकर्ता : दादा, ऐसा कहा है कि आत्मा अगुरु-लघु है लेकिन अन्य वस्तुएँ अगुरु-लघु कैसे हो सकती हैं, जो कोई भी हो, वह? दिमाग़ में, बुद्धि में फिट हो ऐसी बात नहीं है यह। या तो लघु या फिर गुरु है। या तो यह है, या तो वह है, कुछ तो है न? क्योंकि अगुरु-लघु सिर्फ आत्मा ही है।

दादाश्री : नहीं, सिर्फ आत्मा ही नहीं, छहों तत्त्व।

प्रश्नकर्ता : दोनों में से एक हो सकता है लेकिन यह तो अगुरु-लघु, गुरु भी नहीं और लघु भी नहीं। तो कैसा?

दादाश्री : समकक्षा कहा जाएगा, समकक्षी।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के बारे में अगुरु-लघु समझा जा सकता है लेकिन आप कहते हैं कि जो परमाणु हैं वे परमाणु भी अगुरु-लघु हैं, ऐसा कैसे हो सकता है?

दादाश्री : हाँ, वे भी अगुरु-लघु हैं।

प्रश्नकर्ता : क्योंकि जब हम परमाणुओं की बात करते हैं तब ये जो एटम हैं या कोई अणु हैं, उनका विभाजन करते-करते-करते-करते फिर जब विभाजन नहीं हो पाए तब उसे परमाणु कहते हैं।

दादाश्री : हाँ, उसे परमाणु कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : फिर वह लघु तो है लेकिन अगुरु-लघु कैसे कह सकते हैं? वह अगुरु-लघु कैसे हो सकता है?

दादाश्री : ऐसा नहीं, अगुरु-लघु अर्थात् गुरु भी नहीं और लघु भी नहीं। यह मूल तत्त्व जो है उसे सिर्फ परमाणु ही कहते हैं। परमाणुओं से जो तत्त्व (जल, पृथ्वी, वायु, तेज) बने हैं वे अन्य विकारी भावों वाले हो गए हैं। उनसे फिर अणु बनते हैं, फिर इतना बड़ा पत्थर बनता है, ऐसा सब होता है, वे सभी गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं।

ये जितने भी छः तत्त्व हैं ये सब अगुरु-लघु हैं, मूल तत्त्व। मूल तत्त्व हमें पाँच इन्द्रियों से अनुभव में नहीं आ सकते। इसलिए इस जगत् में जो-जो दिखाई देता है वह सारा गुरु-लघु है। हाँ, जो इन्द्रियगम्य है वह सारा ही गुरु-लघु है।

आत्मा और परमाणु के अलावा अन्य जो तत्त्व हैं, वे भी अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं और वे टंकोत्कीर्ण हैं। टंकोत्कीर्ण कहते हैं न, वह अगुरु-लघु स्वभाव को लेकर है। सभी अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं और टंकोत्कीर्ण भाव से रहे हुए हैं।

पृथ्वी, पानी, तेज, वायु हैं गुरु-लघु

छः वस्तुएँ हैं इस जगत् में, ऐसा मैं गारन्टी से कहता हूँ। छः वस्तुएँ शाश्वत और सत् ही हैं। सत् का अर्थ यही है कि वह अविनाशी होता है और साथ ही गुण व पर्याय सहित होता है और अगुरु-लघु स्वभाव वाला होता है। सभी तत्त्व ऐसे हैं, सिर्फ शुद्धात्मा ही नहीं। सभी तत्त्व सत् कहलाते हैं।

तत्त्वों का स्वभाव कैसा है? अगुरु-लघु। तत्त्व के लिए यदि विशेषण का उपयोग करना हो तो अगुरु-लघु लिखना होगा। जो बढ़ता नहीं है, घटता नहीं है, उसे तत्त्व कहते हैं। भारी नहीं, हल्का नहीं, लंबा नहीं, छोटा नहीं, जब हर तरह से ऐसा हो तब उसे अगुरु-लघु तत्त्व कहा जाता है।

प्रश्नकर्ता : मूल तत्त्व कम-ज़्यादा नहीं होता, अब ऑक्सीजन तो कम हो जाती है?

दादाश्री : ऑक्सीजन मूल तत्त्व नहीं है। मूल तत्त्व तो परमानेन्ट होता है, उसमें बदलाव नहीं होता। कम नहीं होता, बढ़ता नहीं है, कोई चेन्ज नहीं होता। ऑक्सीजन मूल तत्त्व नहीं है, हाइड्रोजन मूल तत्त्व नहीं है, पानी मूल तत्त्व नहीं है।

आपकी समझ में आया न? बाकी का सब कम-ज़्यादा होता ही रहता है। मूल तत्त्व के अलावा हर एक चीज़ कम-ज़्यादा होती है। वह गुरु-लघु होती है और मूल तत्त्व अगुरु-लघु होता है।

प्रश्नकर्ता : पानी मूल तत्त्व नहीं है?

दादाश्री : नहीं-नहीं! पानी, तेज, वायु, ये मूल तत्त्व नहीं हैं। सिर्फ आकाश मूल तत्त्व है।

प्रश्नकर्ता : अब ये छः तत्त्व अविनाशी तत्त्व हैं, उनमें आत्मा गुरुतम है या सभी तत्त्व गुरुतम है?

दादाश्री : सभी एक सरीखे हैं, गुरुतम-लघुतम नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : सभी एक सरीखे ही हैं न? तो आत्मा को परम तत्त्व क्यों कहा है आपने?

दादाश्री : उसमें चेतन गुण है, इसलिए।

शुद्ध स्वरूप में अगुरु-लघु, विकारी रूप में गुरु-लघु

प्रश्नकर्ता : तो अगुरु-लघु स्वभाव सभी द्रव्यों में सामान्य है?

दादाश्री : उनका जो अगुरु-लघु स्वभाव है न, यह सभी में कॉमन है लेकिन शुद्ध स्वरूप में है। वे तत्त्व शुद्ध स्वरूप में हैं, और यह सभी में कॉमन है। लेकिन जब वे विकृत स्वरूप वाले हो जाते हैं, विकारी हो जाते हैं तब वे गुरु-लघु हो जाते हैं। बाकी, आत्मा कभी भी विकारी नहीं हो जाता। आत्मा स्वभाव से कभी भी विकारी नहीं हो जाता। यह तो भ्रांति भरी हुई है, और भ्रांति के कारण *पुद्गल* का विकारी होने का स्वभाव है। *पूरण-गलन* वाला यानी विकारी होने का स्वभाव है, और इससे ये देह-वाणी व मन उत्पन्न हुए हैं और वे *पूरण-गलन* स्वभाव वाले हैं। तत्त्व स्वरूप से सभी वस्तुएँ अगुरु-लघु हैं लेकिन विकृत भाव से गुरु-लघु हो जाते हैं।

जो गुरु-लघु होता है वह सब *पुद्गल* है, परमाणु नहीं। परमाणु गुरु-लघु नहीं होते रहते। जिन्हें स्वाभाविक परमाणु कहा जाता है न, विश्रसा, वे स्वाभाविक हैं। उनमें *पुद्गल* नहीं होता। वे अगुरु-अलघु हैं। जबकि यह जो विकृत *पुद्गल* है, विकारी *पुद्गल,* इसमें खून-पीप वगैरह निकलता है।

प्रश्नकर्ता : वह मिश्रसा है?

दादाश्री : मिश्रसा *पुद्गल* गुरु-लघु वाला है। मनुष्य जब कोई भाव करता है न, तब वे जो परमाणु हैं वे खिंचते हैं। जब परमाणु खिंचते हैं तब प्रयोगसा कहलाते हैं और फिर मिश्रसा हो जाते हैं। प्रयोगसा जब मिश्रसा होने के बाद में फल देकर वापस विश्रसा हो जाते हैं तब फिर से अगुरु-लघु स्वभाव वाले, जबकि ये मिश्रसा और

प्रयोगसा, ये सब गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। ये राग-द्वेष होते हैं न, तो राग बढ़ता भी है और घटता भी है।

प्रश्नकर्ता : हानि-वृद्धि के समय अगुरु-लघु स्वभाव कैसा रहता है?

दादाश्री : अगुरु-लघु स्वभाव अर्थात् बाहर हानि हो या वृद्धि, लेकिन 'खुद' अगुरु-लघु स्वभाव में आ जाता है। (खुद में) हानि-वृद्धि नहीं होने देता। अगुरु-लघु स्वभाव में हानि-वृद्धि कभी भी नहीं हो सकती। हानि होती है, वृद्धि होती है और वापस अगुरु-लघु स्वभाव में आ जाता है। लेकिन यह जो *पुद्गल* है न, सिर्फ उसी में हानि-वृद्धि होती है।

पुद्गल परमाणु अविनाशी हैं लेकिन ये जो *पुद्गल* की अवस्थाएँ दिखाई देती हैं वे सारी विनाशी हैं। अवस्थाओं का नाश होता है, वस्तु वही की वही।

प्रश्नकर्ता : राग-द्वेष हो जाते हैं, क्रोध-मान-माया लोभ, वह सब जो हो जाता है वह कौन सा *पुद्गल* है?

दादाश्री : वह सारा ही विकारी *पुद्गल* है, वास्तविक *पुद्गल* नहीं है। वास्तविक *पुद्गल* परमाणु स्वरूप से लघु-गुरु नहीं है, अगुरु-लघु स्वभाव वाला ही है।

प्रश्नकर्ता : मूल परमाणु अगुरु-लघु हैं, बाकी के स्कंध, देह, प्रदेश, सब गुरु-लघु?

दादाश्री : फिर तो वे सब गुरु-लघु ही हुए न!

प्रश्नकर्ता : फिर वे सब परमाणु के पर्याय माने जाते हैं न?

दादाश्री : उन्हें अवस्थाएँ कहते हैं।

गुण अगुरु-लघु, पर्याय गुरु-लघु

प्रश्नकर्ता : आत्मा के अलावा बाकी के जो द्रव्य हैं वे भी गुरु-लघु होते रहते हैं?

दादाश्री : हाँ, वे गुरु-लघु होते हैं न! संयोगों के अधीन उनकी जो अवस्थाएँ हैं न, वे सारी गुरु-लघु होती रहती हैं। स्कंध बड़ा हो जाता है, छोटा हो जाता है, स्कंध बनते हैं न उनमें से। वे सभी स्कंध बन जाएँगे।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, गुरु-लघु *पुद्गल* में ही होता है न? बाकी के पाँच द्रव्यों में नहीं न?

दादाश्री : नहीं! उसके सारे स्कंध, देह, प्रदेश। ये सभी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय...

प्रश्नकर्ता : पुद्गलास्तिकाय के अलावा धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय में भी गुरु-लघु जैसा है?

दादाश्री : ऐसा है न, मूल तत्त्व को ही अगुरु-लघु कहा जाता है। जब मूल तत्त्व के पर्याय और अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं तब वह गुरु-लघु हो जाता है। अर्थात् हर एक में गुण भी होते हैं और पर्याय भी होते हैं।

प्रकृति है विकारी स्वरूप, गुरु-लघु स्वभाव वाली

प्रश्नकर्ता : दादा, ये परमाणु अगुरु-लघु हैं और *पुद्गल,* यानी प्रकृति गुरु-लघु है, इस बारे में जो बात बताई, वह और अधिक समझाएँगे?

दादाश्री : अब वह, यह जो प्रकृति है इसे द्रव्य नहीं माना जाता, यह विकारी स्वरूप है। वह गुरु-लघु स्वभाव वाली है। यदि गुरु-लघु स्वभाव वाली नहीं होती न, और वह अगर अगुरु-लघु स्वभाव वाली होती न, तो किसी का छूट ही नहीं पाता। यहीं पर तत्त्व को समझना है। यहीं वास्तविक स्वरूप को समझना है। और वैसे भी हिसाब निकालने पर, क्रोध-मान-माया-लोभ का हिसाब निकाल लें, तो ये कम-ज़्यादा होते हैं या नहीं होते?

क्रोध तो इतना अधिक बढ़ जाता है और वापस कम हो तब उतना ही घट जाता है। वह अगुरु-लघु स्वभाव में नहीं आता, वह

विकृत स्वभाव है। बाकी सभी छहों द्रव्य, अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं लेकिन यह प्रकृति विकारी स्वभाव है। विकारी चीज़। अब फिर विकारी चीज़, गुरु-लघु स्वभाव वाली है। अर्थात् राग-द्वेष भी गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। अब गुरु-लघु स्वभाव वाली चीज़ को यदि आत्मा की कहा जाए न, तो भयंकर भूल है। तब तो वह स्वभाव जाएगा ही नहीं कभी भी। यदि इन्हें उसके अन्वय गुण माना जाए न, तो वे कभी भी निकलेंगे ही नहीं। अतः आत्मा की उपस्थिति से उत्पन्न होने वाले गुण हैं ये।

क्रोध-मान-माया-लोभ भी गुरु-लघु हैं, वे बढ़ते-घटते हैं जबकि आत्मा अगुरु-लघु है। इन दोनों का मेल नहीं बैठता। गुणधर्म से ही दोनों का मेल नहीं बैठता। *पुद्गल* का भी, अर्थात् मूल वास्तविक *पुद्गल* भी परमाणु स्वरूप में अगुरु-लघु स्वभाव वाला है और क्रोध-मान-माया-लोभ गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। अतः *पुद्गल* के साथ भी उसका मेल नहीं बैठता। उनका स्वभाव अलग है, इसका अलग है। वे व्यतिरेक गुण हैं। व्यतिरेक गुण गुरु-लघु स्वभाव वाले होते हैं।

हमें इस विकारी *पुद्गल* से मुक्त होना है। इसलिए हमने कहा है कि यह सारा गुरु-लघु स्वभाव वाला है, और मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ।

यह (विभाविक) *पुद्गल* तत्त्व चंचल है।

पूरा ही *पुद्गल* सचल है और मिकेनिकल है जबकि आत्मा अविचल है, अचल है। जो चंचल भाग है वही अनात्मा है और जो अचल है वही आत्म भाग है। चंचल लघु-गुरु होता रहता है। लेकिन आत्मा अगुरु-लघु स्वभाव वाला है। पूरा ही चंचल ज्ञेय है और अचल ज्ञाता है। ज्ञाता-ज्ञेय का संबंध है, और कोई भी संबंध नहीं है।

खुद के अगुरु-लघु गुण के कारण खुद अलग है

ये जो *पुद्गल* परमाणु हैं न, ये कम-ज़्यादा होते ही नहीं हैं। जितने हैं उतने के उतने ही रहते हैं। दुनिया में चाहे कितने ही लोगों को जलाओ-करो, चाहे कुछ भी करो लेकिन ये कम-ज़्यादा नहीं होते।

एक भी परमाणु न बढ़ता है और न कम होता है। यह *पुद्गल* भी अगुरु-लघु है लेकिन यह विभाविक *पुद्गल* गुरु-लघु है। यह हमें बताने आया है कि यह गुरु-लघु है, यह अपना पद नहीं है। हम अगुरु-लघु हैं। अतः जो कम-ज़्यादा होता है वह अपना नहीं है।

यह जो विभाविक *पुद्गल* उत्पन्न हुआ है, विशेष परिणामी *पुद्गल,* वह सारा ही विकृति वाला है। वह सारा ही लघु-गुरु है।

प्रश्नकर्ता : वह कम-ज़्यादा होता है लेकिन आत्मा तो अगुरु-लघु है न?

दादाश्री : आत्मा अगुरु-लघु है।

प्रश्नकर्ता : वह गुण, (उसकी वजह से) वह अलग है।

दादाश्री : उसी गुण के कारण वह खुद अलग है। अपना पद अगुरु-लघु है। कोई पूछे, राग-द्वेष, वे आत्मा के गुणों के अलावा अन्य कुछ कैसे हो सकता है? तो कहते हैं, 'नहीं, वे लघु-गुरु हैं। घड़ी भर में राग बढ़ जाता है और घड़ी भर में कम हो जाता है।' तो आत्मा के गुण कम-ज़्यादा नहीं होते, वे अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं, अतः हमें पहचानने के लिए समझ लेना चाहिए। क्रोध-मान-माया-लोभ हो जाएँ तो तू घबराना मत। तेरा स्वरूप नहीं है यह। और वास्तव में अपने ज्ञान के बाद में फिर क्रोध-मान-माया-लोभ होते ही नहीं हैं। गुस्सा हो जाए तो, उसके पीछे हिंसक भाव और तांता, दोनों ही नहीं होते। अतः वह *निर्जरा* होता हुआ गुण है। *निर्जरा* तो हो जाएगी लेकिन अंदर जो बंध (कर्म बंधन) हो गया है, अगर उसकी *निर्जरा* नहीं होगी तो बंध ऐसे का ऐसा ही रहेगा।

जो गुरु-लघु है वह नहीं है मेरा, मैं अगुरु-लघु

मुझमें और इस दुनिया की सारी चीज़ों में क्या अंतर है? तो कहते हैं, 'मैं (मेरा) अगुरु-लघु स्वभाव है और जगत् का पूरा स्वभाव गुरु-लघु है। उस पर से अगुरु-लघु की खोज कर।' तो पूछते हैं कि

'साहब, मुझे राग-द्वेष होते हैं, मुझे वीतराग बनना है।' तो कहते हैं कि 'राग-द्वेष गुरु-लघु वाले हैं, बढ़ भी जाते हैं और कम भी हो जाते हैं। तू तो स्वभाव से ही वीतराग है, अगुरु-लघु स्वभाव वाला है।' अतः ज्ञानी पुरुष तुझे उस दशा में ले आएँगे, शुद्धात्मा दशा में। फिर कषाय रहेंगे ही नहीं कोई। कषाय भाव छोड़ दे। फिर वे भाव *पुद्गल* के, वे भाव आत्मा के नहीं हैं। आत्मा में क्रोध-मान-माया-लोभ हैं ही नहीं।

यह गुरु-लघु और वह अगुरु-लघु। क्रोध-मान-माया-लोभ गुरु-लघु हैं, अतः फिर लोग उसे ऐसा समझते हैं कि, 'यह मेरा गुण है।' अतः उसे तुरंत समझ में आ जाएगा या नहीं कि यह कोई और गुण है।

सभी कषाय गुरु-लघु हैं। कम-ज़्यादा नहीं होते? आपने (क्रोध) नहीं देखा कभी? क्रोध बढ़ता है तो उसे जानते हो?

प्रश्नकर्ता : बढ़ता भी है और कम भी होता है, शांत हो जाता है फिर से।

दादाश्री : कम हो जाता है उसे भी जानते हो?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : जानने वाला कौन है? अगुरु और अलघु!

अँगूठी में ज़ंग लग जाता है, तो सोने की अँगूठी में ज़ंग कैसे लगा? तो कहते हैं, अंदर दूसरी मिलावट है इसलिए। आत्मा अगुरु-लघु स्वभाव वाला है। क्रोध-मान-माया-लोभ उसका गुण नहीं है। अन्य कोई वस्तु है यह। ढूँढ निकालो, कौन सी चीज़...

प्रश्नकर्ता : अंदर घुस गई हैं?

दादाश्री : तो कहते हैं, जो *पूरण-गलन* वाला स्वभाव है वह। किसका?

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* का *पूरण-गलन* वाला स्वभाव है।

दादाश्री : हाँ, *पुद्गल* बढ़ जाता है, कम हो जाता है। बड़ा होता है, बूढ़ा हो जाता है, ऐसा होता है, वैसा होता है, तो यह सारा *पुद्गल* का स्वभाव है।

लोग तो *पुद्गल* पर राग करते हैं लेकिन भाई, जो मुरझाने वाला है उस पर क्या राग करता है? राग करना हो तो अगुरु-लघु स्वभाव पर करना।

आत्मा अगुरु-लघु, अन्चेन्जेबल स्वभावी

ये मन-वचन-काया तो बढ़ते भी हैं, और फिर घट भी जाते हैं। फिर क्रोध-मान-माया-लोभ कम-ज़्यादा होते रहते हैं। बढ़ जाते हैं, फिर से घट जाते हैं। आत्मा वैसा नहीं है। सेम डिज़ाइन (एक सरीखा रहता है), बढ़ता-घटता नहीं है फिर, हल्का नहीं हो जाता, वज़नदार नहीं हो जाता, वैसे का वैसा ही। अनंत जन्म हुए, भटका, फिर भी उसमें कोई बदलाव नहीं आया। अगुरु-लघु स्वभाव। ज़रा सा भी बढ़ता नहीं है, घटता नहीं है, उसमें कोई चेन्ज (बदलाव) नहीं होता। चाहे कितने ही काल बदलें लेकिन चेन्ज नहीं होता, और यह जो चेन्ज होता है यही माया है, यह सारा *पुद्गल* है।

घटे, बढ़े, भारी हो जाए, हल्का हो जाए, पतला हो जाए, मोटा हो जाए तो वह सब *पुद्गल* है और आत्मा अगुरु-लघु स्वभाव वाला है। कितना अच्छा है उसका स्वभाव! परमात्मा! अगर यह शरीर नहीं हो तो पूरा जगत्, पूरे लोक को प्रकाश दें, इतने तो प्रकाश वाले हैं! इस शरीर के कारण रुकावट है।

गुरु-लघु संयोगों को अलग 'देखा' कि छूट गया

हमने कहा है, 'इस संसार की सर्व जंजालें गुरु-लघु स्वभाव वाली हैं, मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ। निज गुणधर्मों से मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ।'

आत्मा का एक-एक परिणाम सनातन है, शाश्वत है, और आत्मा

के अलावा अन्य सबकुछ गुरु-लघु स्वभाव वाला है, विशेष परिणाम है। हमें सिर्फ जान लेना है कि यह तो विशेष परिणाम है जबकि मैं तो शुद्धात्मा हूँ। जगत् के तमाम संयोग *पूरण-गलन* वाले हैं जबकि मेरे स्वभाव से मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ।

क्रोध-मान-माया-लोभ, वे *पुद्गल* के भाव हैं। वे कम-ज़्यादा होते हैं जबकि आत्मा का स्वभाव बढ़ता-घटता नहीं है, ऐसा अगुरु-लघु स्वभाव है। यानी क्रोध-मान-माया-लोभ होते हैं उन्हें 'हमें' 'देखते' रहना है कि, 'ओहोहो! यह बढ़ा, यह कम हुआ!' यानी कि 'हम' अलग रहे। फिर 'हम' जोखिमदार नहीं हैं। *पुद्गल* भाव में एकाकार हुए तो आपकी जोखिमदारी है, आपने हस्ताक्षर कर दिए और यदि हस्ताक्षर नहीं किए, एकाकार नहीं हुए तो आप मुक्त हो गए, भगवान ने ऐसा कहा है।

'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', ऐसा (हमें) लघु-गुरु वाले संयोगों में भी यथार्थ रूप से रहना चाहिए। बाह्य संयोगों की वजह से शिथिलता आनी ही नहीं चाहिए। ये तो संयोगों में शिथिल हो जाते हैं।

अत: जो होता है उसे हमें देखते रहना है कि चंदूभाई की क्या दशा हो रही है। वह हमें देखते रहना है। कम-ज़्यादा, कम-ज़्यादा! गुरु-लघु कहा है न? गुरु-लघु नहीं? यह अगुरु-लघु स्वभाव वाला तो है नहीं, इसलिए घटता-बढ़ता रहता है।

राग-द्वेष के कारणों में भी 'मैं' अगुरु-लघु स्वभाव वाला

शुद्धात्मा वीतराग हैं और अगुरु-लघु स्वभाव वाले हैं जबकि राग-द्वेष गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। कम-ज़्यादा होते रहते हैं लेकिन अब राग-द्वेष नहीं होते। अब ऐसे जो भाव आते हैं वे तो *निकाली* भाव हैं।

इसमें राग-द्वेष नहीं होने चाहिए। द्वेष के कारणों का सेवन करे तब भी हमें द्वेष नहीं होना चाहिए। राग के कारणों का सेवन करे तब भी हमें राग उत्पन्न नहीं होता। राग-द्वेष रहित होना ही धर्म है। हम

लोगों को वैसे राग-द्वेष नहीं होते और इन लोगों को राग-द्वेष होते हैं। हम कहते हैं कि, 'राग-द्वेष गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं और मैं तो अगुरु-लघु स्वभाव वाला वीतराग ही हूँ।' अत: राग-द्वेष को भी अलग कर दिया है। फिर तो वे होंगे ही नहीं न! साइन्स में कुछ होता ही नहीं है न! राग-द्वेष नहीं होते। 'मैं चंदूभाई हूँ', वही राग है न, वह यदि खत्म तो सब खत्म। वह जो श्रद्धा थी न, वही राग था। इस प्रकार फिर श्रद्धा से राग रहित हो गया खुद, अब फाइलों का *निकाल* करना बाकी रहा। दिनोंदिन छूटते जाते हैं।

इस शरीर के, प्रकृति के कार्यों में आत्मा तो अलग ही है। अत: अब वह एकाकार ही नहीं होता। प्रकृति, प्रकृति का काम करती रहती है, वह डिस्चार्ज होती रहती है।

इस विज्ञान को समझ जाए तो फिर हमेशा के लिए समाधि

आपको आत्मा प्राप्त हुआ है, इस आत्मा की प्राप्ति के बाद अन्य कुछ है ही नहीं। सिर्फ *निकाल* ही करना है समभाव से। कुछ भी नहीं करना होता है। राग-द्वेष कुछ भी नहीं रहते। क्योंकि आत्मा जो है वह अगुरु-लघु स्वभाव वाला है। राग-द्वेष, गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। राग तो बढ़ता भी है और घटता भी है जबकि आत्मा ऐसा है कि बढ़ता-घटता नहीं है। अज्ञानी दो अलग-अलग चीज़ों को फिर से एक कर देता है। मैंने यह जो आत्मा दिया है न, यह अगुरु-लघु स्वभाव वाला है। यह राग-द्वेष वाला नहीं है। और यह जो है, यह केवलज्ञान हाथ में दिया है।

प्रश्नकर्ता : और वह बिल्कुल सरल भाषा में! जब वह समझ में आ जाता है न, तब जल्दी से अंदर उतर जाता है।

दादाश्री : जल्दी से अंदर उतर जाता है। उसके बाद भूलता नहीं है। वह तो स्पष्ट हो जाता है अगर एक बार समझ ले तो। इसलिए मैं कहता हूँ न, समझ जाओ। यहाँ आकर समझ जाओ कि यह क्या है! फिर हमेशा समाधि रहेगी।

वह समाधि तो गुरु-लघु वाली है, वह रिलेटिव समाधि है जबकि अपनी तो सहज समाधि है। अपनी समाधि तो अगुरु-लघु है।

'मैं अगुरु-लघु' मंत्र जाप से रहें, स्व में स्थिर

मन-वचन-काया का जो सारा चक्र अंतर में उठता है, वे सब ज्ञेय हैं, गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। उन्हें हम ऐसा कहते थे कि यह मुझे हो रहा है लेकिन अब तो हम आत्मा हो गए। आत्मा अगुरु-लघु स्वभाव वाला है। अब दोनों का मेल ही नहीं बैठेगा न!

अब जो-जो भाव और विचार आते हैं वे *निकाली* बाबत हैं। एक भी भाव या विचार आत्मा का नहीं है। इफेक्ट (असर) होता है तो 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', ऐसा बोलना चाहिए।

जीव को जब आवेश आता है तब 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', बोलते ही आवेश बंद। जब शरीर को बाधा-पीड़ा हो तब, 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', ऐसा बोलना। 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', ऐसा बोलने से तुरंत ही खुद की गुफा में चला जाएगा। 'अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', यह सब से बड़ा मंत्र है। इस जगत् में हर डिप्रेशन के समय अगर ऐसा बोला जाए कि, 'अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', तो उस समय चाहे कैसा भी डिप्रेशन आया हो फिर भी बंद हो जाएगा। कितने ही लोग तो एक-एक घंटा बोलते हैं। जितना बोलते हैं उतना लाभ उठाते हैं।

हमने तो बता दिया। डॉक्टर सारी दवाइयाँ बता देते हैं, दवाइयाँ देते हैं, फिर मरीज़ को दवाई लेनी हो या नहीं, वह उसकी मर्ज़ी। घर जाकर रख दे तो उसमें मैं क्या करूँ?

'अगुरु-लघु स्वभाव वाला' बोलते ही, डिप्रेशन हो जाएगा बंद

प्रश्नकर्ता : कभी शोक व्याप्त हो जाता है, एकदम से हताशा आ जाती है, निराशा हो जाती है, उलझन होने लगती है, उस समय 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला, ऐसा शुद्धात्मा हूँ', ऐसा बोल सकते हैं?

दादाश्री : यदि आपके मन में बहुत विचार आ रहे हों न, खूब ही और मन परेशान हो, हताश कर दे, डिप्रेस कर दे, ऐसे परमाणु हों जो ऊँचे-नीचे परिणाम लाएँ, तब अंदर ऐसा जाप शुरू कर दोगे कि, 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', और अगर एक-एक *गुंठाणे* (48 मिनट) तक करोगे तब तो अंदर अपार सुख बरतेगा और अंदर संतुलन आ जाएगा। भले ही मन अंदर विचार करते रहे। लेकिन 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला', बोलते ही वे सब बंद हो जाएँगे। सभी में संतुलन आ जाएगा न! साइन्स है यह तो। ऐसा है न, कि यह बटन दबाओगे तो वहाँ पंखा चलेगा।

जब बाहर के भाग में परमाणु चंचल हो जाएँ तब 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', ऐसा बोलने से उसका इलाज हो जाएगा और वे स्थिर हो जाएँगे।

आत्मगुणों की भजना से होते हैं उसी रूप

आँखें जल रही हों तो भी देखते रहना, पैर दुःख रहे हों तो भी देखते रहना, सब देखते रहना है। नींद नहीं आ रही हो तो अन्य उपाय हैं। तब अपने आत्मा के जो स्वाभाविक गुणधर्म हैं न, उनमें से अगर एक भी गुण बोलोगे तो ठीक हो जाएगा। 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ।' लेकिन अज्ञान दशा में तो भुगतना ही होगा। ज्ञान दशा में यह उपाय है।

आपका अगुरु-लघु स्वभाव है न, अगर पौन एक घंटे तक ऐसा ध्यान करोगे न तो अद्‌भुत परिणाम आएगा!

आत्मा के जितने भी गुण हैं उनके बारे में सोचते रहोगे, मनन करते रहोगे तो वे गुण आप में प्रकट हो जाएँगे। गुणों का विकास होगा, व्यक्त होकर प्रकट होंगे।

❖❖❖❖❖

[6]
असंग

[6.1]
संग में है असंग

आत्मा स्वभाव से असंग, विशेष भाव से संगी

आत्मा अगम्य है। जहाँ दृष्टि नहीं पहुँच सकती वहाँ पर आत्मा है। वह आत्मा निर्लेप भाव से रहा हुआ है, असंग भाव से ही रहा हुआ है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा को असंगी कहते हैं लेकिन देखने में संगी दिखाई देता है।

दादाश्री : यह जो संगी हो जाता है और संगी दिखाई देता है न, वह उसका विशेष भाव है, विकृति भाव। विकृत हो चुका है वह भाव। निर्लेप आत्मा को कुछ भी स्पर्श नहीं करता। कभी भी लेपायमान नहीं होता, चाहे कुछ भी हो न, क्रोध-मान-माया-लोभ हो तब भी। आत्मस्वभाव तो संग में रहने के बावजूद भी असंगी है। उस पर कभी भी दाग़ नहीं लगता। वह खुद असंग स्वभाव वाला है। उसे किसी संग की ज़रूरत ही नहीं है। यह तो भ्रांति से ऐसा मानता है कि मुझसे यह चिपका लेकिन यह चिपका नहीं है और कुछ भी नहीं है। असंग ही है। और यह जो हुआ है, यह वैज्ञानिक असर है। छहों द्रव्य असंग हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, यानी स्वभावगत आत्मा तो असंग ही है?

दादाश्री : आत्मा तो असंग ही है। मिथ्यात्व में भी असंग है। गाय-भैंसों में भी असंग ही है। इसीलिए तो हम यह वाक्य बोलते हैं, 'मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग ही हूँ।'

असंग की बिलीफ हो जाए तो हो जाएगा खुद असंग

प्रश्नकर्ता : तो ऐसे असंग आत्मा का अनुभव क्यों नहीं होता है?

दादाश्री : असंग आत्मा तो वैसा ही है लेकिन अपनी बिलीफ में असंग आत्मा है नहीं न! जब असंग आत्मा बिलीफ में आ जाएगा तो असंग ही है। सिर्फ बिलीफ में आ जाना चाहिए। वह खुद है ही असंग। आपकी बिलीफ बदल गई है, ऐसा बिलीफ में आ जाना चाहिए। 'मैं चंदूभाई हूँ', आपकी वह बिलीफ बदल गई है। अब आप असंग आत्मा हो, जब आपकी बिलीफ में ऐसा आ जाएगा तब फिर हो जाओगे असंग! पहले बिलीफ में आता है। शरीर है तो बिलीफ में तो आ ही जाता है। बिलीफ बदलनी चाहिए। यह बिलीफ रोंग बिलीफ है। 'मैं चंदूभाई हूँ', वह फर्स्ट रोंग बिलीफ, और 'मैं वैष्णव हूँ, इस स्त्री का पति हूँ, इनका मामा लगता हूँ, इनका चाचा लगता हूँ', ऐसी कितनी रोंग बिलीफें बैठ गई हैं?

प्रश्नकर्ता : असंख्य, अनगिनत।

दादाश्री : जब तक ऐसी असंख्य रोंग बिलीफें रहेंगी तब तक राइट बिलीफें नहीं हो सकतीं। राइट बिलीफ हो जाए तो कहा जाएगा कि असंग की बिलीफ हो गई। राइट बिलीफ, जिसे गुजराती में सम्यक् दर्शन कहा जाता है, वह असंग की बिलीफ है। असंग की बिलीफ बैठ जाए तो असंग हो जाएगा।

स्वभाव में आ जाए तो हो जाएगा खुद असंग

देहाध्यास जाने पर निरंतर खुद के असंग स्वरूप में रहता है। देहाध्यास के कारण संगी लगता है। जब तक ज्ञान नहीं मिलता तब

तक आप सभी (अवस्थाओं) में एकाकार ही दिखाई देते हो। आत्मा अलग ही है। आत्मा ने अनंत जन्म लिए हैं लेकिन उसने किसी भी शरीर में... शरीर का संग किया ही नहीं। गधे में, कुत्ते में, भैंस में, जीव-जंतुओं में, मनुष्यों में, सभी योनियों में गया है लेकिन खुद असंग ही है।

अतः खुद का जो असंग स्वभाव है वह स्वभाव उत्पन्न हो जाना चाहिए। खुद के स्वभाव में आने के बाद खुद असंग ही है, निर्लेप ही है। शुद्धात्मा में रहेगा तो असंग ही रहेगा।

असंग वाणी रूपी शस्त्र से छेदन संसार वृक्ष का

प्रश्नकर्ता : गीता में अध्याय-15, श्लोक-3 में बताया है,

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।

असंग शस्त्र से इस संसार वृक्ष का छेदन किया जा सकता है, तो इस बात का अर्थ कहीं भी नहीं समझाया गया है। अब आप यह समझाइए।

दादाश्री : असंग शस्त्र को असंग वाणी से समझाया जा सकता है। वाणी असंग होनी चाहिए। जिस वाणी का कोई मालिक न हो उसे असंग वाणी कहते हैं। वाणी पर मालिकी न रहे। वाणी निकले लेकिन उसका मालिक न रहे।

(अब) मालिकी रहित वाणी कहाँ से लाएँगे? अतः शरीर यदि मालिकी रहित हो जाए, अहम् नष्ट हो जाए तभी मालिकी रहित वाणी होती है और तभी वह असंग वाणी कहलाती है। तो उसका असंग शस्त्र उत्पन्न हुआ। जो खुद संग वाला है उसे असंग कैसे मिल सकेगा? हमारी यह वाणी असंग कहलाती है। मालिकी रहित वाणी असंग कहलाती है, मालिकी रहित शरीर असंग कहलाता है और मालिकी रहित मन असंग कहलाता है। यह सारा काम इस असंग वाणी से ही हो सकता है। (संसार वृक्ष का छेदन किया जा सकता है)।

आत्मा व जड़ का संगदोष मिटा दे, यह इनाम अक्रम विज्ञान से

प्रश्नकर्ता : फिर उसमें पाँचवें श्लोक में कहते हैं,

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृज़कामाः।

तो यह संगदोष क्या है?

दादाश्री : यह संगदोष अर्थात् आत्मा और जड़ का जो संग हुआ, उसके दोष से यह संसार खड़ा हो गया है। अब संगदोष से वे गुण उत्पन्न हुए हैं; व्यतिरेक गुण जो आत्मा में भी नहीं हैं और जो जड़ में, अनात्मा में भी नहीं हैं। इन व्यतिरेक गुणों से यह संसार उत्पन्न हुआ है। इसमें व्यतिरेक के गुण कौन-कौन से हैं? क्रोध-मान-माया-लोभ। उस मान में से अहंकार उत्पन्न हुआ है और शुरू हो गया। अब यदि इस संगदोष को छुड़वा दिया जाए (तभी वह छूटेगा)। इसीलिए मैं यह ज्ञान देता हूँ और अलग कर देता हूँ संगदोष से। अब वह संगदोष छूटेगा तो तुरंत ही अलग हो जाएगा। अतः अपने-अपने स्वभाव में ही आ जाएँगे। वह व्यतिरेक खत्म हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, उस पर बहुत कुछ लिखा गया है, बहुत सोचा गया है। संगदोष, यदि इस एक ही चीज़ को मनुष्य जीत सके तो!

दादाश्री : संग की वजह से तो यह संसार उत्पन्न हुआ है। दो चीज़ों के नज़दीक आने से यह उत्पन्न हुआ है। इस संगदोष को मिटा दिया जाए न, तो हो जाएगा! क्रमिक मार्ग वालों ने ऐसा रखा है कि स्टेप बाइ स्टेप, ग्रेजुअली (क्रम पूर्वक) काम लेना है। दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है न! जबकि इस अक्रम मार्ग में तो अलग ही तरह का इनाम है, वर्ना ये नौकरीपेशा, व्यापारी, क्या वे यह इनाम प्राप्त कर पाते?

आत्मज्ञान द्वारा असंग होने पर जीता जा सकता है संगदोष

प्रश्नकर्ता : इस संगदोष को पूरी तरह से कैसे जीता जा सकता है?

दादाश्री : संगदोष को जीतने का तो एक ही रास्ता है। असंग हो जाने पर ही संगदोष को जीता जा सकता है वर्ना नहीं जीता जा सकता। इस संसार के संगदोष का नाश करने के लिए तो हमें भाव बदलने होंगे। जहाँ जो संग उत्पन्न हुआ है और वह दोषित है, इसलिए हमें उससे विरुद्ध संग वाले भाव में बदलना होगा। तभी यह गांठ खुलेगी वर्ना गांठ नहीं खुलेगी न!

जिसे ज्ञान मिला है उसे तो असंग भाव हो ही गया यानी खत्म हो गया और बाकी सब जो बचा वह *निकाली* है। उस सारे भरे हुए माल का *निकाल* हो जाता है और फिर से टंकी में (नया) माल नहीं भरता। यानी अपना ज्ञान ही असंग बनाता है इसलिए फिर संगदोष को जीत लेते हैं।

हम कहते हैं न, 'मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग हूँ।' इसी को कहते हैं, संगदोष जीत लिया।

इसे 'फाइल' कहते ही खुद असंग। आत्मा के अलावा के बाकी सारे भाग को 'फाइल' ही कहते हैं। 'यह फाइल नंबर वन है', ऐसा कहते ही आत्मा अलग।

असंग हो गए लेकिन बाकी है संगदोष का फल

प्रश्नकर्ता : यों तो मैं संग विहीन ही हूँ न? आत्मा का स्वरूप तो संग विहीन ही है न?

दादाश्री : संग रहित ही है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन फिर भी संगदोष लगता है, वह?

दादाश्री : अज्ञानता के कारण ही है यह सब। अज्ञानता चली जाए तो सबकुछ चला जाएगा, एकदम से।

प्रश्नकर्ता : तो मेरा यह अज्ञान संगदोष के कारण है न?

दादाश्री : हाँ, बस! अब आप असंग हो गए हो। आप शुद्धात्मा हो और असंग हो, निर्लेप ही हो। खुद के स्वरूप को जान लिया,

असंग ही हो बिल्कुल। फिर भी आपको पहले, अज्ञान दशा में जो संगदोष लगा है, उसका फल भुगतना बाकी है।

प्रश्नकर्ता : दादा, कई बार ऐसा होता है कि मैं यह नगीन भाई के संसर्ग में हूँ, मैं मगन भाई के संसर्ग में हूँ, तो मन-वाणी और काया से जो कुछ भी बोला जाता है, विचार आते हैं, वर्तन होता है, दोनों की उपस्थिति के हिसाब से ही होता है, वह दोनों के संग के हिसाब से होता है, तो क्या यह संगदोष मुझे लगेगा?

दादाश्री : नाटक में संगदोष नहीं लगता और नाटक से बाहर सभी जगह संगदोष ही है। ऐसे सो जाऊँ या वैसे सो जाऊँ, लेकिन संगदोष है और नाटक में चल रहा हो तो सारी क्रियाएँ होने के बावजूद भी उसे संग नहीं लगता। आपको तो अब विश्वास हो गया है न, कि हम तो अब नाटक के बीच में हैं?

आत्मा को क्रमिक में मानते हैं संगी, अक्रम में है असंग

प्रश्नकर्ता : दादा, आप कहते हैं कि ज्ञान के बाद आप असंग हो गए हो लेकिन क्रमिक में समकित होने के बाद भी आत्मा को असंग करने को कहते हैं।

दादाश्री : क्रमिक में जब समकित होता है तब आत्मा को पूरी तरह से नहीं जान पाते हैं। वे लेपायमान आत्मा को ही आत्मा समझते हैं, संगी आत्मा को आत्मा समझते हैं।

इसलिए फिर उसे सुधारने की कोशिश करते हैं। वे तो इसी को आत्मा समझते हैं, व्यवहार आत्मा को ही। यही मुख्य आत्मा है, यही दरअसल आत्मा है और इसी को असंग करना है और इसी को स्थिर करना है, ऐसा मानते हैं। अरे, मूल आत्मा स्थिर ही है, आत्मा असंगी ही है। निर्लेप बनाने के लिए दुनिया का पूरा त्याग करता है। शांति से नहीं बैठता। आत्मा निर्लेप ही है, तुझे ऐसा भान होना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : सही है, मूल आत्मा तो असंग रूप से ही रहा हुआ है।

दादाश्री : हाँ, और व्यवहार आत्मा जैसा चिंतवन करता है वैसा असर हो जाता है। क्योंकि संग से असर हो जाए, ऐसा है। 'मैं असंग हूँ', ऐसा चिंतवन करेगा तो असंग हो जाएगा। 'मैं संगी हूँ', तो संगी हो जाएगा। जैसा संग मिलता है वैसा आभास हो जाता है। संगी क्रियाओं से आत्मा असंग ही है। इसीलिए हमने यह बताया है कि 'भाई, संगी क्रियाओं से असंग है।' आप ऐसा क्यों मान बैठे हो कि मैं फँस गया? वर्ना व्यवहार आत्मा जैसी कल्पना करता है, खुद तुरंत वैसा ही हो जाता है। 'जैसा है', वैसी कल्पना करे तो हर्ज नहीं है, जो 'नहीं है', वैसी कल्पना करने से उल्टा हो जाएगा। पूरा जगत् कल्पना करने से ही उल्टा हो गया है न! असंगी को संग कैसे हुआ? 'मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग ही हूँ। ये संगी क्रियाएँ हैं इसीलिए ये मेरी क्रियाएँ नहीं हैं', ये वाक्य इटसेल्फ बोल दें, ऐसे हैं। पूरा ज्ञान ही अनावृत्त कर दें, ऐसा है अपना एक-एक वाक्य।

प्रश्नकर्ता : इसीलिए ज्ञानी पुरुष का माहात्म्य है कि जिनके पास बैठकर ज्ञान प्राप्त करके असंग हो सकते हैं।

दादाश्री : हाँ, इन ज्ञानी पुरुष को देखा नहीं है, दर्शन नहीं किए हैं, उनका शब्द नहीं सुना है। एक शब्द भी यदि सुन लेगा तो कल्याण हो जाएगा। जो नित्य मुक्त हैं, नित्य समाधि वाले हैं और नित्य आत्मा हो चुके हैं। जिनका सारा ही अनित्यपन सर्वथा छूट चुका है, सनातनपन प्राप्त हो चुका है, वहाँ असंग हो सकते हैं।

सर्व अवस्थाओं के संग में भी असंगता, वही है असंग

हमारा यह विज्ञान बहुत अलग तरह का है। संसार में मुक्त रह पाते हैं। लोग समझ जाते हैं कि, 'ओहोहो! संसार में रहते हुए भी निर्लेप रहते हैं, असंग ही रहते हैं।' जबकि वह (जिसने ज्ञान नहीं लिया) अकेला भाग गया हो फिर भी, उसका मन कहीं लगा रहता है। जंगल में चला जाए तब भी झोंपड़ी बना देता है, गाय और बकरी

पालता है। लेकिन भगवान ऐसा कहते हैं कि जब उसे भीड़ में एकांत महसूस होगा तब हल आएगा।

तीन प्रकार के संग हैं : 1) कुसंग 2) सत्संग और 3) असंग। ये कुसंग और सत्संग दोनों ही जाल हैं। एक में से निकलेगा तो दूसरे में घुस जाएगा। यह जो अंतिम है, यह असंग है। मूलतः खुद असंग है, कुछ भी स्पर्श नहीं करता।

प्रश्नकर्ता : और दादा, वे त्याग, वैराग्य करते हैं लेकिन अहंकार सहित हैं न?

दादाश्री : हाँ! बुद्धि भी है वहाँ पर। जितनी बुद्धि होती है उसी अनुपात में अहंकार होता है और जहाँ अहंकार है वहाँ निर्लेपता नहीं हो सकती। असंग नहीं हो सकता। जो संग में रहते हुए, संपूर्ण भीड़ में रहते हुए, असंग रह सके उसे असंग कहते हैं। जो यहाँ से भाग जाए उसे असंग नहीं कह सकते। किसी को भी, जो हिमालय में भाग गए उन्हें असंग नहीं कह सकते। अकेले पड़े रहें फिर भी जब तक मन है तब तक कोई भी मनुष्य असंग नहीं रह सकता। असंग को कुछ भी स्पर्श नहीं करता। भीड़ में भी असंगता रहती है, भीड़ में भी निर्लेपता रहती है।

लोग असंग होने लिए संग को छोड़ते रहते हैं। जबकि अक्रम ज्ञान क्या कहता है? 'व्यवहार भले हो कोटि संग।' चंदूभाई खुद तो व्यवहार हैं। उनके अंदर तो कितने ही बाल, कितनी ही नसें, कितने ही कपड़े! कोटि संग हैं लेकिन तू भगवान में निश्चय रख। मन-वचन-काया से असंग हो गया तो सभी संगों से असंग हो गया।

अतः हम तो व्यवहार को एक्सेप्ट (स्वीकार) करते हैं जबकि लोग कहते हैं, 'ऐय, संग से दूर भागो!' ये जो हार पहने हैं इनमें फूल हैं, इनमें से हर एक के साथ कितना संग हो जाएगा? क्या इससे मेरा असंगपना छूट गया? यह बाहर का भाग संग वाला है और खुद असंग है।

अवस्था से असंग रह पाए तो बहुत हो गया। अवस्था से असंग रह पाना ही आत्मा अनुभव है। अवस्था से तो कोई असंग हुआ ही नहीं है। अपना यह विज्ञान अवस्था से असंग रखता है।

अतः संग में (रहते हुए भी) असंग रहने की यह क्रिया सीख लो। बाकी, इस तरीके से तू कभी भी असंग नहीं हो पाएगा इन मोह की दुकानों से।

आत्मा व परमाणु असंगी, अहंकार संगी

इस ज्ञान के बाद संसार की कोई चीज़ स्पर्श नहीं करती। संसार में रहने के बावजूद भी, स्त्री के साथ रहने के बावजूद भी पुरुष पूर्ण रूप से निर्लेप रह सकता है, असंग रह सकता है। मोटर के आगे की लाइट बांद्रा (मुंबई का एक उपनगर) की खाड़ी पर पड़े तो कीचड़ को छूती है या नहीं छूती? तो क्या वह लाइट कीचड़ वाली हो जाती है? तब उसे पानी स्पर्श करता है या नहीं? क्या वह पानी वाली हो जाती है? या फिर बदबू को स्पर्श करती है या नहीं?

प्रश्नकर्ता : किसी भी चीज़ को स्पर्श नहीं करती। वहाँ होने के बावजूद भी स्पर्श नहीं करती।

दादाश्री : हाँ! आत्मा भी वैसा ही है। गंदगी या कीचड़ कुछ भी स्पर्श नहीं करता। आत्मा को कषाय स्पर्श नहीं करते, निर्लेप ही है, असंग ही है। यह सब अहंकार को स्पर्श करेगा। अहंकार को ही स्पर्श करता है सब, कषाय-वषाय सभी। जबकि आत्मा तो निर्लेप ही है और असंग ही है।

प्रश्नकर्ता : यानी उसका (*पुद्गल* का) संग नहीं है उसे?

दादाश्री : किसी भी संग से संगी नहीं हो जाता। किसी भी संग का संगी नहीं बनता। असंग ही है, स्वभाव से ही असंग है।

आत्मा असंगी है, *पुद्गल* (परमाणु) असंगी है। स्वभाव अलग हैं दोनों के। कोई किसी की मदद नहीं करता, कोई किसी को नुकसान नहीं पहुँचाता। वे हेल्प नहीं करते, नुकसान नहीं पहुँचाते। अज्ञान दशा

में आप खुद ही अपना नुकसान कर रहे हो। चाहे वह *पुद्गल* आश्रित हो या स्व-आश्रित, लेकिन खुद अपना ही नुकसान कर रहा है।

क्रमिक मार्ग में करना पड़ता है असंग, अक्रम में हो जाता है कृपा से

प्रश्नकर्ता : दादा, वचनामृत में से पढ़ता हूँ। इसके बारे में ज़रा ज़्यादा स्पष्टता कीजिए। श्रीमद् जी पत्र-918 में कहते हैं;

'अभी कौन सा ध्यान बरतता है? तो, सद्गुरु के वचन का बार-बार चिंतन करके, अनुप्रेक्षा करके आत्मा को परभाव से असंग करना है।'

दादाश्री : वह क्रमिक मार्ग का है। अपना तो हो चुका है। उन्हें करना है, वे कितनी झंझट करते हैं तब जाकर असंग हो पाते हैं वे, क्रमिक में!

प्रश्नकर्ता : फिर भी, ऐसा लगता है कि असंग हो गया और फिर चला जाता है, ऐसा नहीं होता न?

दादाश्री : यह तो मछलियों को पकड़ने जैसी बात है। मछलियाँ पकड़ते हैं न चिकनी रेशम जैसी, वे पकड़ते ही फिसल जाती हैं। उसी प्रकार से यह असंगता पकड़ में नहीं आती। (यहाँ पर) निरंतर असंगता रहती है, बिना पकड़े। (अपना) तो यह सब पूर्ण हो गया है। यह अंतिम है। अड़तालीस आगमों का सार लिखा है वह भी (यहाँ पर) पूर्ण हो चुका है।

भ्रांति से भासित होता है संगी, निज भान से असंग

प्रश्नकर्ता : '*केवळ होत असंग ज जो, भासत तने न केम,*
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम।' -श्रीमद्

(यदि केवल-असंग ही होता तो तुझे क्यों भासित नहीं होता, असंग है परमार्थ से, लेकिन निज भान से वैसा ही है)

दादाश्री : अपना ज्ञान इससे अलग है। केवल असंग ही है लेकिन भासित नहीं होता। उसे भ्रांति की वजह से भासित नहीं होता। असंग ही है, लेकिन असंग हो कैसे पाएगा? यदि संगी है तो असंग नहीं हो सकेगा। असंग कैसे हो सकेगा? ये तो गुणधर्म हैं उसके। संगी हुआ यानी लेपायमान हो गया। लेपायमान हुआ इसलिए सभी गुणधर्मों का उसमें प्रवेश हो जाता है। अतः अपना विज्ञान यहाँ पर, इतना ही डिफरेन्स है।

'असंग है परमार्थ से', यह बात सही है। तो हम भी ऐसा कहते हैं कि, 'असंग परमार्थ से है लेकिन निज भान से वैसा है।' अभी भान उल्टा है, इसीलिए यह असंग नहीं है। भान उल्टा है इसलिए आत्मा संगी हो गया, ऐसा कहते हैं।

करोड़ों जन्मों में भी जो संग न छूटे, अक्रम उसे छुड़वाता है घंटे भर में

प्रश्नकर्ता : (पढ़ते हैं) (श्रीमद् पत्र 609)-4, *'ए ज माटे सर्व तीर्थंकरादि ज्ञानीओए असंगपणु सर्वोत्कृष्ट कह्युं छे, के जेना अंगे सर्व आत्मसाधन रह्या छे.'* (इसीलिए सर्व तीर्थंकर आदि ज्ञानियों ने असंगपन को सर्वोत्कृष्ट कहा है, जिसके लिए सभी आत्मसाधन हैं।)

5. *सर्व जिनागममां कहेला वचनो एक मात्र असंगपणामां ज समाय छे. केम के ते थवाने अर्थे ज ते सर्व वचनो कह्या छे.* (सभी जिन आगम में कहे हुए वचन मात्र असंगपन में ही समा जाते हैं। क्योंकि ऐसा बनने के हेतु से ही, वे सभी वचन कहे गए हैं।)

3. *'संगना योगे आ जीव सहजस्थितिने भूल्यो छे.' संगना योगे. 'संगनी निवृत्तिए सहजस्वरूपनुं अपरोक्ष भान प्रगटे छे.'* ('संग के योग से ही यह जीव सहज स्थिति को भूल गया है', संग के योग से। 'संग की निवृत्ति से सहजस्वरूप का अपरोक्ष भान प्रकट होता है।')

दादाश्री : अब, संग से निवृत्ति कब होगी? करोड़ों जन्मों में भी संग से निवृत्ति नहीं हो सकती। यह संग तो, एक को हटाएँ तो

दूसरा आ जाता है। उसे हटाएँ तब तीसरा आ जाता है। फिर स्त्री, पुत्र, बच्चे वगैरह, क्या संग छूट सकता है? ये संग कब छूटेंगे? लेकिन फिर भी क्रमिक मार्ग तो ऐसा ही है, उसमें तो छोड़ना ही पड़ेगा। यहाँ पर तो आप असंग ही हो गए हो। अब आपके लिए संयोग और वियोग सिर्फ दो ही रहे हैं।

प्रश्नकर्ता : संयोग और वियोग?

दादाश्री : हाँ! वे संयोग वियोगी स्वभाव वाले हैं। वियोग भी नहीं करना है। संयोगों का वियोग होता रहेगा। सुबह होते ही कोई न कोई संयोग आता रहता है। अंत में, सिर में दर्द हो तो वह भी एक संयोग ही मिला है। लेकिन वह संयोग वियोगी स्वभाव वाला है न? सभी संयोग वियोगी स्वभाव वाले हैं। तो आपको क्या करना है? देखते रहना है। धीरज रखना है। वह अपने आप ही उठकर चला जाएगा।

शुद्धात्मा का भान होने पर हुआ सर्व भावों से असंग

प्रश्नकर्ता : (श्रीमद् पत्र 609)-6, यहाँ पर क्या कहते हैं? *'सर्व भाव थी असंगपणुं थवुं ते सर्वथी दुष्करमां दुष्कर साधन छे।'* (सर्व भावों से असंगपन हो जाना, वह सब से दुष्कर साधन है)

दादाश्री : अब, आपको सर्व भावों से असंगपन हो गया है। आपको कोई भी भाव नहीं रहा है। जहाँ भाव है वहाँ अभाव है। ऐसा नहीं कि सिर्फ भाव ही हो। भाव अर्थात् राग और अभाव अर्थात् द्वेष। आपको किसी पर भाव या अभाव है? आप यदि चंदूभाई हो तो भाव आएगा लेकिन आप शुद्धात्मा हो गए हो, फिर भाव रहा ही कहाँ? स्वभाव रहा। ये भाव तो विभाव है, विशेष भाव। सर्व भावों से असंगपन सब से दुष्कर साधन है और अब आप सब से दुष्कर साधन (प्राप्त) करके बैठे हो। क्या आपको नहीं लगता? आपके मन-बुद्धि कुबूल करते हैं? फिर दिक्कत क्या है आपको? अपने देश की पार्लियामेन्ट मंजूर कर रही है, फिर इससे ज़्यादा हमें और क्या चाहिए?

अब आपको तो असंग ही बना दिया है, फिर भी आप वापस

उसे छू आते हो यों जाकर। छूने की क्या ज़रूरत है? फिर भी आपको कर्म बंधन नहीं होंगे, ऐसा है यह विज्ञान। बस इतना ही है कि वापस जाकर छू आओगे तो आपको उलझन होगी, उतने टाइम तक आपका सुख चला जाएगा, आपको और कोई दिक्कत नहीं आएगी।

प्रश्नकर्ता : उसे छूकर आते हैं न, उससे सुख चला जाता है।

दादाश्री : हाँ, वह बुरी आदत तो जाएगी नहीं न अब! हमें प्रतिक्रमण करना है। 'चंदूभाई, प्रतिक्रमण करो', ऐसा कहना। यह तो बहुत सुंदर, सरल मार्ग है! मोक्ष हाथ में आ चुका है।

आप तो भगवान महावीर जैसे हो गए हो। यदि आपको वैसे रहना आए तो आप महावीर हो। आपको तो निर्लेप, असंग महावीर जैसा बना दिया है। लेकिन उस तरह से रहना आना चाहिए। ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के बाद यदि उपयोग करना नहीं आए तो अपना ओवरवाइज़पना है।

आत्मा से संबंधित → निःशंकता → निर्भयता → निःसंगता

प्रश्नकर्ता : निःशंकता से निर्भयता उत्पन्न होती है और निर्भयता से असंगता उत्पन्न होती है। असंगता को ही मोक्ष कहते हैं।

दादाश्री : हाँ, निःशंक आत्मा से निर्भयता आती है और फिर असंगता उत्पन्न होती है। उसके बाद खुद असंग स्वरूप से रह सकता है। कृपालुदेव ने यह बहुत ही सूक्ष्मता से लिखा है और अपने जो शास्त्र हैं न, वे लंबे हैं, उनका अंत आ सके ऐसे नहीं है। कृपालुदेव ने बहुत लंबा चित्रण नहीं किया है, थोड़े में और शॉर्टकट में समझा दिया। लेकिन कृपालुदेव का समझ लेने के बाद भी आत्मा जाने बगैर छुटकारा नहीं है। ये सारे शास्त्र आत्मा जानने के लिए लिखे गए हैं।

आत्मा से संबंधित निःशंकता उत्पन्न हो गई तो 'वर्ल्ड' में कोई भी शक्ति उसे भयभीत नहीं कर सकेगी। निर्भयता! निर्भयता उत्पन्न हो जाए तो संग में रहने के बावजूद भी निःसंग रह सकते हैं। ज़बरदस्त

संग में रहने के बावजूद भी निःसंगता रहती है, कृपालुदेव ऐसा कहना चाहते हैं।

बाकी, जहाँ पर शंका है वहाँ दुःख है, और 'मैं शुद्धात्मा हूँ' तो निःशंक हो गया। तब दुःख चला गया। यानी निःशंक हो जाए तभी काम चलेगा। निःशंक होना ही मोक्ष है। उसके बाद कभी भी शंका नहीं हो, उसे कहते हैं मोक्ष। शंका निकालने के लिए ही तो यहाँ ये 'ज्ञानी पुरुष' हैं। किसी भी तरह की शंका उत्पन्न हुई हो न, फिर भी 'ज्ञानी पुरुष' हमें निःशंक बना देते हैं।

यह आत्मा है, ऐसा पक्का हो गया है। पक्का अर्थात् अंदर मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, सभी को एक आवाज़ में पक्का हो जाता है। कोई भी आपत्ति, शंका, आशंका या कुशंका न करे, तब समझना कि क्षायक समकित हो गया। ऐसा हो चुका है आपको! अंदर कोई शंका-वंका करता है अब?

प्रश्नकर्ता : नहीं, अब नहीं। अब कुछ खास नहीं है।

दादाश्री : कोई शंका ही नहीं करता, निःशंकपना हो जाता है। निःशंक आत्मा को जाना और इस निःशंकता से निर्भयता उत्पन्न होती है और निर्भयता से निःसंगता आती है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, निःसंगता!

दादाश्री : दूसरी कोई बात ही नहीं है न! निःशंकता से निर्भयता रहती है, निरंतर निर्भयता रहती है और इसीलिए असंग रह पाते हैं। इसका फल असंग ही है। कृपालुदेव ने कितना अच्छा वाक्य लिखा है! नहीं? निर्भयता से निःसंगता, अर्थात् असंगता।

प्रश्नकर्ता : अब इसमें आप जो बता रहे हैं, उसके कार्य-कारण जानने की अब ज़रूरत नहीं है।

दादाश्री : कारण जानने को रहा ही कहाँ? अभी तक कारण जानने के लिए ही, शंका-शंका, ऐसा है या वैसा है, ऐसा है या

वैसा है, ऐसा है या वैसा है? अब नि:शंक हो गए, और नि:शंकता से निर्भय हो जाते हैं, नि:संग, असंग हो जाता है। और इसी से वीतरागता आती है। फिर और क्या चाहिए? इससे अधिक क्या चाहिए? नि:शंक हो गया। जगत् में एक भी नि:शंक व्यक्ति को ढूँढना अत्यंत विकट है। आत्मा से संबंधित नि:शंकता उत्पन्न हो जाए तो निर्भय हो जाएगा।

अलौकिक की मुहर लगते ही हो जाता है नि:शंक

प्रश्नकर्ता : ज्ञानी के शब्दों में चेतना का संग है, क्या इसलिए नि:शंक हो जाते हैं?

दादाश्री : हाँ, तभी हो जाते हैं न! वर्ना कैसे हो पाते? इनका वचनबल है और सजीवन हो चुकी वाणी है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, इसका संग है। कल कहा था न, अलौकिक की मुहर है।

दादाश्री : हाँ, अलौकिक की मुहर!

प्रश्नकर्ता : इसका संग है इसलिए नि:शंक हो जाते हैं।

दादाश्री : नहीं, लेकिन यह शब्द अच्छा है। उस क्षण निकल गया, वर्ना मैं कहाँ ढूँढता? मैं क्या इनकी डायरी देखने जाऊँ? उस समय अपने आप ही निकला। अत: इसके पीछे है न, कुछ आयोजन है न? आयोजन है या नहीं?

प्रश्नकर्ता : आयोजन नहीं है, यह तो साहजिक है। आयोजन वाले होते तो नि:शंक हो ही नहीं पाते।

दादाश्री : और दूसरा, एम्पावर (सत्ता देना) निकला। एम्पावर के बजाय यह जो मुहर कहा न, यह बहुत अच्छा लगा।

तब कर लेने हैं पूर्ण स्थिति के दर्शन

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, आप जब बोलते हैं उस समय ऐसे

वाक्य निकलते हैं... तो वे जो वाक्य निकलते हैं उन वाक्यों के निकलते समय हम ज्ञानी की जो मुखमुद्रा देखते हैं...

दादाश्री : वे दर्शन, उस समय दर्शन करने चाहिए। ऐसे-ऐसे (जय-जय) कर लेना चाहिए। वह पूर्ण स्थिति है। जब वाक्य निकलता है न, उस समय ज्ञाता-द्रष्टा रहकर निकलता है। निकलने के बाद फिर से ज़रा इधर-उधर हो जाता है। उस समय दर्शन कर लेने चाहिए। पूर्ण स्थिति के दर्शन।

तमाम संगी क्रियाओं में असंग तो अपने यहाँ ही कहा है न! कहीं भी कोई ऐसा नहीं कहता न! कहीं भी कोई ऐसा नहीं कहता कि आत्मा ऐसा है, संगी क्रियाओं में असंग है। किसी भी पुस्तक में नहीं है न! अपने ये सारे वाक्य देखकर स्तब्ध हो जाते हैं न लोग! हमने जैसा देखा है वैसा बताया है। उसका रूप तो बताया ही नहीं जा सकता लेकिन शब्दों से, संज्ञा से आपको समझा देते हैं। किसी भी शास्त्र में नहीं मिलेंगे ऐसे वाक्य! मौलिक संपादन है! मौलिक है।

त्रिलोक को वश करने से भी अधिक विकट, असंगपन

प्रश्नकर्ता : (श्रीमद् पत्र-213) '*एक समय पण केवळ असंगपणाथी रहेवुं ए त्रिलोकने वश करवा करता पण विकट कार्य छे।*' (एक समय के लिए भी केवल-असंगपने से रहना, वह त्रिलोक को वश करने से भी अधिक विकट कार्य है।) उन्होंने ऐसा कहा है।

दादाश्री : एक समय के लिए भी! अर्थात् इन आँखों के निमेष बदलते (पलकें झपकती) हैं उतने समय के लिए भी जगत् में कोई असंग नहीं रह पाया है, एक समय के लिए भी। उसे क्या कहते हैं?

प्रश्नकर्ता : 'जो तीनों काल में ऐसे असंगपन से रहे हैं...'

दादाश्री : त्रिकाल असंग हैं। कृपालुदेव ही असंग रह सके थे, वह भी थोड़े-बहुत। और वे ही समझ सकते हैं कि जो त्रिकाल रहते होंगे, उनकी दशा कैसी होती होगी?

प्रश्नकर्ता : 'जो त्रिकाल ऐसे असंगपन से रहे हैं, ऐसे सत् पुरुष के अंत:करण को देखकर परम आश्चर्य पाकर नमन करते हैं।'

दादाश्री : हाँ, सही कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : 'त्रिलोक के नाथ जिनके वश हो गए हैं लेकिन वे किसी ऐसी अटपटी दशा में हैं जिसकी सामान्य मनुष्य को पहचान होना दुर्लभ है। ऐसे सत् पुरुष के हम बार-बार स्तवन गाते हैं।'

दादाश्री : हाँ! ऐसे सत् पुरुष के हम बार-बार स्तवन गाते हैं। एक समय के लिए भी असंगपन रहना...!

प्रश्नकर्ता : जगत् को जीतना आसान है लेकिन एक समय के लिए भी असंग रहना अत्यंत विकट है।

दादाश्री : जगत् को जीतना आसान है लेकिन एक समय के लिए भी असंग रहना अत्यंत विकट है। अब, हम जब आपको यह ज्ञान देते हैं तब असंग बना देते हैं।

प्रश्नकर्ता : असंग बना देते हैं, सही है।

दादाश्री : हाँ! एक समय के लिए ही, ज़्यादा नहीं।

दादा कृपा से महात्मा भी बरतते हैं निरंतर असंगपन में

अब इस असंग में आप सब कितने समय तक रहते हैं?

प्रश्नकर्ता : निरंतर!

दादाश्री : निरंतर असंग रहते हो। मैं तो निरंतर असंग में रहता हूँ लेकिन ये (महात्मा) भी निरंतर असंग में रहते हैं। अब, इस संसार के संग में रहते हुए भी असंग रहना... एक समय के लिए भी, इस तरह से एक मिनट के लिए भी असंग नहीं रह सकता कोई मनुष्य। जबकि मैंने तो आपको हमेशा के लिए असंग बना दिया है। इसीलिए आपको कर्म स्पर्श नहीं करते। मैं तो हुआ सो हुआ लेकिन आपको भी बना दिया।

कृपालुदेव क्या कहते हैं? किस-किस के वश हो सकता है? उनमें क्या-क्या गुण होते हैं? तो कहते हैं, पल के छोटे से छोटे भाग में यदि कभी इस जगत् में असंगपन से बरते तो वह पूरे त्रिलोक को वश करने से भी कठिन है, ऐसा कहते हैं। और ये दादा तो निरंतर (असंग) रहते हैं। मैं कहता हूँ, 'भगवान मेरे वश हो गए हैं, चौदह लोकों का नाथ वश हो चुका है।' यों ही हाथ लगा जाओगे न, तब भी कल्याण हो जाएगा। पूरी दुनिया का कल्याण करने निकले हैं।

संगी क्रियाओं को खुद की मानने से है बंधन

प्रश्नकर्ता : मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग हूँ, यह ज़रा ज़्यादा समझाइए।

दादाश्री : मन-वचन-काया की संगी क्रियाएँ स्थूल हैं और मैं सूक्ष्म हूँ। दोनों का कोई लेना-देना नहीं है। ये संगी क्रियाएँ मन-वचन-काया की हैं। इन्हें आत्मा का संग है ही नहीं। असंग आत्मा का संग कैसे करोगे? ये जो मन-वचन-काया की संगी क्रियाएँ हैं, इन्हें तू अपनी मानता है और तू फँस जाता है और तू बंधता है। अपना ज्ञान कहता है, यदि इन्हें तू अपना नहीं मानेगा तो नहीं बंधेगा वर्ना फँस जाएगा।

मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं असंग हूँ। यह असंग शब्द बहुत बड़ा रखा है। तो कहते हैं, संसारी व्यक्ति को असंग कैसे कहा जा सकता है? हमने यह साइन्टिफिकली प्रूव दिया है। तू ये जो सारी संगी क्रियाएँ करता है न, आत्मा उनसे अलग है। देख, ज्ञानी ने कैसा आत्मा देखा होगा? मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से जो बिल्कुल असंग ही है, ऐसा आत्मा देखा है मैंने।

मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से 'शुद्ध चेतन' बिल्कुल असंग ही है। 'शुद्ध चेतन' मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं का ज्ञाता-द्रष्टा मात्र है। समीप रहने से भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। दोनों वस्तुएँ स्वभाव से अलग ही हैं। आत्मा में कोई क्रिया है ही नहीं, तो फिर ये सारी संगी क्रियाएँ किसकी हैं? *पुद्गल* की।

संगी क्रियाएँ करने वाला नहीं, जानने वाला है आत्मा

प्रश्नकर्ता : मन-वचन-काया की संगी क्रियाओं का अर्थ क्या है? संगी क्रियाएँ किसे कहा गया है?

दादाश्री : किसी को छूना संगी क्रिया है। 'अपना शरीर दूसरे को छूता है, उसमें मैं अलग हूँ', कहता है। उसे संगी क्रिया कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : वह देह की संगी क्रिया है, तो वाणी और मन की संगी क्रिया कौन सी है?

दादाश्री : यह मन अगर तुझे याद करे तो उसे संगी क्रिया कहा जाएगा।

प्रश्नकर्ता : यानी कि खुद का मन किसी और को याद करे तो उसे मन की संगी क्रिया कहा जाएगा?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : और वाणी की संगी क्रिया?

दादाश्री : वाणी बोलते हैं न हम जिसे.. उसे संगी क्रिया कहते हैं।

'मैं चंदू हूँ' और 'यह मैंने किया', यह संगी क्रिया है। ये सारी संगी क्रियाएँ अनात्मा हैं।

आत्मा किसी वस्तु को टच हो सके ऐसा नहीं है। यानी यह अवस्तु, अवस्तु को टच होती है। उसे संग छू ही नहीं सकता। (खुद) असंग रहता है। ये जो सारी क्रियाएँ होती हैं न, उनसे असंग ही है, ऐसा कहना चाहते हैं। लेकिन लोग मान बैठे हैं कि, 'मुझे होता है।' 'मैं संग में बैठा हूँ', ऐसा जो भान है वही भ्रांति है। वह सारी भ्रांति है लेकिन यह कैसे समझ में आए कि मैं इन सभी संगी क्रियाओं का भोक्ता नहीं हूँ, सिर्फ जानने वाला हूँ? क्योंकि संगी क्रियाओं में आत्मा है ही नहीं। संगी क्रियाएँ जड़ हैं और स्थूल हैं जबकि आत्मा सूक्ष्मतम है, उसे लेना-देना नहीं है। वह संगी क्रियाओं को भी जानने वाला है, संगी क्रियाओं को करने वाला नहीं है।

संगी क्रिया स्थूल, असंग आत्मा सूक्ष्मतम

अब, असंग आत्मा प्राप्त करने के लिए जहाँ पूरा जगत् मन-वचन-काया की संगी क्रियाओं से अलग रहता है, उनका त्याग करता है वहाँ अपना यह अक्रम विज्ञान कहता है कि, 'संगी क्रियाओं में मैं अलग हूँ।' क्या किसी ने हमें ऐसा बताया है कि यह आत्मा कैसा है? ऐसा जो कहा है न, 'मैं बिल्कुल असंग हूँ', तो यह सिर्फ हमने ही कहा है, कोई और नहीं कह सकता। तीर्थंकर जानते थे लेकिन ऐसा कहते नहीं थे वर्ना लोग दुरुपयोग करते। आपको तो पूरा ज्ञान दिया है इसलिए कह सकते हैं। आत्मा ऐसा है कि कोई भी वस्तु उसका संग कर ही नहीं सकती।

'धन्य है, आपके ज्ञान को भी धन्य है कि जो असंग था उसे आपने असंग ही बना दिया', जबकि यह क्रमिक का ज्ञान असंग नहीं बनाता। वे (तो कहते हैं) बाहर का छोड़ो, छोड़ोगे तभी छूटेगा। तो फिर इस शरीर को कैसे छोड़ोगे? जबकि हमने तो कहा है कि, 'मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग हूँ।' तो सभी संगी क्रियाओं को खत्म कर दिया। पूरा खत्म कर दिया और जला दिया, पूरा छेदन कर दिया है। आत्मा इनसे अलग है।

ये संगी क्रियाएँ, ये सारी स्थूल क्रियाएँ हैं जबकि आत्मा तो बिल्कुल सूक्ष्म है। दोनों को कभी एक करना हो तो नहीं हो सकेंगे। यानी स्थूल और सूक्ष्म साथ में हो ही नहीं सकते। लेकिन यह जगत् तो भ्रांति से उत्पन्न हो गया है। आत्मा एक क्षण के लिए भी रागी नहीं बना है और द्वेषी भी नहीं बना है। यह तो भ्रांति से, जैसे कि किसी व्यक्ति के दिमाग़ में डिप्रेशन आ जाए न, तब क्या वह नई तरह के आचार-विचार नहीं करता? पहले जो खुद के हित का करता था वही अहित नहीं करता? वैसा है। उसे यह रोंग बिलीफ हो गई है। आत्मा, अनात्मा नहीं हुआ है कभी भी और अनात्मा, आत्मा नहीं हुआ है, सिर्फ उसे रोंग बिलीफ हो गई है। 'यह मैं करता हूँ', ऐसी बिलीफ टूट जाए तो राइट बिलीफ हो जाती है, इससे राइट ज्ञान उत्पन्न होता है।

संगी क्रियाओं में उल्टी कल्पना करने से फँसता है आत्मा

कवि ने गाया है न, *'तन्मयता, संगी क्रिया, खुल्ला फाटक।'*

'संगी क्रिया अर्थात् 'मैं चंदू हूँ' करके जो भी क्रिया करता है वह खुला फाटक है', ऐसा कहा है।

वह *'सूक्ष्म भाव कारणनुं स्थूल छे नाटक।'* सूक्ष्म भाव कारण से पूरा स्थूल उत्पन्न हो गया है, (लेकिन यदि) 'मैं शुद्धात्मा हूँ' तो फिर उसी क्रिया में उसे (महात्माओं को) कुछ स्पर्श नहीं करेगा जबकि उसी क्रिया में किसी और का संसार खड़ा हो जाता है। क्रिया एक ही प्रकार की है लेकिन कौन करता है? यदि वह आरोपित भाव से करता है तो संसार खड़ा हो जाता है लेकिन अगर स्वाभाविक भाव से करे तो कोई लेना-देना नहीं है।

'तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग हूँ', ऐसा एक्ज़ेक्ट वाक्य उस समय ऑन द मोमेन्ट रहा करे, यदि ऐसा ज्ञान रहे तो उसे कुछ भी स्पर्श नहीं करेगा। लेकिन मनुष्य में इतना सामर्थ्य नहीं है न! हमने जिन्हें ज्ञान दिया है उनमें से अभी तो कुछ लोग ऐसे निकलेंगे कि संसार में रहने के बाद भी उन्हें कुछ स्पर्श नहीं करेगा। क्योंकि ज्ञान तो हमने पूरा-पूरा दिया है। संसार बिल्कुल भी स्पर्श न करे, ऐसा दिया है। लेकिन इस ज्ञान के शब्द हाज़िर रहने चाहिए न! शब्द हाज़िर नहीं रहने चाहिए क्या?

निर्विकल्प-निरपेक्ष-असंग-निर्लेप बनाते हैं निरालंब

प्रश्नकर्ता : दादा, अब यह समझना था कि जब कोई भी विकल्प नहीं रहेगा तो उसके बाद किसका संग रहेगा?

दादाश्री : खुद निर्विकल्पी हो गया यानी वह जिन विकल्पों के आधार पर जी रहा था, वह आधार छूट गया और खुद खुद के आधार से जीना सीखा। वह, जो इन विकल्पों के आधार पर जी रहा था, वह छूट गया। और खुद खुद के आधार से जीवन शुरू हो गया इसलिए निरालंब

होता जाता है। ये जो सारे अवलंबन हैं वे विकल्प हैं। अनंत जन्मों से विकल्पों के अलावा और कुछ भी नहीं कमाया है। भटकते, भटकते, भटकते ही रहे हैं। और बुद्धि का धंधा क्या है? विकल्प में ले जाती है।

प्रश्नकर्ता : इस प्रकार से असंग हो जाने के बाद की स्थिति क्या है?

दादाश्री : निरालंब होने के बाद में उसकी क्या स्थिति? मैं निरालंब हो गया हूँ। मुझे किसी तरह की कोई ज़रूरत नहीं है। किसी तरह की नेसेसिटी नहीं है मुझे। किसी अवलंबन की मुझे ज़रूरत नहीं है एब्सल्यूट में।

प्रश्नकर्ता : एब्सल्यूट का अर्थ क्या है, यह समझाइए।

दादाश्री : एब्सल्यूट अर्थात् असंग, निर्लेप, ऐसे सारे शब्दों को इकट्ठा किया जाए तब एब्सल्यूट बनता है। उसमें निरपेक्ष शब्द डालना होगा।

एब्सल्यूट अर्थात् निरालंब। अंत में सभी को निरालंब में आना होगा। अवलंबन कब तक है? अवलंबन अर्थात् परवशता। विकल्प अर्थात् परवशता। इन विकल्पों के आधार पर ही वह जीवित रहता है।

प्रश्नकर्ता : ये सारे विकल्प बंद होने के बाद भी उसे खुद का दैनिक जीवन तो बिताना ही होगा न?

दादाश्री : वह सब तो अपने आप ही चलेगा, ऐसा है यह जगत्। यह तो विकल्प करता है कि, 'मैं चला रहा हूँ', इतना ही है। जगत् अपने आप ही चलता रहता है। यह तो विकल्प, अहम्, इगोइज़म करते हैं सिर्फ। जहाँ विकल्प बंद हो जाते हैं, वह अंतिम पद कहलाता है, पूर्णत्व प्राप्त हो गया, ऐसा कहलाता है।

ज्ञानी के परमाणु असंगता उत्पन्न करवाते हैं महात्माओं में

प्रश्नकर्ता : आपने बताया है, ज्ञानी असंग और निर्लेप होते हैं तो फिर क्या उनके शरीर पर असर होता है?

दादाश्री : असर हुए बगैर रहेगा ही नहीं न! यह शरीर भी परमाणुओं से बना है और यह भी परमाणुओं से बना है और ये परमाणु सभी जगह हैं। जिनकी वजह से असर होता था वैसे जो परमाणु थे, वे सारे निकल गए हैं। परमाणु पवित्र होते-होते-होते-होते परमाणु असंग हो जाते हैं। अपने अंदर असंगता उत्पन्न करे, ऐसे परमाणु। अतः अगर इनके साथ रहने का लाभ मिल जाए, अच्छी तरह से तो आप भूल जाओगे सबकुछ, विचार ही भूल जाओगे। स्थूल रूप से मिलोगे न (ज्ञानी से) तो अंदर का सारा, पूरा संसार भुला दें।

ज्ञानी या वीतराग के प्रति रखे गए खुद के भाव का मिलता है सौ प्रतिशत रिटर्न

प्रश्नकर्ता : ज्ञानी असंग होते हैं तो उन्हें किसी भी प्रकार के व्यवहार से लेना-देना नहीं होता, तो अब हम जो नमस्कार करते हैं तब उसे कैसे स्वीकार करते हैं?

दादाश्री : स्वीकार नहीं करते, वे तो वीतराग हैं। रिटर्न विथ थैंक्स। यदि कोई एक गाली देगा तो सौ गालियाँ होकर वापस आएँगी। एक नमस्कार करेगा तो सौ नमस्कार होकर वापस आएँगे। तेरी जो भावना या इच्छा है वह सौ प्रतिशत होकर वापस मिलेगी। एक कंकड़ फेंकेगा तो सौ कंकड़ वापस, रिटर्न विथ थैंक्स।

प्रश्नकर्ता : हंड्रेड टाइम्स (सौ गुना)?

दादाश्री : हंड्रेड टाइम्स। इसलिए अगर तुझे ठीक लगे तो कंकड़ मारना, ठीक लगे तो फूल चढ़ाना और ठीक लगे तो इच्छापूर्वक नमस्कार कर। यानी तू जैसा माँगेगा वैसा, मोक्ष माँगेगा तो मोक्ष मिलेगा।

प्रश्नकर्ता : क्या केवलज्ञान होने के बाद भी ज्ञानी यहाँ इस जगत् में रहते हैं?

दादाश्री : जो केवलज्ञान ग्रहण किया है वह देने के लिए ज्ञानी को रहना पड़ता है। तीर्थंकर सबकुछ ग्रहण करके आए थे लेकिन वे

खुद कर्ता नहीं थे इसलिए उन्हें ग्रहण किया हुआ माल खाली करना पड़ता था। अत: वे उपदेश के रूप में और आशीर्वाद के रूप में जगत् को देते ही रहते थे, वे अबंध थे। जबकि हमें, ज्ञानी को बंध (कर्म बंधन) होता है। लेकिन वह बंध किस वजह से होता है? तो कहते हैं, खटपट करते हैं, 'लो, विधि कर लो, ज्ञान दूँगा, चलो सत्संग करते हैं, आप यह करो और वह करो, और आपको मोक्ष में ले जाएँगे वगैरह', इस तरह से जो प्रयत्न करते हैं वे *निकाली* नहीं हैं। इनसे हमें कर्म बंधन होता है।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि ज्ञानी को बंध होता है लेकिन आप तो आत्मा रूप में ही रहते हैं न, आत्मा तो असंग है फिर क्या दिक्कत है?

दादाश्री : आत्मा खुद ही असंग है, फिर क्या दिक्कत है? लेकिन व्यवहार में भी ऐसा आ जाना चाहिए। निश्चय से तो आ गया है हमारा। व्यवहार से थोड़ा सा ही भाग बाकी रहा है। हम यहाँ मिलते हैं बस इतना ही, कोई और खास व्यवहार नहीं रहा है। इतना ही संग है हमारा। तो यह संग तो उच्च प्रकार का है न! लेकिन यह भी संग कहलाता है। जैसे-जैसे *निकाल* होता जा रहा है वैसे-वैसे आपके संयोग भी कम होते जा रहे हैं।

❖❖❖❖❖

[6.2]
असंग और निर्लेप

आत्मा का हुआ है संयोग, नहीं हुआ संग

प्रश्नकर्ता : निर्लेप और असंग, ये दो भाव बताए हैं आपने, तो यह समझाइए।

दादाश्री : असंगी को संग स्पर्श नहीं करता और निर्लेपी को लेप नहीं लगता। लेपायमान नहीं होता। लेपायमान हुआ ही नहीं है। यह खुद स्वभाव से निर्लेप ही है, असंग ही है। किसी का संग हुआ ही नहीं है। संयोग हुआ है लेकिन संग नहीं हुआ है। संयोग छूट सकते हैं लेकिन यदि संग हो गया होता तो अलग नहीं हो पाता। यानी खुद असंग है। इस वर्ल्ड में कोई भी चीज़ ऐसी नहीं है जो उसे लेपायमान कर सके और कोई भी संग ऐसा नहीं है जो उसे संग में ला सके। निर्लेप और असंग, ये दोनों चीज़ें अलग हैं। इतना सब कार्य करने के बावजूद भी खुद असंग रहता है। इतने सांसारिक कार्य हैं फिर भी खुद असंग ही है। लेपायमान वाला इतना सब कार्य दिखाई देता है, संसारी भाव हैं, सब है फिर भी खुद निर्लेप है। ऐसा है आत्मा! और ज्ञानी ने ऐसा आत्मा देखा है। तभी अलग हो सकता है न! वर्ना लेपायमान हो चुका आत्मा अलग कैसे हो पाता?

असंग और निर्लेप में गुह्य अंतर समझाया ज्ञानी ने

प्रश्नकर्ता : असंग और निर्लेप में क्या अंतर है?

दादाश्री : निर्लेप और असंग, दोनों में अंतर है। असंग में ऐसा

लगता है कि कोई पीछे छूकर खड़ा है लेकिन किसी ने छुआ ही नहीं होता। बीच में अवकाश (जगह) रहता ही है और निर्लेप में तो छुआ ही नहीं होता। असंग वाला तो फिर से चिपक भी सकता है लेकिन निर्लेप वाले की तो बात ही अलग है। कभी भी लेपायमान नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : निर्लेप अवस्था में उसके काफी कुछ डिस्चार्ज कर्म खत्म ही हो चुके होते हैं न?

दादाश्री : हाँ, कुछ ही बचे होते हैं।

प्रश्नकर्ता : निर्लेप अवस्था वाले को भी निर्लेप का भान तो रहता है न?

दादाश्री : नहीं रहता। निर्लेपपने का भान रहे तब तो लेप है। हमें वैसा नहीं रहता। जबकि असंग वाले को तो संग का भान रहता है। अवस्था में असंग तो साधारण व्यक्ति को भी किसी-किसी बात में रहता है। अगर बारह आने का घड़ा टूट जाए तो घर में कोई कुछ भी नहीं बोलता, इसका क्या कारण है? क्योंकि उसकी डिवैल्यू हो गई है। अगर वैल्यू वाली चीज़ में असंग रह सके तो सही है। अपना यह विज्ञान वैल्यूएशन वाली चीज़ का डिवैल्यूएशन कर देता है कि यह विनाशी है, अस्थायी है।

हम अवस्था में असंग रहते हैं और फिर निर्लेप भी रहते हैं। अवस्था में निर्लेप, ऐसा तो ज्ञानी के अलावा और कोई भी नहीं रह सकता। हम यह ज्ञान देते हैं फिर महात्मा असंग रह सकते हैं।

हमें निरंतर आत्म अनुभव रहता है और अवस्था में हम निर्लेप रहते हैं जबकि आपको, महात्माओं को आत्मा बिलीफ में रहता है इसीलिए आप अवस्था में असंग रह सकते हो। अपना यह विज्ञान क्या कहता है कि आप महात्माओं को अवस्था में असंग रहना है, फिर धीरे-धीरे निर्लेप हो जाओगे।

प्रश्नकर्ता : दादा, हमारा ऐसा कब होगा?

दादाश्री : हम जिस स्टेशन तक पहुँचे हैं जब उस स्टेशन तक पहुँचोगे तब आपको भी वैसा हो जाएगा। यह प्रत्यक्ष प्रमाण देखा है न आपने? पुस्तक से नहीं है।

'मैंने किया', इस भ्रांति रस के खत्म होने से हो जाता है असंग

अब आप शुद्धात्मा हो गए हो इसलिए प्रतीति से निर्लेप हो ही गए हो, असंग हो ही गए हो। खुद इस देह से असंग ही है। देह को स्पर्श ही नहीं करता। जो देह से चिपका हुआ था भ्रांति से तो हम जब ज्ञान देते हैं न, उसी दिन दोनों अलग हो जाते हैं। अब किस वजह से चिपका हुआ था? तो कहते हैं, भ्रांति रस की वजह से। वह कहता है, 'मैंने यह किया', कि तुरंत ही भ्रांति रस उत्पन्न हो जाता है और उनके बीच गिरता है। वह भ्रांति रस कभी भी कम नहीं होता। रोज़ कारखाना चलता ही रहता है। हमने भ्रांति रस को खत्म कर दिया है और दोनों को अलग कर दिया है। अब अलग करने के बाद में असंग हो गया। यों तो सटा हुआ है लेकिन संग नहीं है। निरंतर असंग रहता है, असंग, निर्लेप। अब उसे लेप स्पर्श नहीं करता।

प्रश्नकर्ता : कब भ्रांति हो जाती है इसका पता नहीं चलता। वह क्या है?

दादाश्री : यह ज्ञान देने के बाद तू एक क्षण के लिए भी लेपायमान नहीं हुआ है। निर्लेप ही रहा है, असंगी ही रहा है। लेकिन जैसे-जैसे परिचय बढ़ता जाएगा, स्पष्टता होती जाएगी तब ऐसा भान होगा कि भ्रांति में पड़े ही नहीं हैं। रात को उठते ही तुरंत 'शुद्धात्मा हूँ' का *लक्ष* आ गया यानी पूरे जगत् की विस्मृति थी, वर्ना रात को तो सभी प्रकार का भान चला जाता है। लेकिन सब से पहले शुद्धात्मा याद आया यानी कि शुद्धात्मा के भान में आ चुके हो।

'मैं चंदू नहीं हूँ', 'मैं शुद्धात्मा हूँ' तो हो गया असंग

असंग अर्थात् 'मैं शुद्धात्मा हूँ', इसके अलावा अन्य कोई भान नहीं। खुद असंग शुद्धात्मा है। मैं असंग ही हूँ, निर्लेप ही हूँ। वह रोंग

मान्यता टूट गई है इसलिए गया। वह रोंग मान्यता थी। इसीलिए तो लोग कहते हैं, 'मैं असंग कैसे कहला सकता हूँ?' ऐसा नहीं कहेंगे लोग? जबकि आपको तो खुद को समझ में आता है कि रोंग मान्यता टूट गई। दूसरे पद में अपनी ऐसी भ्रांति हो गई थी कि, 'मैं चंदूभाई हूँ'। लेकिन अब जितना उल्टा आराधन किया था, फिर से यदि उतना ही सीधा आराधन करोगे तो छूट जाएगा यानी सीधा हो जाएगा। जितना उल्टे रास्ते पर चले थे, उतना ही लौटना होगा।

'मैं शुद्धात्मा हूँ', यही असंगपन का *लक्ष* है। ज्ञान का फल विरति है। असंगपन ही विरति है। आत्मा प्राप्त हो जाने के बाद ही सर्वसंग परित्याग हो सकता है।

आपको आत्मा दिया है। आपको आपका स्वरूप, सर्व संग से रहित, मात्र आत्मा दिया है। कोई भी संग उसे छू नहीं सकता, (यदि) संग छू सकता तो आत्मा कभी भी आत्मवत् नहीं हो पाता। उस संग से असंग बनाने के बाद ही तो आप में यह ज्ञान परिणमित हुआ है। वर्ना प्राप्ति नहीं हो पाती न! अब निश्चय से असंग हो, यानी असंग हो गए हो, निश्चय से। व्यवहार (जिन्होंने ज्ञान नहीं लिया) वाले लोग भी बोलते हैं लेकिन वह नहीं चलेगा। आपको तो अपने आप ही असंग स्वरूप का *लक्ष* रहता है। *लक्ष* अर्थात् क्या? आत्मध्यान कहलाता है। पहले, 'मैं चंदूभाई हूँ', ऐसा ध्यान था, अब 'शुद्धात्मा हूँ' का ध्यान आया। 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ध्यान में काफी कुछ भाग तो शुद्धात्मा ध्यान में चला जाता है। बहुत फाइलें हों तो ज़रा चूक हो सकती है लेकिन फिर भी ध्यान में क्या है? शुद्धात्मा। वह शुक्लध्यान है, असंग स्वरूप है। वर्ल्ड में इससे बड़ा पद कोई और नहीं हो सकता। (यह तो) अविरति पद है। इसलिए इतना ही संभालना है कि हम अविरति पद में आए हैं इसलिए इन सभी का *निकाल* तो करना पड़ेगा न? जितना हमारी आज्ञा में रहोगे उतना हल आता जाएगा।

कुसंग में भी असंग, आज्ञा रूपी प्रोटेक्शन से

प्रश्नकर्ता : असंग पद की प्राप्ति के बाद आज्ञा का कितना महत्व है?

दादाश्री : ये आज्ञाएँ यानी यह राइट बिलीफ फिर से न बदल जाए, उसके लिए हमने प्रोटेक्शन दिया है। (इनसे) बिलीफ फिर से बदल नहीं जाएगी। लोगों का ज़बरदस्त कुसंग है, अतः बिलीफ का फिर से बदल जाना संभव है। यदि कुसंग में नहीं रहते और सत्संग में रहते हैं तो फिर उनकी बिलीफ तो बदलेगी ही नहीं, तो उन्हें आज्ञा की ज़रूरत नहीं है। लेकिन हमेशा सत्संग में रह सकें ऐसा है नहीं, कुसंग में रहना पड़ता है इसलिए बिलीफ बदल जाती है। यानी आज्ञा का पालन करोगे तो फिर उसका प्रोटेक्शन रहेगा, तब फिर आपकी यह बिलीफ बदलेगी ही नहीं। लेकिन पूरे दिन निरा कुसंग-कुसंग-कुसंग-कुसंग। पत्नी-बच्चे सब कुसंग ही हैं। इस जगत् में जो कुछ भी चल रहा है, अखबार-वखबार सब, विचार वगैरह सब कुसंग हैं। कुसंगों के बीच रहते हुए भी असंग रह पाना, ऐसा हमारी आज्ञा के बिना नहीं हो सकता।

पौद्गलिक संग को कुसंग कहते हैं। 'हम' हैं ही असंग। जो उसका अनुभव नहीं होने दे, वह सारा कुसंग कहलाता है।

पौद्गलिक विचारक्रिया से अलग शुद्धात्मा की दर्शनक्रिया

प्रश्नकर्ता : दादा, आज मैं असंगता पर विचार करने लगा। मैं असंग हूँ, किससे असंग हूँ, मैं ऐसा सब देखने लगा। इससे असंग हूँ, इससे असंग हूँ, इससे असंग हूँ। अब, यह विचारधारा आत्मा को *लक्ष* में रखकर ही है लेकिन यह क्रिया है, क्या यह क्रिया बंधनकारी है?

दादाश्री : इसका बंधन से कोई लेना-देना ही नहीं है न! यह विचारक्रिया नहीं है, दर्शनक्रिया है। शुद्धात्मा विचारक्रिया से बाहर है। विचारक्रिया *पुद्गल* में है। शुद्धात्मा निर्विचार है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या यह दर्शनक्रिया है?

दादाश्री : दर्शनक्रिया और ज्ञानक्रिया है। जबकि विचारक्रिया अलग चीज़ है।

प्रश्नकर्ता : विचारक्रिया तो संसार का बंधन करवाती है।

दादाश्री : हमें यह नहीं देखना है कि बंधा हुआ है या नहीं। किसी भी संयोग में ऐसा नहीं होता लेकिन यह चारित्र मोह है। हमें इस तरह बहुत झंझट में पड़ने की ज़रूरत नहीं है।

प्रश्नकर्ता : सारे कार्य करने के लिए तो हमें विचारक्रिया की ज़रूरत है न?

दादाश्री : वह सब तो है ही। वह तो संसार की, व्यवहार की बात आई। उन्होंने असंग की बात बताई है। मैंने आपको सोचने के लिए कुछ सौंपा ही नहीं है। सिर्फ आज्ञा में रहो और संसार का, आपके व्यवहार का, फाइलों का *निकाल* करो, मैंने इतना ही कहा है। सरल और सीधी बात है यह।

'मैं शुद्धात्मा हूँ', यह है असंगभाव इसीलिए नहीं बंधते कर्म

प्रश्नकर्ता : ज्ञान मिलने के बाद भले ही कर्मों की *निर्जरा* हो, तो उन्हीं का *निकाल* करना रहा, दूसरे नए कर्म तो नहीं बंधेंगे न अब?

दादाश्री : 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा निर्लेप भाव हो गया, असंग भाव हो गया है इसलिए नया कर्म नहीं बंधेगा। अब नया चार्ज नहीं होगा। पुराना डिस्चार्ज होता रहेगा। क्या आपको अंदर 'मैं शुद्धात्मा नहीं हूँ' और 'मैं चंदू हूँ', ऐसा आ जाता है? ऐसा नहीं आ सकता। हमने जो शुद्धात्मा का ज्ञान दिया है वह बदल नहीं सकता। निर्लेप अब लेपायमान नहीं हो सकता। संग उत्पन्न नहीं हो सकता। असंग! इसमें रहने के बावजूद भी खुद असंग है।

संगी क्रियाओं में जागृति रहने से, आत्मा रूप से 'मैं' असंग

प्रश्नकर्ता : जीभ को बहुत आकर्षण रहा करता है, ऐसे में क्या उपाय करना चाहिए? इससे नया बंधन तो नहीं होगा न?

दादाश्री : वह जो आकर्षण रहा करता है, उसमें सिर्फ यह जागृति रखनी है कि, 'मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग ही हूँ।' ऐसी जागृति रहनी चाहिए और वास्तव में

एक्ज़ेक्टली ऐसा ही है। वह सारा *पूरण-गलन* है। आप ऐसी जागृति रखोगे तो आपको बंधन नहीं होगा।

चंदूभाई पकोड़े खा रहे हों या रस-रोटी खा रहे हों और मज़े से खा रहे हों तो उसमें अहंकार है लेकिन 'मैं' नहीं है। क्रियाएँ सारी जड़ की ही हैं। आत्मा का इनसे लेना-देना ही नहीं है। ये देह की संगी क्रियाएँ कहलाती हैं और हम मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से असंग हैं। ये क्रियाएँ तो इतनी नज़दीक होती हैं कि इससे भ्रांति हो जाती है कि, 'मैं ही खा रहा हूँ।' लेकिन वास्तव में तो खुद कभी खाता ही नहीं है। खाते समय मन-वचन-काया की संगी क्रियाएँ होती हैं, उस समय मैं नहीं खाता हूँ, मैं अलग हूँ उस समय। संगी क्रियाओं से मैं अलग हूँ, क्योंकि अलग होगा तभी जान सकेगा, यदि अलग नहीं होगा तो जान नहीं सकेगा।

अब चंदूभाई से कोई काम हो जाए तो करने वाला कौन है? व्यवस्थित! ऐसे में व्यवस्थित आपको प्रेरणा देगा, और चंदूभाई सारा काम करते रहेंगे, आपको ज्ञाता-द्रष्टा रहना है। अब, चंदूभाई से कहीं कोई खराब काम हो जाए तो आपको घबराहट नहीं रहनी चाहिए। क्योंकि वह तो, व्यवस्थित शक्ति ने किया है और आप तो शुद्धात्मा हो, शुद्ध ही हो। अब फिर से आपको लेपायमान होगा ही नहीं, असंग ही हो। आप शुद्ध ही हो, अब किसी भी संयोग में कोई भी खराब क्रिया हो जाए तो एक तरफ खराब क्रिया हो रही है लेकिन आप शुद्ध ही हो। आज यह क्रिया आप नहीं कर रहे हो। इस क्रिया का संचालन आपके हाथों से हुआ है लेकिन आज आप उसके कर्ता नहीं हो।

प्रकाश बढ़ने से होता है निरंतर अनुभव असंग-निर्लेप पद का

प्रश्नकर्ता : दादा, लेकिन अब बहुत जल्दबाज़ी है, जल्दी पूरा करना है।

दादाश्री : हमने आपको यह जो बोध बीज दिया है, वह अब धीरे-धीरे दूज में से तीज होगा। अनंत जन्मों की अमावस्या बीत गई

है और ज़रा सा प्रकाश दिखाई दिया, झलक (दिखाई दे) तो वह बोध बीज है। उसमें से फिर तीज होगी, चौथ होगी और फिर अंत में पूनम होगी। एक बार दूज हो जाने के बाद ही होता है, तब तक अमावस्या ही रहा करती है। दूज होने के बाद हमें विश्वास हो जाता है कि अब तीज होगी। धीरे-धीरे जैसे-जैसे तीज होगी वैसे-वैसे आपको पता चलेगा कि अब प्रकाश बढ़ा। जैसे-जैसे प्रकाश बढ़ता है वैसे-वैसे इस संसार का असर होना कम हो जाता है। अभी स्थूल रूप से असर नहीं डालता लेकिन अभी भी सूक्ष्म रूप से असर हो ही जाता है। बाद में यह भी कम होते-होते-होते अपना पद जो कि निर्लेप ही है उस निर्लेप का निरंतर अनुभव रहा करेगा। अपना पद जो कि असंग ही है उसका निरंतर अनुभव रहा करेगा।

'मैं असंग हूँ', यह है संगी के असंग होने का पुरुषार्थ

प्रश्नकर्ता : हम चरणविधि करते समय बोलते हैं कि, 'मैं असंग हूँ, मैं अरूपी हूँ, मैं अक्षय हूँ, मैं अमूर्त हूँ', तो ऐसा बोलते समय क्या अंदर ऐसे भाव उत्पन्न होने चाहिए? तभी इसे सही कहा जाएगा न?

दादाश्री : ऐसे भाव करने की ज़रूरत नहीं है, सिर्फ बोलने की ही ज़रूरत है।

प्रश्नकर्ता : बोलने की ज़रूरत है लेकिन अगर भाव हो जाएँ तो?

दादाश्री : भाव हो जाएँ तो हर्ज नहीं है। उससे और अच्छी तरह से होगा, बाकी है एक ही। सिर्फ बोलने की ज़रूरत है। यह तो, संगी बोलता है कि, 'मैं असंग हूँ', अर्थात् असंग होने के लिए यह उसका पुरुषार्थ है। आत्मा तो निरंतर असंगी ही है।

दिन में पाँच बार बोलना कि, 'मैं शुद्धात्मा हूँ, मुझे कुछ भी स्पर्श नहीं करता। निर्लेप हूँ, असंग हूँ, मुझे कुछ भी स्पर्श नहीं करता', ऐसा बोलना चाहिए।

अक्रम विज्ञान से संसार में रहकर भी असंग व निर्लेप

अब हम निर्लेप हैं, असंग हैं। कितना सुंदर ज्ञान दिया है! इतना अच्छा विज्ञान मिलने के बाद एक तिनका भी आपको स्पर्श नहीं करता है। संपूर्ण निर्लेप और संपूर्ण असंग। चंदू क्या कर रहा है, उसे आप जानो।

संसार में रहना है, बच्चों की शादियाँ करवानी हैं, काम करना है और इस तरह संसार में रहने के बावजूद भी असंग और निर्लेप रहना है। संसार में रहने के बावजूद कुछ भी स्पर्श नहीं करता, निर्लेप रहा जा सकता है, असंग रहा जा सकता है। खाता-पीता है फिर भी असंग। जो कुछ खाए वह बाधक नहीं, क्योंकि यह अक्रम ज्ञान है।

प्रश्नकर्ता : दादा, नौकरी-व्यापार भी कर सकते हैं न?

दादाश्री : व्यापार करने में हर्ज नहीं है लेकिन हमारी आज्ञा का पालन करना। तो इसमें से मुक्त रहोगे। ये (संसार के) काम होते रहेंगे और इनमें निर्लेप रह सकोगे, असंगपन से रह सकोगे। संग में होने के बावजूद भी असंग रहोगे। यह विज्ञान है। अक्रम विज्ञान है यह। दस लाख सालों में प्रकट होता है एक बार। तो संसार में रहने के बावजूद भी मुक्ति भोगो।

शुद्धात्मा स्वभाव को पकड़े रखने से हो जाता है असंग

मैंने आपको जो आत्मा दिया है, वह असंग ही दिया है। देह का निरंतर संग होने के बावजूद असंग ही है। आत्मा को कुछ भी स्पर्श नहीं करता और बाधक भी नहीं है। अत: उस स्वरूप रहना है, निर्लेप, असंग! अग्नि के संग का भी उस पर असर नहीं होता, तो इस दु:ख का, शरीर का कैसे हो सकता है? इसीलिए इस स्वभाव को पकड़े रखना है।

अब हम शुद्धात्मा हो गए हैं, तो शुद्धात्मा को कुछ भी स्पर्श नहीं कर सकता। उसका स्वभाव ही निर्लेप है। स्वभाव से असंग ही

है। स्वभाव से ही है, तो फिर हम भला कहाँ उसे असंग बनाने जाएँ? जो स्वभाव से ही असंग है!

ज्ञान देने के बाद, एक बार निर्लेप होने के बाद में फिर लेपायमान नहीं होता, असंग होने के बाद में संगी नहीं हो सकता। डॉक्टर ने कहा हो कि दाएँ हाथ को पानी मत लगने देना फिर भी अनादिकाल के परिचय की वजह से वह लगा देता है। उसी तरह इस अनादिकाल के परिचय की वजह से कुछ हो जाए तो बोलना, 'हम निर्लेप हैं, असंग हैं', तो असंग हो जाओगे।

बुखार भले ही आ जाए, उससे आत्मा को कुछ नहीं होगा। संग में रहने के बावजूद भी खुद तो असंग ही है। खुद तो ज्ञाता-द्रष्टा, शुद्ध भाव में ही है। जैसा संग वैसा रंग लग जाता है। आत्मा 'असंग' है। अगर तू 'असंग' है तो तुझ पर रंग का असर नहीं होता, 'चंदूभाई' को होता है। 'हमें' तो सिर्फ 'जानते' रहना है!

देह है संगी चेतना, जो घबराकर दिखाता है असर

प्रश्नकर्ता : चाहे कितना भी ज्ञान सेट कर लें लेकिन शरीर पर कुछ आए तो असर हो ही जाता है।

दादाश्री : क्योंकि यह देह संगी चेतना है। संगी चेतना अर्थात् आरोपित चेतना। संग के कारण वह खुद चेतन भाव वाली हो गई है। वह संग करती है, हम उस संग को जानते हैं। संगी चेतना ने क्या संग किया, यह हम जानते हैं।

प्रश्नकर्ता : संगी चेतना अर्थात् निश्चेतन चेतना?

दादाश्री : हाँ! निश्चेतन चेतन, पौद्‌गलिक माया। जो पौद्‌गलिक, पूरी जो फिज़िकल बॉडी है, उसमें चेतना भरी हुई है। एक-एक परमाणु में वह संगी चेतना है।

इस डिस्चार्ज में जो सारा चेतन रहा हुआ है, यह संगी चेतना इस फिज़िकल बॉडी की है। यह शरीर संगी चेतना है। जबकि मानसिक

और वाणी की चेतना मिश्र चेतना कहलाती है। ज्ञानी को मिश्र चेतना से कोई परेशानी नहीं होती। ज्ञानी पर अन्य कुछ भी असर नहीं डालता लेकिन इस संगी चेतना में ज़रा सी भी काट-छांट हो जाए तो परेशानी हो जाती है। फिर भी राग-द्वेष नहीं होते, यही निशानी है। काटने वाले पर भी राग-द्वेष नहीं होते, कटवाने वाले पर भी राग-द्वेष नहीं होते। मैं अभी असंग चेतन के तौर पर जी रहा हूँ। लेकिन जब तक शरीर है न, तब तक शरीर का असर रहता है। बाहर का... कोई गालियाँ दे रहा हो तो उसका असर नहीं होता लेकिन शरीर पर तो असर होता है। शरीर तो लिपटा हुआ है, चिपका हुआ है, उसके अंदर चेतन घुस चुका है। वह जो चेतन था वह अहंकार का चेतन, वह सारा मूल चेतन में चला गया और इस शरीर का जो चेतन है वह संगी चेतना कहलाता है। वह असर डाले बगैर रहेगा नहीं। अतः हमें समझना चाहिए कि जब तक अंदर संगी चेतना है तब तक असर होगा ही। उतने समय तक... हमें समझ जाना है कि एक-दो जन्म लगेंगे वहाँ तक पहुँचने में, फिर अब दखल नहीं रहा न! कर्म बंधने रुक गए कि सब गया। यानी कि सब चला ही गया है। परेशान होना ही नहीं। आपको परेशान होने जैसा कुछ है ही नहीं इसमें।

अब संगी चेतना को देखना हो तो कैसे पता चलेगा? कोई कहे कि, 'मुझे जानना है कि संगी चेतना क्या है?' तो कोई यहाँ पर विधि कर रहा हो और कोई नई ही तरह की आवाज़ हो तब शरीर काँप जाता है। आपको पता चलता है कि यह काँप गया। यहाँ मुझे भी पता चलता है। खुद को भी पता चलता है लेकिन अंदर खुद नहीं काँपता। वह संगी चेतना ही काँपती है, खुद नहीं काँपता। यानी संगी चेतना को पहचान सकते हैं। इस तरह से उसे पहचान सकते हैं। जो काँपता है वह संगी (इफेक्टिव) चेतना है। क्योंकि उसे इसका संग हुआ।

प्रश्नकर्ता : संगी चेतना को संग (इफेक्ट) हुआ।

दादाश्री : हम पर (आत्मा पर) संग का असर नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : आत्मा पर असर नहीं होता।

दादाश्री : अस्पर्श्य आत्मा, निरंतर असंग ही रहने वाली वस्तु। यह जो चौंक जाते हैं वह संगी चेतना है, मूल चेतना नहीं है। अत: संगी चेतना को हम क्या कहते हैं? कि अनात्मा (पावर चेतना) है। यह अपनी खोज है।

संगी चेतना है डिस्चार्ज चेतना

प्रश्नकर्ता : संगी चेतना किसके आधार पर है, आत्मा के या जीव के?

दादाश्री : संगी चेतना जीव के आधार पर है। अत: जब तक जीव जी रहा है तब तक संगी चेतना रहती है।

प्रश्नकर्ता : वह संगी चेतना कभी काम करना बंद कर दे, क्या ऐसा हो सकता है?

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। संगी चेतना तो निरंतर काम करती ही रहती है। बेहोशी में वह काम नहीं करती। बेहोश होने पर तो सभी चेतनाएँ बंद हो जाती हैं, उन चेतनाओं पर आवरण आ जाता है।

शरीर में जो संगी चेतना है वह भरा हुआ डिस्चार्ज भय है। उसके डिस्चार्ज होने पर भय उत्पन्न हुए बगैर नहीं रहता। अंगों में रही हुई जो चेतना है वह वास्तविक चेतना नहीं है। वह चेतना तो मिक्स्चर के रूप में है। वास्तविक चेतना तो कभी मिक्स होती ही नहीं है। यह तो बिलीफ से उत्पन्न हुई है। यह संगी चेतना भी, जब किसी खास तरह की आवाज़ होती है न, तब ये भी (विधि करते हुए महात्मा) नहीं चौंकते, मैं भी नहीं चौंकता। कई बार कुछ और तरह की आवाज़ें होती हैं, तब ये चौंक जाते हैं लेकिन मैं नहीं चौंकता। इस तरह हम नापते रहते हैं।

अज्ञान से भय, संगी चेतना से चौंकना

प्रश्नकर्ता : चौंकना का मतलब?

दादाश्री : आत्मा की अज्ञानता के कारण भय रहता है और संगी चेतना के कारण चौंक जाते हैं। चौंकना व डरना, ये संगी चेतना के गुण हैं। चौंकना देह का गुण है। जैसे किसी खिलौने में चाबी भरी जाए तो जितनी चाबी भरी होगी उतनी देर तक ही चलेगा। वह उसका मूल गुण नहीं है। उसी प्रकार से शरीर में चौंकने की क्रिया रही हुई है। यानी कि हमें नहीं करना हो फिर भी हो जाता है। यहाँ कोई धमाका हो तब हमें अपनी आँखें बंद नहीं होने देनी हों फिर भी हो जाती हैं, ऐसी है यह घबराहट। ज्ञान के बाद घबराहट रहती है और यदि अज्ञान हो तो भय रहता है। अज्ञान के कारण भय है।

इस जगत् को जो भय रहता है वह भय अज्ञान के कारण है। अज्ञान का भय चला जाए तो भय नहीं रहता, घबराहट रहती है।

जो आवाज़ कभी सुनी नहीं हो न, वैसी आवाज़ सुने तो घबरा जाता है। जिस आवाज़ से परिचित हो जाता है उससे फिर नहीं घबराता।

प्रश्नकर्ता : परिचित होने के बाद फिर नहीं घबराता?

दादाश्री : फिर नहीं घबराता परंतु जो आवाज़ उसने पहले सुनी नहीं थी न, उसमें ध्यान दो या न दो फिर भी देह काँपे बिना नहीं रहती।

सभी क्रियाएँ संगी चेतना की, नहीं रहा अब खुद गुनहगार

कोई व्यक्ति किसी को धौल लगा रहा हो तब आत्मा असंग ही है। यह तो, संगी चेतना से ऐसा लगता है कि खुद मार रहा है लेकिन वास्तव में तो खुद असंग ही है। चार्ज हुई बैटरी डिस्चार्ज होती है तब प्रकाश देकर जाती है, वैसा ही इस संगी चेतना का है। यह डिस्चार्ज हो रही है।

पाँच हज़ार रुपये खोने पर मुँह उतर जाता है। मुँह भले ही उतर जाए लेकिन यदि अंदर से न उतरे तो हम समझेंगे कि यह सही है। मुँह उतर जाए तो वह संगी चेतना है। वह (चेहरा) उतर जाए तो हम उसे नहीं देखते। हम तो देख लेते हैं कि अंदर कैसा है। लेकिन अंदर

कुछ भी नहीं हुआ होता। ये चावल *उतर* (खराब हो) जाते हैं, खिचड़ी *उतर* (खराब हो) जाती है, फिर क्या मुँह उतरे बगैर रहेगा? उतर नहीं जाएगा? लेकिन कुछ लोगों का नहीं भी उतरता, हाँ! यह ज्ञान के बल पर आधारित है। कुछ लोगों का नहीं उतरता और कुछ लोगों का उतर जाता है। तो वह कहीं उनका गुनाह नहीं है लेकिन अंदर से नहीं उतरा है। क्योंकि यह जो चेतना है न, यह संगी चेतना कहलाती है। लेकिन अब यह किसका संगी बनता है? असंगी का संगी। जो असंग है, उसका संगी है यह।

विषय है संगी चेतना, 'मैं' उससे अलग है ऐसा कहा है अक्रम में

क्रमिक मार्ग में तो ऐसा कहते हैं कि हम संसारी हैं, मोक्ष कैसे हो पाएगा? हमें तो समकित भी नहीं हो सकता। पत्नी है, बच्चे हैं, विषय है। वे तो कहते हैं, 'साहब, मैंने तो स्त्री से शादी की है। यह तो (विषय) मैंने भोगा है।' तब ये क्या कहते हैं? वह सारी संगी चेतना है, 'मैं' उससे अलग है। यानी जो भी हो रहा है तू उसे जान। सिर्फ अपना यह अक्रम विज्ञान ही ऐसा कर सकता है। बाकी कहीं और, अन्य मार्ग में ऐसा नहीं कर सकते। अतः वहाँ तो उसे छोड़ना ही पड़ता है। हमने छूट दी है। जितना डिस्चार्ज है उतना ही हो पाएगा, ज़्यादा कुछ नहीं हो सकेगा। उसने (चार्ज) बंद कर दिया। वर्ना स्त्री का संग हो और मोक्ष हो जाए, ये दोनों साथ में नहीं हो सकता। यह पूरा जगत् संग वाला है।

लोगों ने डर के मारे ऐसा कहा कि, 'विषय से ही बंधन है', लेकिन यह हमारा देखा हुआ आत्मा अलग ही तरह का है, असंग ही है। इसलिए तो हमने कहा है कि, 'मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग ही हूँ', ऐसा भान रहना चाहिए। 'हम' जो हैं उसका भान रहना चाहिए।

ज्ञान दृष्टि से विषय को भी माना नोकषाय

यह जो संगी क्रिया है इसमें वास्तव में आत्मा है ही कहाँ?

लोगों को यह समझ में नहीं आया। तो मैंने अपने इस विज्ञान में क्या खोज की है? मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं में मैं बिल्कुल असंग ही हूँ। यदि इस ज्ञान को हाज़िर रखे, यानी कि 'असंग ही हूँ', इस तरह इस ज्ञान को हाज़िर रखकर करे तो हर्ज नहीं है और वास्तव में असंग ही है। मैंने खुद देखकर बताया है।

जगत् ऐसा समझ नहीं सकता न, कि यह हर तरह से असंग है! कभी समझेगा भी नहीं। वर्ना क्या कोई ऐसी ज़िम्मेदारी ले सकता है? स्त्री (पत्नी) के साथ रहते हुए (मोक्ष की) ज़िम्मेदारी? कोई ज़िम्मेदारी तो नहीं ले सकता लेकिन ये परिणाम नहीं बदले जा सकते न! परिणाम बदल जाते हैं, यह देखा है न हमने?

प्रश्नकर्ता : हाँ, बदल जाते हैं।

दादाश्री : कितना बड़ा जोखिम है यह! विषय तो संयोग करते हैं, उसे देखते रहना है। अगर एक बार यह मन में से निकल जाएगा, भाव में से निकल जाएगा न, कि, 'यह मेरा स्वरूप नहीं है और मुझे ज़रूरत भी नहीं है, मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग ही हूँ', अगर आपको यह ज्ञान हाज़िर रहा तो संगी क्रियाएँ भी बाधक नहीं हो सकेंगी। यह एक्ज़ेक्ट है, यह विज्ञान है। यह तो आपको याद रहा न इसलिए, वर्ना क्या स्त्री के साथ (रहने वाले को) ऐसा ज्ञान दिया जा सकता है? स्त्री के साथ तो नौवाँ गुणस्थानक भी पार नहीं कर सकता। व्यवहार में तो आप भी नौवाँ गुणस्थानक पार नहीं कर सकते। जब तक स्त्री का परिग्रह बंद नहीं हो जाता, तब तक आपका व्यवहार नौवें से आगे नहीं बढ़ पाएगा। यों (निश्चय से) बारहवाँ रहता है। अंदर शांति रहती है, ठंडक रहती है। अब कर्म नहीं बंधेंगे।

अब, जगत् यह नहीं समझता और कहता है, 'विषय हो गया, हम से चिपक गया।' अज्ञान चिपकता है। अज्ञानी विषय नहीं करे फिर भी विषय से चिपक जाता है जबकि ज्ञानी (अपने ज्ञान प्राप्त किए हुए महात्मा) विषय करे फिर भी उन्हें नहीं चिपकता। ज्ञानियों के लिए

सब अलग ही तरह का है, यह *निर्जरा* का कारण है। अज्ञानी के लिए विषय बंधन का कारण है और ज्ञानी के लिए विषय *निर्जरा* का कारण बन जाता है। अत: उसका समावेश नोकषाय में करना होगा। नोकषाय अर्थात् नहीं जैसे कषाय, नहींवत्। क्योंकि उसे अनिच्छा से इसमें गिरना पड़ता है। जैसे गाड़ी से गिर जाते हैं, वैसे ही करना पड़ता है। गाड़ी से क्या कोई जान-बूझकर गिरता है? भय है न, उसे भी नोकषाय कहा गया है। क्योंकि भय लगता है और शरीर काँप जाता है। लेकिन वह भय संगी चेतना को है, आत्मा को भय नहीं है। उसी प्रकार से विषय भी संगी चेतना का है।

स्त्री संग में भी है आत्मा असंग, लेकिन हुआ शौक तो जोखिम

यह आत्मा मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से असंग ही है। संगी क्रियाओं का सिर्फ जानकार ही है। स्त्री का संग होने के बावजूद भी यह ज्ञान देते हैं। स्त्री वाले से ऐसा नहीं कहते कि आप स्त्री को निकाल दो। लेकिन आपको स्त्री के साथ सहवास कितना रखना है? बुखार आ जाए तो दवाई पी ली, वैसा ही रखना है। वर्ना स्त्री के साथ सहवास नहीं रखना है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन बुखार तो आए बगैर नहीं रहता न? शरीर है इसलिए आता है, आत्मा को नहीं आता।

दादाश्री : नहीं, इसका मतलब, मैं कुछ अलग कहना चाहता हूँ। अब इन सभी को मैं क्यों थोड़ा-थोड़ा रोकता हूँ इसमें, विषय में? स्त्री के साथ पुरुष का जो सहवास है, यदि ऐसा शौक के लिए करते हैं वैसे नहीं, लेकिन यदि ऐसा हो कि आपको वैसा बुखार आए और आपसे सहन नहीं हो पाए और स्त्री से भी सहन नहीं हो पाए, तब अगर आप दवाई की तरह ले लोगे तो आपको जोखिम नहीं है। लेकिन यदि आप शौक की खातिर लेते हो तो जोखिमदारी आपकी है। क्योंकि आत्मा खुद ब्रह्मचारी ही है। आप तय करो कि मुझे नहीं भोगना है तो मुक्त हो जाते हो।

एक क्षण के लिए भी संसार से संबंध रखने जैसा नहीं है, निरंतर यहाँ पड़े रहना पड़ता है, न चाहते हुए भी। क्या करें? मन में ऐसा ही लगना चाहिए कि यहाँ फँस गया हूँ।

विषयों में आत्मा असंग, लेकिन दुरुपयोग न हो इसलिए तीर्थंकर नहीं करते हैं स्पष्टता

मैंने आपको जो आत्मा दिया है वह असंग और निर्लेप है। कभी भी संग वाला नहीं हो जाता, कभी भी लेपायमान नहीं होता है। हमेशा निर्लेप ही रह सके ऐसा है, असंग ही रह सके ऐसा है। मन-वचन-काया के संग में असंग रह सके, ऐसा है। भरत राजा को तेरह सौ रानियों के बीच रहना था इसलिए ऋषभदेव भगवान ने उन्हें जो ज्ञान दिया था वही ज्ञान, 'अक्रम विज्ञान' मैंने आपको दिया है। यह पूरा विज्ञान ही है! यह तो साइन्टिफिक है!

हम यह जो आत्मा देते हैं, यह निर्लेप और असंग ही देते हैं। कोई पूछे, 'स्त्रियों के साथ रहते हुए आत्मा असंग कैसे रह सकता है?' तो कहते हैं कि, 'आत्मा विषय से जुदा है, सभी से जुदा है। आत्मा बिल्कुल सूक्ष्म है, और ये जो विषय हैं वे स्थूल स्वभाव वाले हैं। दोनों का कभी भी मेल नहीं खाया है।' ज्ञानी पुरुष यह जानते हैं लेकिन वे स्पष्टता नहीं करते। तीर्थंकर स्पष्टता नहीं करते। तीर्थंकर यदि स्पष्टता कर लें न, तो लोग दुरुपयोग करेंगे। हम जो स्पष्टता करते हैं वह गुप्त प्रकार से, इतने लोगों में ही, कुछ ही लोगों के लिए। वर्ना फिर उसका दुरुपयोग होगा। 'सूक्ष्म स्वभाव वाला है, अब कोई हर्ज नहीं है', फिर ऐसा भूत घुस जाएगा!

जैसे कि पुलिस वाला पकड़े और तीन दिन तक खाना नहीं दे, आप मांसाहार नहीं करते हों फिर भी कहे कि मांसाहार करो और फिर मांसाहार करना पड़े तो उसके लिए आपको गुनहगार नहीं माना जाएगा। क्योंकि आपको पुलिस वालों की वजह से करना पड़ा है। इसी तरह कर्मों के दबाव से यह क्रिया होती रहती है। यह क्रिया स्थूल है, आप सूक्ष्म हो। लेकिन यदि आपके मन में यह ज्ञान रहे कि

आत्मा को कुछ भी स्पर्श नहीं करता तो उल्टा कर देगा। अतः हम ऐसा नहीं बताते कि, 'आत्मा सूक्ष्म स्वभावी है।' ऐसा कहते हैं, 'विषयों से डरो।' विषय विष नहीं है लेकिन निडरता विष है। निडरता कि मुझे अब कोई हर्ज नहीं है, ऐसा तो संपूर्ण ज्ञानी होने के बाद ही, उसे अनुभव ज्ञान हो जाए उसके बाद! यह तो हम आपको स्पष्ट करने के लिए समझा रहे हैं।

आत्मा किसी चीज़ को स्पर्श करे, ऐसा है ही नहीं, अस्पर्श्य है। वह निर्लेप ही है, हमेशा के लिए असंग ही है लेकिन समझे बिना यह काम नहीं आएगा। इसे पूरी तरह से समझ लेना चाहिए।

शुद्धात्मा पद : असंग-निर्लेप-निःशंक

अब, आपका शुद्धात्मा पद कभी भी लेपायमान नहीं हो सकता, ऐसा है, और चंचलता उसे स्पर्श नहीं कर सकती। क्योंकि *लक्ष* आ गया है। निर्लेप व अचल आत्मा प्राप्त हो जाने के बाद ही *लक्ष* आता है, बाकी यों ही बोलने से कुछ नहीं होगा।

अपना यह साइन्स है न, इसीलिए हम ऐसा कहते हैं न, कि अब तू शुद्धात्मा है और संसार में है, इस पर शंका मत करना। क्योंकि मैंने तुझे जो शुद्धात्मा दिया है, वह कैसा है? जिसे वीतरागों ने देखा है, जाना है, अनुभव किया है, जो केवलज्ञान स्वरूप है, जिसका मैं अनुभव कर रहा हूँ, और वही मैंने तुम्हें दिया है। तुम्हें जो दिया है वह कैसा है? तो कहते हैं, मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से बिल्कुल असंग है, बिल्कुल निराला है, ऐसा आत्मा है।

मैं शुद्धात्मा अर्थात् शुद्ध ही। मुझे लेप लग ही नहीं सकता। संग लग ही नहीं सकता, ऐसा असंग। इसलिए शंका में मत रहना कि मुझे संग लग गया है। क्योंकि असंगी को संग कैसे लग सकता है? फिर भी शंका उत्पन्न हुई, तो भगवान क्या कहते हैं? तुझे शंका हुई, यही बताता है कि आत्मा हाज़िर है। इसलिए तू निःशंक ही है। इस प्रकार से अविरोधाभास, वीतरागी विज्ञान है।

मार खाते ही खुद चला जाता है शुद्धात्मा की गुफा में

प्रश्नकर्ता : हम देह के संग से असंग हो गए हैं, तो देह के कितने कर्म भुगतने पड़ेंगे?

दादाश्री : देह का संग तो तीर्थंकरों को भी रहता है। उन्हें भी (महावीर भगवान को) कान में कीलें ठोकी गई थीं, उन्हें भी वेदन करना पड़ा, वह भी हिसाब है। देह का आयुष्य कर्म है, वह पूरा करना होगा, उसके बाद मोक्ष में जा सकते हैं। देह में रहने के बावजूद भी असंग और निर्लेप रहा जा सके, ऐसा है वीतरागों का विज्ञान!

प्रश्नकर्ता : दादा, तो फिर जब तक अहंकार पर शरीर का असर होता है तब तक जितना अलग हो जाना चाहिए वह उतना अलग नहीं हुआ, यह एक थर्मामीटर (मापदंड) है न?

दादाश्री : अहंकार इसमें है ही कहाँ लेकिन? यह तो मृत अहंकार है। मृत अहंकार की मूँछे नहीं हिलतीं। हवा से मूँछे हिलें तो उसे जीवित नहीं कहा जाएगा, मृत अहंकार है।

प्रश्नकर्ता : मृत है लेकिन शरीर पर होने वाले असर का उसे अनुभव तो होता है न? आज मुझे कोई थप्पड़ लगाए तो मुझे अनुभव तो होगा न, कि मुझे किसी ने मारा।

दादाश्री : नहीं, उसे लगेगी ही कैसे?

प्रश्नकर्ता : जब शुद्धात्मा के तौर पर सोचूँ तब नहीं लगेगी, यह सही है, लेकिन जो लगती है वह किसे लगती है?

दादाश्री : चंदूभाई को तो लगेगी ही न! आप उस समय चंदूभाई हो जाओगे तो लगेगी, (शुद्धात्मा की) गुफा से बाहर निकलोगे तब! लोग मारेंगे, लेकिन जब मारें तब शुद्धात्मा हो जाओ। मार खाने से पहले आप चंदूभाई हो चुके हो लेकिन मार खाते समय आप शुद्धात्मा हो जाओ। उस समय गुफा में घुस जाओ। चंदूभाई से कहना, 'मार खानी पड़ी न अब।'

लालच जाते ही रह पाता है शुद्धात्मा की गुफा में

प्रश्नकर्ता : दादा, क्या ऐसी कोई अवस्था नहीं है कि वह हमेशा गुफा में रह पाए?

दादाश्री : है न, लेकिन अभी जब तक आपको ऐसे सब लालच हैं न, तब तक वैसी अवस्था कैसे आ पाएगी? ये लालच हैं। जिसे कोई भी लालच न हो वह गुफा में रह सकता है और लालची को कभी गुफा मिलती ही नहीं। लालच क्यों करना है? अंदर इतना ज़बरदस्त सुख है, अंदर बेहिसाब सुख है!

असंग के ज्ञान से नहीं वेदता, जानता है सर्व ज्ञेयों को

प्रश्नकर्ता : तो दादा, जो इस गुफा में स्थिर हो गया, उस पर शरीर की किसी भी स्थिति का किसी भी तरह से कोई असर ही नहीं होता?

दादाश्री : वह सभी स्थितियों को जानता ही रहता है। जानने का ही धर्म है उसका, और जितना असर हो जाए उतना वेदन करने का धर्म उसका खुद का नहीं है। अर्थात् इसी में, दही में और दूध में, दोनों जगहों पर पैर हो तब उसे वेदन करना कहा जाएगा। अगर सिर्फ दूध में पैर हो तब जानना कहा जाएगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, क्या शरीर में होने के बावजूद ऐसी स्थिति आ सकती है?

दादाश्री : हाँ! आती है, हमने यहाँ तक कहा है कि इतना सब देखने के, इतना सब जानने के बावजूद भी संग है ही नहीं उसे। संग अर्थात् ज्ञेय को जितना देखा, कि इसका असर हुआ है, इसका असर हुआ है लेकिन इस संग से हम असंग हैं। इतनी सारी संगी क्रियाएँ हैं, यह पूरी दुनिया चल रही है लेकिन इनमें भी 'मैं असंग हूँ', ऐसा कहा तभी से नहीं समझ गए आप? यह जोखिम वाला वाक्य वेदांत में भी नहीं है, किसी शास्त्र में नहीं है।

यह ज्ञान ऐसा है कि चाहे कैसे भी संयोग आएँ लेकिन कोई संयोग आप पर असर तो क्या लेकिन स्पर्श हुआ ऐसा भी नहीं लगेगा। सर्व समाधानकारी है यह ज्ञान।

असंग वृत्ति का अनुभव होता है सामायिक से

मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से मैं बिल्कुल असंग ही हूँ। अब संगी क्रियाओं से असंग रहने के लिए कितनी जागृति की ज़रूरत है?

प्रश्नकर्ता : ज़बरदस्त जागृति की ज़रूरत है।

दादाश्री : रोज़ तीन सामायिक करेगा तब वह संगी क्रिया में असंग वृत्ति का अनुभव करेगा, वर्ना संग हो ही जाएगा। अब अपने यहाँ कुछ लोग तो शायद एकाध करते होंगे लेकिन ज़्यादा नहीं करते न? इसीलिए हम कहते हैं कि सावधान हो जाओ! रोज़ तीन सामायिक तो करनी ही चाहिए। 'खुद अलग ही है', तीन घंटे तक तो ऐसा भान रहना ही चाहिए, तब असंग वृत्ति रह पाएगी। वर्ना फिर जॉइन्ट (इकट्ठा) हो जाएगा। सिर्फ, 'मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं शुद्धात्मा हूँ' करने से कुछ नहीं होगा। असंग वृत्ति नहीं होनी चाहिए क्या?

प्रश्नकर्ता : होनी चाहिए।

दादाश्री : मन-वचन-काया की तमाम संगी क्रियाओं से 'मैं' बिल्कुल असंग है। है ही असंग लेकिन भास्यमान परिणाम उसे पल्टी खिला देते हैं।

प्रश्नकर्ता : उसे अनुभव हो जाना चाहिए?

दादाश्री : अनुभव हो जाना चाहिए और निर्बलता चली जानी चाहिए। निर्बलता कब जाएगी? जब खुद कुछ सामायिक करने लगेगा तब जाएगी। अत: बात को यदि समझे तो बहुत बड़ी है। इतने से ही, अभी कुछ भी नहीं करता है उससे पहले ही इतना सब मिल गया है, तो फिर यदि करेगा तो कैसी दशा उत्पन्न होगी!

असंगता है आंशिक मुक्ति, वीतरागता है निरंतर मुक्ति

प्रश्नकर्ता : आपने जो बात की थी कि वीतरागता का फल मुक्ति है, तो इसका अर्थ ऐसा हुआ कि असंगता का फल भी मुक्ति है?

दादाश्री : असंगता तो एक मिनट के लिए रहे तो एक मिनट की मुक्ति। दो मिनट रहे तो दो मिनट की, वीतरागों को तो निरंतर मुक्ति।

प्रश्नकर्ता : तो वीतरागों को निरंतर मुक्ति रहती है जबकि औरों को तो जितने समय तक असंग रहते हैं उतने समय तक ही मुक्ति रहती है?

दादाश्री : हाँ, और संग की वजह से यह बंधन है। इन संयोगों के संग से बंधन है और संयोगों से असंग रहे, उसे कहते हैं 'मुक्ति'।

ज्ञानी का सम्यक् चारित्र, असंग-निर्लेप

प्रश्नकर्ता : सम्यक् दर्शन हो जाने के बाद में सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है?

दादाश्री : हाँ! दर्शन हो गया। दर्शन के बाद अनुभव होने लगते हैं। जैसी प्रतीति है वैसे। 'आत्मा में सुख है' तो आपको वैसे अनुभव होने लगते हैं। कभी इतने अंश, कभी इतने अंश लेकिन अनुभव होते-होते अनुभव की पोटली बड़ी होती जाती है।

प्रश्नकर्ता : अनुभव की पोटली?

दादाश्री : फिर तुझे अनुभव होता है न? उसमें वास्तव में सुख है ऐसा लगता है न? तो उतना उस पोटली में इकट्ठा किया। ऐसे करते-करते पोटली बड़ी होती जाएगी। पोटली पूरी भर जाएगी तो कहा जाएगा, 'सम्यक् ज्ञान पूर्ण हो गया!' सम्यक् ज्ञान के अंश इकट्ठे हो रहे हैं।

प्रश्नकर्ता : सम्यक् ज्ञान के अंश इकट्ठे हो रहे हैं?

दादाश्री : अनुभूति की पोटली और अनुभूति, ये दोनों हो जाने के बाद सम्यक् चारित्र शुरू हो जाता है। जो चारित्र निर्लेप है, असंग ही है, वह आत्मा का चारित्र है। सम्यक् चारित्र असंग होता है, निर्लेप होता है। उसमें सिर्फ हम ही रहते हैं। वह भी कुछ ही टाइम के लिए है, अधिक टाइम के लिए नहीं। लेकिन हमने देखा है यानी कि अनुभव किया है इसलिए हम आपको बता ज़रूर सकते हैं कि सम्यक् चारित्र क्या है! वीतराग जिस चारित्र में बरतते थे, यह हम आपको बता सकते हैं। समझा सकते हैं लेकिन आपको समझ में नहीं आएगा, क्योंकि उसके लिए शब्द नहीं हैं। हम जो कहना चाहते हैं, उसके लिए शब्द नहीं हैं। अतः शब्दों द्वारा जितना समझाया जा सकता है उतना समझाते हैं। बाकी, इस सम्यक् ज्ञान के लिए शब्द हैं, चारित्र के लिए शब्द नहीं हैं।

अंतिम स्टेशन, असंग और निर्लेप

'मैं शुद्धात्मा हूँ', यह सब से बड़ा पद मिला है आपको, लेकिन अब संपूर्ण निर्लेप और संपूर्ण असंग होना है। निर्लेपता और असंगता, ये दोनों अंतिम स्टेशन हैं।

❖❖❖❖❖

[7]
निर्लेप-अलिप्त

[7.1]
आत्मा सदा निर्लेप ही

प्रकाश स्वरूप आत्मा है निर्लेप व असंग शरीर से

प्रश्नकर्ता : आत्मा निरंतर है, निर्लेप है तो फिर उसे इस शरीर के साथ क्यों रहना पड़ता है?

दादाश्री : हाँ, है ही न निरंतर। आपका आत्मा निर्लेप ही है। सभी का आत्मा, जीवमात्र का आत्मा निर्लेप ही है। और यह जो शरीर बना है, यह वैज्ञानिक असर है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर शरीर और आत्मा का क्या संबंध रहा?

दादाश्री : शरीर का और आत्मा का कोई संबंध ही नहीं है। इस शरीर में आत्मा बिल्कुल अलग ही है। जिस प्रकार पानी में तेल डालने पर वह अलग ही रहता है उसी प्रकार से निर्लेप है। आप साधारण तौर पर देखो न, (आपके) हाथ पर प्रकाश आने दो, तो वह प्रकाश निर्लेप रहता है या लेपायमान हो जाता है? दीये का प्रकाश हाथ पर निर्लेप रहता है या लेपायमान हो जाता है?

प्रश्नकर्ता : निर्लेप, लेपायमान नहीं होता।

दादाश्री : उसी प्रकार से है यह सब। आत्मा प्रकाश स्वरूप ही है, कुछ और है ही नहीं। आत्मा में मिक्स्चरपन है ही नहीं। आत्मा स्वतंत्र और स्वाभाविक वस्तु है।

प्रश्नकर्ता : किस प्रकाश की वजह से आत्मा (देह के) साथ ही रहता है लेकिन उसे वह स्पर्श नहीं करता?

दादाश्री : निर्लेपता नामक गुण की वजह से। निर्लेपता और असंगता, इन दोनों गुणों की वजह से उसे कुछ भी स्पर्श नहीं होता। दो बड़े गुण हैं, निर्लेपता और असंगता। असंगता अर्थात् छूकर बैठे फिर भी संग नहीं और निर्लेपता अर्थात् चाहे कितना भी सुंदर और रमणीय दिखाई दे फिर भी एकाकार नहीं। दो गुण हैं उसके खुद के।

ज्ञानी के विज्ञान से रह सकते हैं जलकमलवत् संसार में

प्रश्नकर्ता : संसार में रहकर, संसार के फर्ज निभाते-निभाते भी निर्लेपता से, असंगता से कैसे रहा जा सकता है?

दादाश्री : वही, (ज्ञान) ज्ञानी पुरुष के पास है न! ज्ञानी पुरुष के पास ऐसा विज्ञान है कि उस विज्ञान से यह हो सकता है। फिर उससे संसार का भी हो सकता है और आत्मा का भी हो सकता है।

मैं आपसे बातचीत कर सकता हूँ, तब संसार में भी रह सकता हूँ और मैं अपने खुद में भी रह सकता हूँ, दोनों ही कर सकता हूँ। इस संसार की सारी क्रियाएँ करता हूँ, सबकुछ करता हूँ, यह भी करता हूँ और वह भी करता हूँ, संसार में भी रह पाता हूँ और (आत्मा में भी) रह पाता हूँ। ज्ञानी पुरुष के पास पूरा विज्ञान होता है। शास्त्रों में नहीं है वह। शास्त्रों के अनुसार तो, 'छोड़ना ही पड़ेगा।'

ऐसे लोगों के साथ रहना और दिन बिताना, और कर्म बंधन न हो इस तरह से रहना, ऐसा किस प्रकार से रहा जाए? वह सारी विद्या मैं सिखा दूँगा। लेपायमान नहीं होगा, संगी नहीं बनेगा, ऐसी विद्या बता दूँगा। वर्ना यह जगत् तो लेपायमान ही है। जिस प्रकार कमल पानी में

रहते हुए भी निर्लेप रहता है न, उसी प्रकार की निर्लेपता बता दूँगा आपको।

आत्मा कहाँ से जानना होता है? 'ज्ञानी पुरुष' से। इन शास्त्र ज्ञानियों के पास आत्मा नहीं है। यदि आत्मा प्राप्त हो गया होता तो उन्हें समकित हो चुका होता और समकित अर्थात् इस संसार में रहते हुए भी संसार स्पर्श न करे।

ज्ञानी कृपा से बदलता है दर्शन, होती है प्रतीति

प्रश्नकर्ता : यदि ज्ञानी मिल जाएँ तो क्या सामान्य व्यक्ति भी आसानी से अलिप्त रह सकता है?

दादाश्री : ज्ञानी पुरुष की कृपा से यह सब हो सकता है। कृपा प्राप्त करनी चाहिए और कृपापात्र हो जाए, फिर संसार में अच्छी तरह से आपके बेटे-बेटियों की शादी करवाओ लेकिन आप लेपायमान नहीं होंगे, ऐसा है यह विज्ञान। यह कोई धर्म नहीं है, यह तो विज्ञान है।

'ज्ञानी पुरुष' क्या करते हैं? निरंतर समाधि रहे, ऐसा निर्लेप ज्ञान दे देते हैं। वह ज्ञान अर्थात् प्रतीति ही हो जाती है। पहले प्रतीति होने के बाद ही *लक्ष* रहता है, वर्ना *लक्ष* नहीं रहता। प्रतीति मुख्य कारण है। अत: भगवान ने कहा है कि सम्यक् दर्शन मुख्य कारण है। फिर चारित्र का क्या? तो कहते हैं, सम्यक् दर्शन चारित्र ले आएगा। तू स्वयं सम्यक् दर्शन प्राप्त कर ले। सम्यक् दर्शन चारित्र को बुला लाएगा। क्रमिक मार्ग क्या कहता है? पहले ज्ञान, दर्शन और उसके बाद चारित्र। हम क्या कहते हैं? दर्शन, ज्ञान और चारित्र।

ज्ञानविधि में ये शब्द बोलने से ही होता जाता है निर्लेप

शुद्धात्मा को तो सिर्फ ज्ञानी पुरुष ने ही देखा है कि शुद्धात्मा क्या है। बाकी, यह दर्शन अर्थात् प्रतीति हो जाने के बाद आगे का भाग यानी *लक्ष* हो जाए तो फिर जाता नहीं है। फिर वह श्रद्धा टूटती नहीं है। फिर आगे जैसे-जैसे अनुभव होता जाता है, जब उसका

अनुभव नॉर्मल अनुभव से कुछ आगे बढ़ता है तब उसे खुद को यह दिखाई देता है कि खुद का स्वरूप कैसा है। वह अबंध स्वरूप है, कभी भी बंधा नहीं है।

मैं जो ज्ञानविधि करवाता हूँ न, पहले तो उससे दर्शन बदलता है। वह क्या है? सारा विभाजन होता है। उस समय कर्म (पाप) भस्मीभूत हो जाते हैं और जो अंदर भ्रांतिरस से चिपका हुआ है वह अलग हो जाता है। आप हमारे वे शब्द बोलते हो यानी जो इसमें आते हैं न, वे शब्द, 'तमाम लेपायमान भावों से मैं सर्वथा निर्लेप हूँ।'

प्रश्नकर्ता : हाँ, भावों से मैं सर्वथा निर्लेप हूँ।

दादाश्री : इसलिए फिर वह खुद (निर्लेप) होता जाता है। अंदर जितना बोलता है वैसा होता जाता है। बाद में घर जाकर गाएगा (बोलेगा) तो कुछ भी नहीं होगा। यहाँ विधि करने के बाद में हो सकेगा, वर्ना यों ही ऐसा बोलेगा न, तो कुछ भी नहीं होगा। यहाँ पर यह (हमारी उपस्थिति) है न!

प्रश्नकर्ता : दादा, लेकिन जब वाक्य निकलते हैं तब आश्चर्य होता है कि यह कहाँ से निकला?

दादाश्री : वह, जो हमने देखा है, जाना है और अनुभव में है वह केवलज्ञान स्वरूप आत्मा है। इसीलिए ये वाक्य निकलते हैं। तमाम लेपायमान भावों से सर्वथा निर्लेप ही हूँ।

प्रश्नकर्ता : यह विज्ञान है, आपने बताया न!

दादाश्री : हाँ, विज्ञान अर्थात् इसके एक अंश से लेकर सर्वांश तक का हिसाब मिलना चाहिए। अगर बीच में से काट लेंगे तो वह भाग नहीं चलेगा। सिद्धांत अधूरा नहीं हो सकता, सिद्धांत पूरा ही होता है।

देहाध्यास में रुचि ज़रा सी भी कम नहीं हुई होती, इसके बावजूद जब मैं प्रतीति करवा देता हूँ उसके बाद रुचि तुरंत कम हो ही जाती है।

भ्रांति से भासित होता है तन्मयाकार, यदि उसे जाना तो अलग

प्रश्नकर्ता : दादा, ज्ञान लेने के बाद में जो संयोग आते हैं उन संयोगों में तन्मयाकार तो हो ही जाते हैं, निर्लेप नहीं रह पाते।

दादाश्री : तन्मयाकार हो जाता है वह तू नहीं है, शुद्धात्मा नहीं है। शुद्धात्मा तन्मयाकार हो ही नहीं सकता। वह भी तू नहीं है, तेरी भ्रामक मान्यता है। उस मान्यता के कारण तन्मयाकार हो जाता है। उसे जान कि तन्मयाकार किस तरह से, कितना हुआ है। यह एकदम तन्मयाकार हो गया है या थोड़ा-थोड़ा कच्चा-पक्का है या अभी संपूर्ण एडजस्ट हो गया है, ऐसा सब जान, कहते हैं। जानते ही तू छूट जाएगा।

कुछ संयोग कराल होते हैं और कुछ विकराल। प्रत्येक संयोग निर्लेप बनाने ही आता है। जैसे-जैसे बाहर के उन संयोगों का असर होना बंद होता जाता है वैसे-वैसे निर्लेप होते जाते हैं। सत्संग का परिचय बढ़ता जाएगा तो खुद अपने पद में ही रह पाएगा, पराई डाक को स्वीकार नहीं करेगा। जिसकी डाक होगी वह स्वीकार करेगा।

निर्लेप व्यवहार से प्रकट होता है आनंद

'ज्ञानी पुरुष' का व्यवहार निर्लेप होता है। उनके पास जाने से अपना हल आ जाता है। वे दिखाते हैं कि यह 'करेक्ट' है और यह 'इनकरेक्ट' है।

'निर्लेप व्यवहार' क्या है? कोई अच्छी चीज़ देखी तो उसे देखकर आनंदित होना लेकिन वहाँ पर चिपककर नहीं रहना, आगे चल पड़ना। फिर बबूल भी अच्छा लगेगा और गुलाब भी अच्छा लगेगा। लेकिन जगत् वहाँ पर चिपक जाता है। चिपक पड़ता है, वही दु:ख है!

कुदरत के घर में तो निश्चय में दु:ख नहीं है और व्यवहार में भी दु:ख नहीं है। पूरे जगत् को यह समझ में नहीं आने की वजह से व्यवहार दु:खदायी हो गया है। उसे व्यवहार नहीं आता। व्यवहार निर्लेप होना चाहिए। निर्लेप व्यवहार के बाद में आनंद की सीमा नहीं रहती!

ज्ञानी करते हैं ड्रामा; बाहर रहते हैं घुलमिल कर और अंदर निर्लेप

प्रश्नकर्ता : ज्ञानी पुरुष का व्यवहार निर्लेप होता है, इस बारे में समझाइए।

दादाश्री : ज्ञानी पुरुष में चेतन परिणाम और अनात्मा परिणाम, ये दोनों धाराएँ अलग-अलग बहती हैं। उनके लिए कोई चीज़ नुकसानदायक नहीं है, क्योंकि निर्लेप भाव उत्पन्न हो चुका है, असंग भाव उत्पन्न हो चुका है। एक क्षण के लिए भी संग नहीं होते। एक क्षण के लिए भी लेपायमान नहीं होते। कुछ भी करें फिर भी लेपायमान नहीं होते, उन्हें कहते हैं ज्ञानी। बाकी सब अज्ञानी।

सचमुच के ज्ञानी तो पूरा नाटक करते हैं। संसारी भी ऐसा नाटक नहीं कर सकते, इतना सुंदर नाटक करते हैं लेकिन नाटक, ड्रामा! सचमुच के ज्ञानी किस तरह से नाटक करते हैं?

प्रश्नकर्ता : निर्लेप रहकर पूरा ड्रामा करते रहते हैं।

दादाश्री : हाँ, निर्लेप रहकर।

प्रश्नकर्ता : दादा, निर्लेप अर्थात् ज्ञाता-द्रष्टा रहकर सब देखते रहते हैं आप?

दादाश्री : नहीं, ज्ञाता-द्रष्टा भी नहीं। उस तरह तो वह सामने वाले को खटकेगा। मैं आप सब के साथ घुलमिल कर रहता हूँ और अंदर निर्लेप रहता हूँ। इससे बोझ नहीं बढ़ता। अंदर निर्लेप रहकर और सब के साथ हँसना-वसना हर तरह से, आपको ऐसा ही लगता है कि ये मेरे साथ (अच्छा) ही व्यवहार कर रहे हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, यह तो समझ में आए ऐसा नहीं है। आप तदाकार हो जाते हैं लेकिन तन्मयाकार नहीं होते!

दादाश्री : तन्मयाकार नहीं, अर्थात् अलग, निर्लेप। तदाकार और

तन्मयाकार दोनों चीज़ें अलग हैं, लेकिन यह सब तो निर्लेप भाव से है। वर्ना अगर मैं ध्यान नहीं दूँगा तो आपको असंतोष रहेगा। असंतोष रहेगा तो उसे मेरी भूल माना जाएगा। ज़िम्मेदारी है न!

प्रश्नकर्ता : जो कुदरती दखल हैं वे वैसे ही रहेंगे लेकिन जो दूसरे मनोवैज्ञानिक दखल हो जाते हैं... तो क्या ज्ञानी की भी दुनिया अलग होती है?

दादाश्री : नहीं, लेकिन वे उसमें रहते ही नहीं हैं न! असर ही नहीं होता न फिर। यही दुनिया है लेकिन उन पर असर नहीं होता जबकि अज्ञानी पर तो असर होता रहता है सब का। वह लेपायमान होता रहता है और ज्ञानी निर्लेप ही रहते हैं।

'ज्ञानी' असर से मुक्त, रहते हैं सदा अलिप्त

आत्मा इन्इफेक्टिव है लेकिन इफेक्टिव हो जाने पर भी खुद इन्इफेक्टिव रहें, वे हैं ज्ञानी। लेकिन इन्इफेक्टिव को इफेक्ट नहीं हो, वे संपूर्ण ज्ञानी। मुझे सांसारिक भाव आता ही नहीं है लेकिन कभी उस भाव को लाने के लिए मुझे प्रयत्न करना पड़ता है। औरों में तो आसानी से संसार आ खड़ा होता है। विषय (संसार की भौतिक चीज़ें) ज्ञानियों पर आ पड़ते हैं, वे विषय ढूँढते नहीं हैं। उन पर विषय (सामने से) आ पड़ते हैं, सहज भाव से विषय आते हैं। प्रयत्न करना पड़े तो वह संपूर्ण ज्ञानी की निशानी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : यह जो अलिप्तता है, ऐसे जो अलग दिखाई देते हैं, यह अलिप्तता दर्शन तक की है या चारित्र की स्थिरता तक की है?

दादाश्री : चारित्र की स्थिरता तक की। ज्ञानी पुरुष जिस स्थान पर बैठे हैं, वह निर्भय स्थान है। जो पुरुष संसार में रहने के बावजूद भी संसार से अलिप्त हैं, वे अर्धसंसारी हैं। बाकी के सभी संसारी। सिर्फ सिद्धगति ही असंसारी है।

❖❖❖❖❖

[7.2]
लेपायमान भाव

निर्लेप को लेपित कर दें वे सारे लेपायमान भाव

ज्ञान मिलने के बाद हम क्या कहते हैं कि मन-वचन-काया के तमाम लेपायमान भावों में मैं सर्वथा निर्लेप ही हूँ।

प्रश्नकर्ता : दादा, ये लेपायमान भाव क्या हैं?

दादाश्री : लेपायमान भाव अर्थात् मन में जितने विचार आते हैं, चित्त भटकता रहता है, बुद्धि दखल देती है, ये सब जो हैं ये उठापटक हैं। मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार के जो भाव आपको आते हैं वे। तरंगे-वरंगे वगैरह जो आती हैं वे सब लेपायमान भाव हैं। वे निर्जीव भाव हैं, बिल्कुल भी सजीव नहीं हैं।

मन के भाव आते हैं वे, वाणी के भाव आते हैं वे, काया के भाव आते हैं वे सभी लेपायमान भाव हैं। वे हमें लेपित कर देते हैं, निर्लेप को लेपित कर दें, ऐसे हैं। लेपायमान कर दें ऐसे हैं, लेकिन ज्ञानी ने निर्लेप बना दिया है इसलिए लेपायमान होते ही नहीं हैं।

'जो भाव लेप चढ़ाते हैं, मन-वचन-काया के उन तमाम लेपायमान भावों से मैं निर्लेप ही हूँ।' तो वे लेपायमान भाव हमें असर नहीं डालेंगे। वे पल भर में ऐसा कहते हैं और पल भर में वैसा कहते हैं। लेपायमान भाव ऐसा सब उत्पन्न करते हैं। वे सभी ज्ञेय हैं और आप ज्ञाता हो। आप ज्ञाता-द्रष्टा हो। इतने अलग हैं दोनों, बल्कि आप एकाकार हो जाओगे तो वह बिगड़ जाएगा।

शुद्धात्मा लेपायमान नहीं होता, विचारों व कषायों से

प्रश्नकर्ता : मैं बहुत समय से यहाँ सत्संग में आता हूँ लेकिन मन आत्मा में ठीक से स्थिर नहीं रहता, मेरा मन अन्य विचारों में बहुत भटकता है।

दादाश्री : विचार तो अभी आने ही चाहिए, अधिक आने चाहिए। ताकि अंदर से खाली हो जाए। अंदर जो भरे हुए हैं वे निकल जाने चाहिए न? विचारों से आपको क्या परेशानी है?

प्रश्नकर्ता : ऐसा नहीं है लेकिन उस समय उनमें लेपायमान हो जाते हैं। लेपायमान हो जाएँ तब क्या करना चाहिए?

दादाश्री : आपको नहीं होना हो फिर भी कौन करवा देता है? उन्हें देखना है, विचारों को। आत्मा प्राप्त हुआ है उसकी निशानी क्या है? तो कहते हैं, यह देखते हैं कि क्या विचार आ रहे हैं। खराब विचार, अच्छे विचार, उन सब को देखे तो उसे आत्मा प्राप्त होना कहा जाएगा। अब मन स्थिर न रहे या कूदे, तब भी देखते रहना है। अब मन से तेरा कोई संबंध नहीं रहा। तू ज्ञाता-द्रष्टा हो गया है और मन ज्ञेय हो गया है। मन अलग है और तू अलग। अब मन चाहे कितना भी उछल-कूद करे, तुझे क्या? तुझे देखते रहना है। इस तरह से देखना नहीं आता?

प्रश्नकर्ता : अभी वैसा देखने की शक्ति उत्पन्न नहीं हुई है।

दादाश्री : नहीं, लेकिन इस अनुसार करोगे तभी हो पाएगा ऐसा सब। वे विचार तो... जो माल भरा हुआ है वह निकले बगैर रहेगा नहीं।

प्रश्नकर्ता : प्रयत्न करता हूँ।

दादाश्री : प्रयत्न नहीं करने हैं। इसे तो समझ लेना ज़रूरी है। इसके लिए प्रयत्न करने वाला कौन है? चंदूभाई प्रयत्न करेगा। आप चंदूभाई नहीं हो, आप तो शुद्धात्मा हो, आपको प्रयत्न नहीं करने हैं न!

पहले पूरण हुए भाव, आज गलन होने पर सौंप देने हैं दादा को

अक्रम ज्ञान क्या कहता है? कि वे (जो संयोग आते हैं वे)

आपके ज्ञान को मज़बूत करने आते हैं। नापसंद मेहमान आ जाए तब लगता है कि, 'यह कहाँ आ गया!' ऐसे जो भाव हो जाते हैं वे लेपायमान भाव हैं। पूरा ही जगत् लेपायमान भावों में रहता है। आपको वैसे भाव आते हैं लेकिन आप उन्हें तुरंत ही पहचान जाते हो।

अब लेपायमान भाव तो तरह-तरह के आते हैं। लेपायमान भावों के लिए पूछता है कि, 'दादा, मुझे ऐसे विचार क्यों आते हैं?' अरे भाई, वह तो लेपायमान भाव है, तेरा भाव नहीं है वह। ये लेपायमान अर्थात् जो *पूरण* हो चुके थे वे भाव हैं।

लेपायमान भाव आते हैं, वे आते तो हैं लेकिन आपको स्पर्श नहीं करते। मुझे लेपायमान भाव नहीं आते, आपको आते हैं इतना ही फर्क है। आपको लेपायमान भाव बहुत परेशान कर रहे हों तो मेरा नाम ले लेना। कहना कि, 'दादा को बता दूँगा', तो वे चले जाएँगे।

प्रश्नकर्ता : बस दादा, हम तो आप पर डाल देंगे।

दादाश्री : बस, बस, बस। वह चिट्ठी हमारे नाम पर लिख देना। हम संभाल लेंगे! नहीं तो क्या? दादा पर डाल देना सब। डाल दो ना सारे ही, जितना डाल सको उतना डालो। लेकिन आपको जिस गाँव जाना है वहाँ पहुँचो। वह मत चूकना। कुछ उल्टा-सीधा बोल दोगे तो हम समझ जाएँगे कि इसने दस साल पहले भरा था, आज इस बेचारे को क्या? ज्ञान होने से पहले भरा था और अभी *गलन* हो रहा है। यह मरोड़ आज का *गलन* है।

लेपायमान भावों में ज्ञाता-द्रष्टा रहने से उपजें संयम परिणाम

प्रश्नकर्ता : दादा, हमें शरीर में वेदना हो रही हो तब सामायिक करने का मन नहीं होता, चरणविधि करने का मन नहीं होता तब क्या करें?

दादाश्री : न हो सके तो हर्ज नहीं है। वेदना होने पर उसे देखते रहोगे तो उसमें सब आ गया। चरणविधि, सामायिक सबकुछ आ गया।

प्रश्नकर्ता : दादा, फिर स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है।

दादाश्री : किसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है? चिड़चिड़ा हो जाए उसे भी हमें देखते रहना है। 'देखो चिड़चड़ा हो गया न', कहना।

प्रश्नकर्ता : कोई कुछ बोले तो सहन नहीं होता।

दादाश्री : किसे सहन नहीं होता लेकिन? सहन नहीं होता, उसे देखना है हमें। क्या बोल रहा है?

प्रश्नकर्ता : मैं क्या कहना चाहता हूँ दादा, कि अंदर जब जल रहा होता है तब ऐसा लगता है कि फायदा होने के बजाय ऐसा सब दिखाई दे रहा है। ऐसे सारे परिणाम आते हैं तो इसका मतलब कोई भूल हो रही है न?

दादाश्री : यही भूल हो रही है। ऐसा करके वापस वैसे का वैसा ही बन जाता है। अंदर सहन नहीं होता और फलाना नहीं होता और चैन नहीं पड़ता लेकिन क्या परेशानी है, आत्मा को चैन की ज़रूरत ही नहीं है। सहन भी आत्मा को नहीं करना होता। शुद्धात्मा शुद्ध ही है। उसमें ऐसा कुछ है ही नहीं। वह इन सब का ज्ञाता-द्रष्टा है। यह सब जो हो रहा है उसका ज्ञाता-द्रष्टा है। ये सब तो लेपायमान भाव कहलाते हैं। इन्हें सिर्फ देखना और जानना ही है। देखा और जाना तो वह संयम परिणाम है, इसके बाद संयम चारित्र आता है।

लेपायमान भावों में तप होने से रह पाते हैं ज्ञाता-द्रष्टा

प्रश्नकर्ता : आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, तो जब बाहर के भाव आते हैं, अंदर के, मन के सारे भाव आते हैं, उस समय आत्मा किस प्रकार से ज्ञाता-द्रष्टा रहता है? उस समय उसकी ज्ञाता-द्रष्टा वाली अवस्था कैसी होती है?

दादाश्री : ज्ञाता-द्रष्टा अर्थात् अभी हम किसी टैक्सी में जाने की तैयारी करें और रास्ते में किसी जगह पर एक्सिडेन्ट हो गया हो तब अपने मन में भाव उत्पन्न हो कि, 'आगे एक्सिडेन्ट हो जाएगा तो?' उसे हमें देखते रहना है। ऐसे जो भाव उत्पन्न होते हैं न, उन्हें देखते रहना है।

प्रश्नकर्ता : खुद के अंदर उठे भावों को वह खुद के ज्ञान में देखता है?

दादाश्री : ज्ञान में देखते रहना है। फिर उन भावों से आप हिल नहीं जाओगे। यदि आप ज्ञाता-द्रष्टा रहोगे तो तुरंत ही दूसरा भाव उत्पन्न होगा, 'फिर वहाँ पर जाकर कौन से होटल में खाना खाएँगे?' अरे, अभी तो एक्सिडेन्ट की बात कर रहा था, और अब फिर होटल की बात कर रहा है? यह तो मन डिस्चार्ज हो रहा है, आप इससे क्यों घबराते हो? मन के भाव डिस्चार्ज हो रहे हों, तो आपके पास उनसे घबराने का कोई कारण ही नहीं है। यों तो, पल भर में साठ साल की उम्र में शादी करने का भाव भी आता है। तो क्या इससे उसे कुछ हो गया? इन्हें देखते रहना है।

प्रश्नकर्ता : दादा, जो लेपायमान भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें हमें सहन करना ही पड़ेगा न?

दादाश्री : कोई और चारा ही नहीं है न! इसमें तो तप करने के अलावा और कोई चारा ही नहीं है। हम आज तक तप कर रहे हैं। हम दिन भर तप ही करते हैं। कोई चारा ही नहीं है, तप ही करना पड़ेगा न!

लेपायमान भाव जड़ के भाव हैं, लेपित करते हैं पूरे जगत् को

ये लेपायमान भाव प्राकृतिक भाव हैं। ये स्वभाव भाव नहीं हैं। लेपायमान भाव जड़ के भाव हैं। ये भले ही शोर मचाएँ, इससे हमें क्या? लेपायमान भावों ने ही लेपित कर दिया है न इन लोगों को! लेपायमान भावों से ही यह पूरा जगत् रंगा हुआ है न।

पूरा ही जगत् इन भावों में फँसा हुआ है। इन लेपायमान भावों में एकाकार हो जाता है, फँस जाता है। वह ऐसा समझता है कि ये भाव मुझे आ रहे हैं। लेपायमान भावों को खुद के मानता है। ये सारे लेपायमान भाव लेप चढ़ाते हैं। जगत् को ये भाव लेपित करते हैं। यह जगत् किस प्रकार से चलता है? लेपायमान भावों से चलता है।

पूरा जगत् लेपायमान भावों में ही है। कहते हैं, 'ये विचार मुझे आ रहे हैं।' लेपायमान भावों के लिए कहता है 'मुझे ही आ रहे हैं, और किसे आ रहे हैं?' वे विज्ञान की इस बात को जानते ही नहीं। इसलिए हमने यह खुलासा किया कि ये तमाम लेपायमान भाव *पुद्गल* भाव हैं, और फिर कहते भी हैं कि, 'भाई, ये प्राकृतिक भाव हैं, जड़ भाव हैं, ये चेतन भाव नहीं हैं।' इन *पुद्गल* के भावों को चेतन भाव मानते हैं। इसलिए कहते हैं न, जड़ और चैतन्य दोनों के स्वभाव भिन्न हैं।

लेपायमान की राशि अलग है, फिर भी चिपक जाती है पूरे जगत् से

प्रश्नकर्ता : खुद सिर्फ इतना ही देख ले न, 'मैं शुद्ध हूँ', ये विचार जड़ भाव हैं, मैं इनसे अलग हूँ।

दादाश्री : हाँ, उनसे कहना, 'आपकी राशि अलग, मेरी राशि अलग। आपका और मेरा क्या लेना-देना, (आप) यहाँ क्यों आए हो?' वे जड़ हैं और हम चेतन हैं। उनसे हमें लेना भी क्या है? अपनी जाति का हो तब तो फिर भी हमें ज़रा सुनना पड़ेगा। इसीलिए हम कहते हैं न, मन-वचन-काया के तमाम लेपायमान भावों से मैं सर्वथा निर्लेप ही हूँ। क्योंकि वे *पुद्गल* भाव हैं, वे चेतन भाव नहीं हैं। और हम चेतन भाव हैं। दोनों का कोई मेल ही नहीं है न!

ये मेरी सास हैं, ये मेरे मामा हैं, ये फूफा हैं, फायदा हुआ, नुकसान उठाया, आज ऐसा करना है, वैसा करना है और फलाना करना है, ये सभी लेपायमान भाव, ये *पुद्गल* के भाव हैं। इन्हें खुद ऐसा मानता है कि, 'मुझ पर लेप चढ़ गया है, चिपक गए हैं।' चिपक जाए ऐसे हैं, जगत् पूरे पर चिपक गए हैं लेकिन आपको ज्ञान मिल गया है इसलिए आपसे नहीं चिपकेंगे।

लेपायमान होने वाले को जाने, वह द्रष्टा खुद ही है

प्रश्नकर्ता : दादा, आप कहते हैं कि इस ज्ञान प्राप्ति के बाद हम निर्लेप हो गए हैं लेकिन हमें तो अभी भी उस तरह से निर्लेप

हुए दिखाई नहीं देते। हमें ऐसा दिखाई देता है कि लेपायमान हो गए हैं। फिर वापस अलग हो गए, फिर लेपायमान हो गए, हमें ऐसा जो भान होता है, वह क्यों होता है? ऐसा वह भाव...

दादाश्री : आप खुद लेपायमान हो जाते हो, क्या ऐसा भान होता है?

प्रश्नकर्ता : हाँ, किसी चीज़ में वापस तन्मयाकार, पूरे लेपायमान हो जाते हैं, ऐसा ही होता है।

दादाश्री : वह भान आत्मभान नहीं है। आत्मभान तो, जो कभी भी लेपायमान नहीं होता उसे कहते हैं आत्मभान। अत: आपको कहना है कि यह जगह अपनी नहीं है। अपनी जगह ऐसी वीरान नहीं है, अपनी तो जायजेन्टिक प्लेस (विशाल जगह) है। हम इस वीरान जगह में कैसे हो सकते हैं? यह होटल अपना नहीं है, ऐसा पता नहीं चलेगा? किस जाति के हैं, उस हिसाब से अपने होटल का पता नहीं चलेगा? सुगंध पर से समझ जाएँगे कि यहाँ कहीं बिरयानी मिलती है। तब हम उस होटल के बारे में समझ जाते हैं। इस प्रकार से तन्मयाकार हो जाए, वह भाव अपना नहीं है। यानी कैसे तन्मयाकार होता है, वह देखते रहना है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन हम जब तन्मयाकार हो जाते हैं उतने समय तक हमें शुद्धात्मा पद का भान नहीं रहता न? उतने समय तक तन्मयाकार या लेपायमान हो जाते हैं।

दादाश्री : क्यों नहीं रहता? क्योंकि मैं तन्मयाकार हो गया, इसलिए वह भान खो जाता है। कोई व्यक्ति यों ही ऐसा कहे, शराब नहीं पी हो फिर भी कहे, 'हाँ, मैंने तो आज शराब पी है', तो उतने समय के लिए चढ़ जाती है। इसलिए उसके शराबी जैसे लक्षण दिखते हैं, नहीं पी हो फिर भी।

प्रश्नकर्ता : प्रश्न यह नहीं है, लेकिन कई बार ऐसे लेपायमान हो जाते हैं न, कि पूरी तरह से शराबी जैसे ही दिखाई देते हैं, प्रश्न तो यह है न? तो हम खुद को किस प्रकार से निर्लेप कह सकते हैं?

दादाश्री : हमें समझ जाना है कि यह होटल अपना नहीं है। तब यह पता चलेगा अपना होटल कौन सा है। दादा ने जो बताया है उस होटल में आपको... 'मैं निर्लेप हूँ, शुद्ध ही हूँ। मुझे ऐसा कैसे हो सकता है?' मुझे यह दिखाई देता है कि दृश्य और द्रष्टा एक नहीं हो सकते। तन्मयाकार हो गए, वह दृश्य है। दृश्य खुद नहीं समझ सकता कि, 'मैं नहीं, यह तन्मयाकार हुआ है।' ऐसा तो द्रष्टा ही जान सकता है। जाना किसने? तो कहते हैं, द्रष्टा ने। फिर भी खुद को पता नहीं चलता, यह कैसा आश्चर्य है!

'मेरे नहीं हैं' कहते ही भागते हैं लेपायमान भाव

मन-वचन-काया के लेपायमान भाव हैं न, वे उछल-कूद मचा देते हैं। 'यह मेरा नहीं है', ऐसा कहते ही वे बंद हो जाते हैं। वे लेपायमान भाव हैं। वे न आएँ, ऐसा कोई नियम नहीं है। वे तो आ भी सकते हैं। वे तो जीते जी यह भी दिखाते हैं कि 'श्मशान में सुला दिया, ऊपर लकड़ियाँ रख दीं', ऐसा भी देखता है खुद। ऐसी यह दुनिया है। लेकिन चाहे ऐसा कुछ भी नाटक करे फिर भी, 'मेरा नहीं है', ऐसा कहते ही चला जाएगा। श्मशान भी मेरा नहीं है, जिसे जला रहे हो यह भी मेरा नहीं है। क्योंकि मेरा और आपका, अपना और पराया दोनों अलग कर दिया है। अतः आपका जो है वह आपका है और जो आपका नहीं है वह आपका नहीं है, उसे अलग कर दिया है। हम और वह अलग हैं, उन विचारों पर ध्यान ही नहीं देना है। 'यह मेरा स्वरूप है ही नहीं' कहा, तो अलग हो जाएँगे। इसलिए आपको ऐसा कहना है। कहते ही तुरंत चले जाएँगे, भाग जाएँगे।

'मैं चंदू' तो भाव लेपित करते हैं, यदि 'मैं शुद्धात्मा' तो रहता है निर्लेप

प्रश्नकर्ता : दादा, एक उदाहरण दीजिए, लेपायमान भावों से निर्लेप का।

दादाश्री : रत्नागिरि के महँगे हाफुस आम लाकर खाएँ, तब

क्या कहेंगे? 'बहुत अच्छे आम थे ये तो! हें!' ऐसे करते, करते, अज्ञानता से अंदर जो बीज डलते जाते हैं वे लेपायमान भाव हैं। अब, वह बहुत अच्छा आम था, ऐसा जो सारा वर्णन करता है न, वे सारे भाव कैसे थे? लेपायमान। लेकिन अगर खुद को ऐसा है, 'मैं चंदूलाल हूँ', तब उसे लेपित ही करते रहते हैं और अगर 'मैं शुद्धात्मा हूँ', तो उसे लेपायमान नहीं करते। वही, भाव तो वही हैं।

प्रश्नकर्ता : तो इसमें क्या हुआ है कि अज्ञानता में उसे फिर से इच्छा होती है कि ऐसे आम फिर से मिलें तो अच्छा।

दादाश्री : हाँ, फिर से इच्छा हुई कि बंधा।

प्रश्नकर्ता : हाँ, समझ गया। यानी कि रस उत्पन्न हुआ और रस रहा।

दादाश्री : और हमने क्या कहा कि अच्छे से खाओ, रस भोगो लेकिन वह खुद अलग ही है। वह तो भोगता भी नहीं है पूरा-पूरा, और ऐसे (कर्म) बांध लेता है। अतः 'मन-वचन-काया के तमाम लेपायमान भावों से मैं सर्वथा निर्लेप ही हूँ।'

जो भाव पूरे जगत् को लेपायमान कर देते हैं, अब आपको ऐसा समझ में आ गया है कि वे लेपायमान भाव मेरे भाव नहीं हैं। इसलिए आप कहते हो कि मुझे इनसे लेना-देना नहीं है। इसलिए ये भाव आपके लिए नुकसानदायक नहीं हैं। लेकिन संसारी व्यक्ति तो ऐसा ही समझता है कि, 'ये भाव मुझे ही आ रहे हैं और मेरे ही हैं', इसलिए वह लेपायमान हो जाता है। उसे खुद को बाँधते हैं वे भाव। (वह खुद) निर्लेप नहीं रह सकता।

ये मन-वचन-काया के भाव अर्थात् क्या, कि अहंकार, बुद्धि सब के मिलने से ये भाव उत्पन्न हुए हैं। ये सब ऐसे हैं कि लेपित करते हैं, लेपायमान भाव हैं। यानी कि ये आवरण लाते हैं। मन में विचार आते हैं, उसे मन में लेपायमान होना कहते हैं। वाणी बोलता है, वे वाणी के लेपायमान भाव कहलाते हैं और वर्तन करता है, किसी

को धौल लगाई, तो उसे देह के लेपायमान भाव कहते हैं। 'ये सभी प्राकृत भाव हैं, जड़ भाव हैं और ये मेरे भाव नहीं हैं। मेरे तो चेतन भाव हैं।'

प्रश्नकर्ता : चेतन भाव क्या होते हैं?

दादाश्री : चेतन भाव कैसे होते हैं? चंदू धौल लगाए, तो चेतन भाव क्या कहेगा? 'ऐसा करने की ज़रूरत नहीं है। ऐसा नहीं होना चाहिए', यानी कि किसी को दुःख न हो, वह चेतन भाव। दूसरा, हम चंदू के भावों को देखते हैं। चंदू के भाव लेपायमान भाव कहलाते हैं और तू शुद्धात्मा है। तब यदि तू उन्हें देखता है तो वह चेतन भाव है, शुद्ध चेतन भाव। चेतन भाव अर्थात् जानना और देखना, ज्ञाता-द्रष्टा।

'उपकारी हैं' बोलने से बंद हो जाते हैं लेपायमान भाव

प्रश्नकर्ता : दादाजी, बहुत खराब वाणी निकल जाती है।

दादाश्री : अब, मन-वचन-काया के तमाम लेपायमान भाव चेतन भाव नहीं हैं। ये सब प्राकृतिक भाव, जड़ भाव हैं। तो यदि आपकी वाणी निकल गई कि, 'ये लोग नालायक हैं', तो ऐसे जड़ भाव उत्पन्न हो जाएँगे कि, 'बहुत ही खराब है। ऐसा है और वैसा है।' यानी कि वे पुष्टि देते हैं। बोलने में ऐसा बोल दिया, तीर लग गया लेकिन जब वे भाव उत्पन्न हों तब हमें क्या बोलना पड़ेगा? 'उपकारी हैं सब।' अगर आप कहोगे कि, 'वे तो अपने उपकारी हैं', तो फिर *पुद्गल* भाव बंद हो जाएँगे। जैसी आपकी वाणी होगी न, वैसे ही सारे *पुद्गल* भाव। यानी कि मन-वचन-काया के ये तमाम लेपायमान भाव ऐसे हैं कि लेपित नहीं होना हो फिर भी लेपायमान कर देते हैं। इसीलिए कहा है न, 'लेपायमान भावों से सर्वथा निर्लेप ही हूँ।' लेकिन उन लेपायमान भावों को पहचान लेना चाहिए।

अगर आप कहो कि, 'इससे तो नुकसान हो सकता है', तो लेपायमान भाव तुरंत ही तरह-तरह से शोर मचाएँगे, 'ऐसा हो जाएगा और ऐसा हो जाएगा और ऐसा हो जाएगा।' 'अरे भाई, आप बाहर

बैठो न अभी। मैंने तो कहने को कह दिया लेकिन आपने क्यों भौंकना शुरू कर दिया?' अर्थात् फिर हमें कहना है कि, 'नहीं-नहीं, लाभदायी हैं।' तो फिर वे शांत हो जाएँगे।

प्रश्नकर्ता : 'उपकारी हैं', ऐसा बोलने से बहुत फायदा होगा?

दादाश्री : हाँ! उससे ऐसे सारे भाव उत्पन्न होने बंद हो जाएँगे अंदर।

प्रश्नकर्ता : द्वंद्व नहीं होगा?

दादाश्री : नहीं, वे भी बोलने लगेंगे कि उपकारी हैं। आप अभी तक गालियाँ देते थे और अब उपकारी कह रहे हो?

प्रश्नकर्ता : शक्ति आ जाती है न? 'उपकारी हैं', ऐसा कहने से शक्ति आ जाती है वापस।

दादाश्री : हाँ! और यदि सामने वाला व्यक्ति उपकारी न हो न, फिर भी उसे 'उपकारी' कहना चाहिए। हम 'उपकारी' कहेंगे न, तो अंदर *पुद्‌गल* भाव, जो लेपायमान भाव हैं वे उत्पन्न होने बंद हो जाएँगे और अगर हम कहेंगे 'खराब है', तो लेपायमान भाव ज़ोरदार तरीके से शुरू हो जाएँगे। एक ऐसा बोलेगा और एक वैसा बोलेगा, वे लेपायमान भाव हैं।

अभिप्राय बंद होने पर मंद होंगे लेपायमान भावों के प्रतिस्पंदन

अब, कभी ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति की ज़रा सी खराब बातें करने से पहले क्या अन्य भाव उत्पन्न हो जाते हैं अंदर?

प्रश्नकर्ता : दादा फिर से कहिए, यह समझ में नहीं आया।

दादाश्री : आपने आज किसी को 'नालायक' कहा और कल फिर आप समभाव से *निकाल* करने जाते हो तब भी क्या अंदर अन्य भाव बोलते रहते हैं?

प्रश्नकर्ता : बोलते हैं, बोलते हैं।

दादाश्री : क्या-क्या बोलते हैं वे?

प्रश्नकर्ता : वह तो है ही ऐसा लेकिन अब जाने दो न भाई।

दादाश्री : हाँ! नालायक है, बदमाश है, ऐसा है, वैसा है, ऐसा सब बोलता रहता है अंदर। ऐसा होता है या नहीं होता?

प्रश्नकर्ता : ऐसा ही होता है।

दादाश्री : कौन बोलता है ऐसा?

प्रश्नकर्ता : यह नहीं पता!

दादाश्री : ये सारे प्रतिस्पंदन हैं और ये निर्जीव हैं। इसलिए आपको नहीं सुनना है लेकिन वे ऐसे नहीं हैं कि यों ही चले जाएँ। वे शोर मचाते ही रहेंगे। वे तरह-तरह के लेपायमान भाव बार-बार उत्पन्न होते ही रहेंगे अंदर। यह भी अपने अभिप्रायों की वजह से है। यदि अभिप्राय नहीं रहेंगे तो कुछ भी नहीं है। जिनके अभिप्राय चले गए उन्हें कुछ भी नहीं है। अभी पिछले अभिप्राय हैं न अपने, अब यदि इच्छा नहीं हो फिर भी पिछले अभिप्राय तो नहीं जाएँगे न! अत: अभिप्राय मत देना किसी के लिए, अगर देते हो तो समभाव से *निकाल* कर देना। अब बोलते समय आप ऐसा क्या उपाय करोगे कि वे शांत हो जाएँ? तो कहते हैं, आपको ऐसा बोलना है कि वे तो उपकारी हैं मेरे। तो शांत हो जाएँगे, वर्ना शांत नहीं होंगे। आपको उलझा देंगे वे।

तो आप ऐसा बोलोगे न, तब वे सभी बंद हो जाएँगे। यह तो नई तरह का है, उपकारी कह रहे हैं, तो फिर वे शांत हो जाएँगे। यह दुनिया ऐसी ही है। भीतर बेमतलब का! यानी भीतर ऐसा कुछ भी नहीं। इसी से यह पूरा तूफान चल रहा है। इन मन-वचन-काया के भावों से ही, लेपायमान भावों से ही चल रहा है यह जगत्।

प्रश्नकर्ता : आपने बहुत ही बड़ा हथियार दे दिया यह तो!

दादाश्री : हाँ, यह जो भी है इसे आप समझ जाना, घबराना नहीं! वे भले ही आएँ। कहना, 'तुझे जितना आना हो, उतना आ'।

लेपायमान भाव लेपित करें, और ऐसे में जो निर्लेप रखे वह है उपयोग

प्रश्नकर्ता : ये जो ज्ञान वाक्य हैं न जैसे, 'लेपायमान भावों से निर्लेप हूँ', समय आने पर जब इनका उपयोग करें तब उसे उपयोग ही माना जाएगा न?

दादाश्री : उपयोग ही। पर-उपयोग में जाने से रोकते हैं ये वाक्य। वर्ना उसे ऐसा लगेगा कि, 'मैं लेपायमान हो गया। मुझे स्पर्श किया, मैं अशुद्ध हो गया', ऐसा कहेगा।

प्रश्नकर्ता : हमने किसी के लिए कोई अभिप्राय बनाया हो और वह व्यक्ति सामने आ जाए तो अंदर सारे लेपायमान भाव उत्पन्न हो जाते हैं, तो वे जो लेपायमान भाव हैं वही सब कचरा है न?

दादाश्री : वर्ना और क्या? वे लेपित कर देते हैं। जो लेपित कर दें वे लेपायमान भाव और जो निर्लेप रखे वह उपयोग। ऐसा तो दो-तीन मिनट रहता है। हम बैठे हैं वैसा उपयोग हमेशा नहीं रहता न!

प्रश्नकर्ता : अर्थात् कोई भी चीज़ जो मूल उपयोग में नहीं रहने दे वह सारा ही कचरा है?

दादाश्री : हाँ! जो उपयोग में नहीं रहने दे, वह कचरा। रहने देता है, यानी कचरा खत्म हो गया है। हमें तो साफ भी नहीं करना है, हमें तो 'देखना है'! जो भी आए उसे अगर 'मेरा स्वरूप नहीं है' कहा तो छूट गए। दुःख आए, सुख आए, क्रोध आए, कुछ भी आए फिर भी, जो भी आए वह 'मेरा स्वरूप नहीं है', ऐसी जागृति रहनी चाहिए।

प्रकृति को देखने वाला लेपित, उसे भी देखने वाला निर्लेप आत्मा

प्रश्नकर्ता : आपने यह जो कहा कि प्रकृति को देखना है तो

वह कौन सा भाग देखता है प्रकृति को? जो प्रकृति के गुण व दोष देखता है वह देखने वाला कौन है?

दादाश्री : वही प्रकृति है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति का कौन सा भाग देखता है?

दादाश्री : वह अहंकार वाला, बुद्धि वाला भाग।

प्रश्नकर्ता : तो फिर इसमें मूल आत्मा का क्या काम है?

दादाश्री : मूल आत्मा को लेना-देना नहीं है न!

प्रश्नकर्ता : मूल आत्मा का देखना व जानना किस प्रकार का होता है?

दादाश्री : (वह तो) निर्लेप है, यह तो लेपित है।

प्रश्नकर्ता : यानी जो अच्छा-बुरा देखता है वह लेपित भाग है?

दादाश्री : वह सारा लेपित भाग है। इसीलिए लगातार निर्दोषता नहीं दिखाई देती, और निर्लेप भाग अर्थात् लगातार निर्दोषता।

प्रश्नकर्ता : इस बुद्धि ने प्रकृति का अच्छा-बुरा देखा, जो यह देखता-जानता है, वही वह खुद है?

दादाश्री : प्रकृति का दोष देखता है, वह प्रकृति ही हो गई। आत्मा नहीं है वहाँ पर। आत्मस्थ को किसी का दोष नहीं दिखाई देता।

❖❖❖❖❖

[7.3]
अस्पर्श्य

साथ में रहने के बावजूद अस्पर्श्य-टंकोत्कीर्ण

आत्मा कैसा है? अस्पर्श्य। प्रकाश को हिलाते रहने से उसका कुछ बिगड़ जाएगा? आत्मा भी वैसा ही अस्पर्श्य है। और वह अस्पर्श्य आत्मा ही जानने जैसा है, अस्पर्श अर्थात् कोई भी चीज़ उसे स्पर्श नहीं करती? तो कहते हैं, नहीं, कोई भी चीज़ स्पर्श नहीं करती।

हम गाड़ी लेकर आ रहे हों और बांद्रा की खाड़ी आए तो खाड़ी के आसपास निरा कीचड़, पानी और गंदगी वगैरह होते हैं। तो गाड़ी की लाइट में से प्रकाश वहाँ पर जाता है, तब वह प्रकाश यों कीचड़ को छूता है, गंदगी को छूता है, हवा को छूता है फिर भी वह प्रकाश दुर्धंग नहीं देता। प्रकाश पर असर नहीं होता किसी का। यह तो रूपक का उदाहरण बता रहा हूँ। मूल वस्तु तो उससे भी अलग है। मूल प्रकाश तो और ही प्रकार का है! यदि इस प्रकाश को कुछ स्पर्श नहीं करता तो उस प्रकाश को क्या स्पर्श करेगा? और उस प्रकाश को मैंने देखा है, परम ज्योति स्वरूप!

प्रश्नकर्ता : कोई चीज़ गंदगी में पड़ी हुई हो लेकिन वह गंदगी उसे स्पर्श नहीं करे तो उसे कहते हैं टंकोत्कीर्ण?

दादाश्री : गंदगी का असर नहीं होता लेकिन गंदगी का स्पर्श तो होता है उसे, लेकिन इसे तो स्पर्श भी नहीं होता। साथ में रहने

के बावजूद भी स्पर्श नहीं होता, अस्पर्श्य है। तब फिर वह आत्मा कैसा होगा! टंकोत्कीर्ण!

प्रश्नकर्ता : इसका अर्थ जल-कमल-वत् माना जा सकता है?

दादाश्री : नहीं, जलकमलवत् भी नहीं। वे सब तो प्रभाव डालते हैं एक-दूसरे पर। यह तो प्रभाव भी नहीं डालता।

सर्व अवस्थाओं में आत्मा अस्पर्श्य

आत्मा-अनात्मा का अस्पर्श्य स्वभाव है लेकिन अनादि से भ्रांति है। मान्यता में ही भूल है कि, 'यह मैं हूँ', वह रोंग बिलीफ है। अर्थात् अवस्थाएँ बदलती ही रहती हैं लेकिन किसी भी अवस्था में मेरा ज्ञान मैला नहीं होता। बारात में, शादी में, घर में, मार्केट में, बाहर सभी जगह अस्पर्श्य स्वभाव है।

आत्मा अस्पर्श्य स्वभाव वाला है। आत्मा राग भी नहीं करता फिर भी वह अहंकार करता है कि, 'मैंने राग किया।' लोग जैसा मानते हैं यदि आत्मा वैसा भोग रहा होता तो एक ही बार भोगने पर वह *पुद्गल* बन जाता। आत्मा कभी विषय भोगता ही नहीं है। विषय से अलग है, सभी से अलग ही है आत्मा। आत्मा किसी चीज़ का स्पर्श करे, ऐसा है ही नहीं। अस्पर्श्य है, निर्लेप ही है, वह असंग ही है, हमेशा के लिए, लेकिन यह समझ में आए बिना काम नहीं आएगा। इसे पूरी तरह से समझ लेना चाहिए।

आपको यह जो आज्ञा दी है, उसका आराधन करते-करते वही फल आकर रहेगा। शुद्धात्मा तो हो गए लेकिन अब शुद्धात्मा के बाद जो आराधना दी है उसका फल आएगा, अस्पर्श्य और निरालंबी आत्मा।

हम क्या कहते हैं, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', मैं सर्व पापों से निर्लेप ऐसा शुद्धात्मा हूँ। मैं संपूर्ण निष्पापी ऐसा शुद्धात्मा हूँ।

पाप-पुण्य ने मुझे कभी भी स्पर्श नहीं किया है और मान्यताओं को लेकर मैं अशुद्ध था, तो अब मैं शुद्धात्मा हूँ। मैं पापी था भी नहीं,

मैं ऐसा हूँ कि पाप मुझसे कभी लिपटा भी नहीं। जिस प्रकार कोई किसी शहर को *लक्ष* में रखता है कि, 'मुझे अहमदाबाद जाना है' और फिर वह पूरे हिन्दुस्तान में घूमे तब भी, उसके ध्यान में यह तो रहता ही है कि, 'मुझे जाना तो अहमदाबाद है।' उसी प्रकार से 'मैं शुद्धात्मा' उसके ध्यान में ही रहता है। और विज्ञान प्राप्त हुआ है। निरंतर 'शुद्धात्मा हूँ', ऐसा भान है आपको। किसी को गाली देते हो फिर भी आप क्या हो? तो कहेगा, 'मैं शुद्धात्मा हूँ।' और जिसे गाली देते हो वह भी शुद्धात्मा है, ऐसा आपको *लक्ष* में है, ध्यान में है। जो गालियाँ दे रहा है, वह व्यवहार कर रहा है, व्यवहार का छेदन कर रहा है।

आत्मज्ञान द्वारा विमुख होता है संपूर्ण पाप कर्म से

प्रश्नकर्ता : दादा, एक और प्रश्न है कि हर मनुष्य किसी न किसी प्रकार से पाप में तो पड़ा हुआ है ही। ज्ञान लेने पर क्या ज्ञान लेने वाला व्यक्ति धीरे-धीर पाप से विमुख हो जाता है?

दादाश्री : धीरे-धीरे नहीं, संपूर्ण रूप से पाप से विमुख हो जाता है क्योंकि पाप करने वाला और खुद, दोनों अलग हो जाते हैं। और फिर खुद में नई शक्ति नहीं बढ़ती, जो पाप करने वाला था वह दिन ब दिन डिज़ॉल्व होता जाता है। क्योंकि अहंकार जो था वह खत्म हो गया और खुद अलग हो गया। इसीलिए वह डिज़ॉल्व होता रहता है। यानी ज्ञान, ज्ञान में मिल जाता है और जड़, जड़ में मिल जाता है। चेतन, चेतन में मिल जाता है और जड़, जड़ में मिल जाता है, दोनों अलग ही हो जाते हैं।

मन-वचन-काया का मालिकीपन जाने पर हो जाता है पूर्ण निष्पापी

प्रश्नकर्ता : वनस्पति को तोड़ना पाप नहीं है?

दादाश्री : यह पाप तो, यह जगत् ही निरा पापमय है। जब इस देह का मालिक नहीं रहेगा तभी निष्पापी बनेगा, वर्ना जब तक इस देह का मालिक है तब तक पाप ही हैं सारे।

श्वास लेते हैं तब कितने ही जीव मर जाते हैं और छोड़ते समय भी कितने ही जीव मर जाते हैं! हम जब यों ही चलते हैं न, तब कितने ही जीवों को अपना धक्का लगता रहता है, जो दिखाई नहीं देते ऐसे जीवों को।

निरा पाप ही है सब, लेकिन जब ऐसा भान होगा कि, 'मैं यह शरीर नहीं हूँ', शरीर का मालिकीपन नहीं रहेगा, तब (खुद) पाप में से निष्पाप हो जाएगा। तो मैं बीस साल से इस शरीर का मालिक नहीं हूँ, इस मन का मालिक नहीं, इस वाणी का मालिक नहीं हूँ। मालिकी भाव के दस्तावेज ही फाड़ दिए हैं। इसलिए इनके प्रति जवाबदेही ही नहीं है न! यानी कि जहाँ पर मालिकी भाव है वहीं पर गुनाह लागू होता है। जहाँ पर मालिकी भाव नहीं है वहाँ पर गुनाह नहीं है। हम तो संपूर्ण अहिंसक कहलाते हैं। क्योंकि आत्मा में ही रहते हैं, होम डिपार्टमेन्ट में ही रहते हैं और फॉरेन में हाथ ही नहीं डालते। इसलिए इस पूरे हिंसा के सागर में संपूर्ण अहिंसक हैं।

ज्ञानी रहते हैं सदा अस्पर्श्य और फ्रैश

मैं केवल अस्पर्श्य स्वभावी हूँ। हम अस्पर्श्य में ही रहते हैं, इसलिए फिर झंझट ही नहीं। अपना ज्ञान लिया हो लेकिन जो स्पर्श में रहता है चाहे जितने भी अंशों तक, तब दोनों को थकान लगती है, शरीर को भी थकान लगती है और आत्मा को भी थकान लगती है। और जो अस्पर्श्य (है उसे) खुद को थकान नहीं लगती और शरीर को भी थकान नहीं लगती। अपने-अपने स्वभाव में ही रहते हैं न!

प्रश्नकर्ता : खुद के स्वभाव में रहे तो विशेष भाव उत्पन्न नहीं होता न वहाँ?

दादाश्री : इसीलिए मैं कहता हूँ कि, 'अरे भाई, दादा रोज़ आते हैं और रोज़ मिलते हैं लेकिन बोरियत नहीं होती, बासी नहीं लगते?' तो कहते हैं, 'नहीं, बासी नहीं, ये तो फ्रैश लगते हैं।' 'फ्रैश लगते हैं, हाँ! बासी नहीं लगते', कहते हैं। बासी लगेंगे तभी बोरियत होगी न आपको।

अस्पर्श्य स्वभाव से बरतते हैं स्व-स्वभाव में

प्रश्नकर्ता : 'स्वभाव की खामी से मोक्ष रुक जाता है', ऐसा जो आपने कहा था, उस बारे में और अधिक समझाइए।

दादाश्री : एक बार आत्मस्वभाव समझ लेने के बाद फिर यदि उसमें खामी आए तो मोक्ष रुक जाता है। मठिया (गुजराती व्यजंन) से बिल्कुल न्यारा रहता है आत्मस्वभाव।

प्रश्नकर्ता : उसे कहाँ किसी से कोई लेना-देना है?

दादाश्री : नहीं, बहुत तीखे बने हों तब भी वीतराग भाव रहता है और फीके बने हों तब भी वीतराग भाव रहता है, ऐसा है आत्मस्वभाव। स्वभाव नहीं पहचानने के कारण पूरा जगत् भटक गया है। वह तो उसका स्वभाव है। वह ऐसा समझता है कि अंदर उसी को मठिए का रंग लग जाता है। जितने रंग लगे हैं न, वे सब मन को लगे हैं। वह समझता है कि आत्मा को रंग लग गया। अरे भाई, आत्मा को रंग स्पर्श ही नहीं करता। उसे कोई भी चीज़ स्पर्श नहीं कर सकती, उसे अस्पर्श्य कहते हैं। आपको उसका स्वभाव पसंद आया? कोई चीज़ स्पर्श नहीं करती।

प्रश्नकर्ता : ठीक है दादाजी, बिल्कुल ठीक है।

दादाश्री : कितना अच्छा स्वभाव है!

प्रश्नकर्ता : हाँ, निराला है न! हमेशा, निरंतर निराला!

दादाश्री : निराला। मार खाने के बावजूद भी खुद आनंद में ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : मार खाना माल जैसा लगता है।

दादाश्री : हाँ, 'हमें' वहाँ से निकाल दिया फिर भी आनंद हुआ। आत्मा जानता है कि निकालने वाला कौन और किसे निकाल दिया? अंदर आत्मा यह जानता है। आत्मा वही का वही है। फिर

अगर स्वभाव की खामी को लेकर अपने सिर ले ले कि, 'इसने मेरा अपमान किया', तो फिर आ बनी। किस कारण से सिर पर ले लेता है? स्वभाव में खामी!

प्रश्नकर्ता : स्वभाव में खामी, उस स्वभाव को नहीं जानने के कारण है न, दादाजी?

दादाश्री : अत: उसे स्वभाव की खामी ही कहा जाएगा।

प्रश्नकर्ता : वह आत्मा को गैरहाज़िर कर देता है?

दादाश्री : हाँ, उसका जानपना खो जाए, ऐसा कर देता है।

❖❖❖❖❖

[8]
स्वभाव-स्वपरिणति-स्वपरिणाम

[8.1]
स्वभाव : परभाव

आत्मभाव है स्वभाव : पुद्गलभाव है परभाव

प्रश्नकर्ता : परभाव क्या होता है? स्वभाव किसे कहते हैं ज्ञानी की भाषा में?

दादाश्री : परभाव अर्थात् आत्मभाव नहीं। आत्मा के अलावा बाकी सभी 'पर' के भाव हैं, यानी कि संसारीभावों को परभाव कहते हैं।

और स्वभाव भाव का अर्थ क्या है? आत्मभावना। स्वभाव भाव अर्थात् किसी भी चीज़ का खुद कर्ता नहीं है। स्वभाव भाव में अन्य कोई भाव ही नहीं है। उसमें तो ज्ञाता-द्रष्टा और परमानंद ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : परभाव *पुद्गल* के हैं?

दादाश्री : हाँ, परभाव *पुद्गल* के हैं। परभाव अर्थात् बंधन करवाने वाले और स्वभाव अर्थात् छुड़वाने वाले। जो कुछ भी होता है वह *पुद्गल* का स्वभाव है और देखने-जानने का स्वभाव आत्मा का है।

प्रश्नकर्ता : स्वभाव भाव, क्या वह ध्रुव भाव है?

दादाश्री : स्वभाव भाव ध्रुव भाव है, सनातन भाव है।

ज्ञानी खुद स्वभाव में रहकर परभाव को जानते हैं

प्रश्नकर्ता : स्वभाव-परभाव के बारे में और अधिक समझाएँगे?

दादाश्री : 'मैं शुद्धात्मा हूँ', यह स्वभाव कहलाता है। 'मैं चंदूभाई हूँ' और 'यह मेरा है', वह सब परभाव। 'मैं चंदू हूँ और यह भाव करता हूँ, पैसे कमाने का भाव करता हूँ', वह परभाव कहलाता है। जब, 'मैं चंदू नहीं हूँ और मैं शुद्धात्मा हूँ' है तब पैसे कमाने का जो भाव है उसे परभाव नहीं माना जाता। वह डिस्चार्ज है। और उसे हमें देखते रहना है कि चंदू क्या कर रहा है।

प्रश्नकर्ता : ऐसा क्यों, दादा?

दादाश्री : आत्मज्ञानी परभाव में कैसे आ सकता है? आत्मज्ञानी हो गया तो खुद स्वभाव में ही रहता है। उसमें परभाव उत्पन्न तो होते हैं लेकिन उन परभावों को जानता है।

आत्मा नहीं कर सकता परभाव, रहता है स्वभाव का ही कर्ता

प्रश्नकर्ता : यानी शुद्धात्मा का *लक्ष* मिलने के बाद में ऐसे भावों को परभाव नहीं माना जाता?

दादाश्री : हाँ, क्योंकि यह आत्मा परभाव कर ही नहीं सकता। आत्मा स्वभाव का ही कर्ता है। कभी भी परभाव का कर्ता नहीं है। परभाव का कर्ता कौन है? तो कहते हैं, अज्ञान। 'मैं चंदू हूँ', वह परभाव का कर्ता है; 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वह स्वभाव का कर्ता है। आत्मा कभी भी परभाव का कर्ता हुआ ही नहीं है, होगा भी नहीं, और होने भी नहीं वाला। आत्मा खुद के धर्म से बाहर गया ही नहीं है। कोई भी वस्तु खुद के धर्म से बाहर नहीं है। कोई भी वस्तु खुद के धर्म के आउट साइड (बाहर) रह ही नहीं सकती। अपने निजधर्म में रहती है। आत्मा खुद के निजधर्म में ही है।

ये परभाव तो बिगिनिंग ऑफ कॉज़ेज़ हैं। ये भावकर्म 'मुझे' हो रहे हैं, यही बंधन है, यही परभाव है। परभाव को स्वभाव मानता है,

वही बंधन है। परभाव क्यों? परसत्ता के अधीन है। शास्त्रों में क्या लिखा है कि (आत्मा) स्वभाव से अकर्ता है। यह विभाव से, विशेष भाव से कर्ता है और इसलिए भोक्ता है।

ज्ञान के बाद राग-द्वेष भी हैं डिस्चार्ज

प्रश्नकर्ता : राग-द्वेष को भाव कहते हैं, यह ठीक नहीं है?

दादाश्री : इस ज्ञान के बाद राग-द्वेष भी डिस्चार्ज चीज़ें हैं। आपको करना अच्छा नहीं लगे तब भी करना पड़ता है, वह इसलिए कि पहले का राग था। सभी डिस्चार्ज होती हुई चीज़ें हैं।

खराब विचार आ रहे हों लेकिन आपको अच्छे नहीं लगें तो उससे आपको कर्म नहीं बंधेंगे। अंदर विचार आ रहे हों और आप ऐसा कहो कि ऐसा ही करने योग्य है, तो कर्म बंधन होगा।

बाकी, मन भी डिस्चार्ज होता रहता है, वाणी भी डिस्चार्ज होती रहती है और यह बॉडी (काया) भी डिस्चार्ज होती रहती है। तीनों बैटरियाँ डिस्चार्ज होती ही रहती हैं।

द्रव्य डिस्चार्ज होती हुई चीज़ है और भाव अंदर उत्पन्न होती हुई चीज़ है। उस समय उसमें अपना अभिप्राय रहता है, भाव में।

आज्ञा पालन से नहीं रहता परभाव

प्रश्नकर्ता : व्यवहार में यदि अतिक्रमण हो जाए तो आपने तुरंत प्रतिक्रमण करने की सलाह दी है। लेकिन यदि निजस्वभाव में से परभाव या परद्रव्य में खिंच जाएँ या उसी में तन्मयाकार हो जाएँ तब क्या करना चाहिए? परभाव या परद्रव्य में तन्मयाकार होने पर उसे शुद्धात्मा का अतिक्रमण होना कहा जाएगा? कृपा करके समझाइए।

दादाश्री : जो हमारी आज्ञा का पालन करता है वह परभाव में जा ही नहीं सकता, जाना हो तब भी नहीं जा पाएगा। परद्रव्य में खिंचेगा ही नहीं।

यदि आज्ञा पालन करते हो तो परभाव और परद्रव्य से मत घबराना। यदि वैसा भय रहा होता न तो इसे मार्ग कहते ही नहीं... कि 'मैंने आपको मोक्ष दिया है।' यानी वैसा भय नहीं है इसलिए आप में से किसी को भी डर नहीं रखना है।

इसलिए कोई भी घबराना मत। उसमें तन्मयाकार हो जाते हो तब भी वह परभाव में या परद्रव्य में नहीं आता। यदि आज्ञा पालन करते हो तो यह नहीं, और यह है तो आज्ञा पालन नहीं की जा सकती। इतना अधिक वैज्ञानिक है यह सब तो। पूरे विज्ञान को पूर्ण कर ले तो एक ही व्यक्ति पूरे ब्रह्मांड को वह (आश्चर्यचकित) कर देगा।

प्रश्नकर्ता : ऐसा विचार आए तो मेरी जागृति कम और आज्ञा का पालन कम हो जाता है, ऐसा अर्थ हुआ?

दादाश्री : नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। यह तो इस समझ का खुलासा नहीं हुआ है न, इसलिए ऐसा होता है। इस समझ का एक बार खुलासा हो गया तो फिर से ऐसा नहीं होगा।

प्रश्नकर्ता : परभाव में चले जाने की वजह से आज्ञा में नहीं रह पाता, ऐसा कह सकते हैं?

दादाश्री : अब परभाव में जाता ही नहीं है। परभाव अलग चीज़ है। कुछ और ही जाता है, वह परभाव नहीं है।

(अब) कर्मों की *निर्जरा* होती ही रहेगी। इसमें कुछ परेशानी जैसा नहीं है। परभाव से तो कर्म बंधन होते हैं, चार्ज होता है और चार्ज होता है इसलिए चिंता शुरू हो जाती है। और चिंता हो जाती है इसलिए भटकना पड़ता है दुनिया में, संसार बसाया। इस विज्ञान में परद्रव्य और परभाव हैं ही नहीं। यदि होते तो यह समाधि दे ही नहीं पाता।

प्रश्नकर्ता : यानी आज्ञा पालन करना ही मुख्य है?

दादाश्री : बस, और कुछ भी नहीं है। आप आज्ञा पालन करोगे

न, तो उसका फल ही यह है। परभाव से मुक्ति और स्वभाव में रहना, वही इन आज्ञाओं का फल है। अत: आपको वैसा फल लाने की ज़रूरत नहीं है, आपको तो आज्ञा पालन करने की ज़रूरत है।

स्वभाव से है ही अप्रतिबद्ध, अब ज़रूरत है दृढ़ता की

'मैं शुद्धात्मा हूँ', इस स्वभाव भाव के अलावा अन्य कोई भाव ही उत्पन्न नहीं हो, जिसे परभाव उत्पन्न ही नहीं हो वह अप्रतिबद्ध कहलाता है। वर्ना प्रतिबद्ध तो है ही, बंधा हुआ ही है न परभाव में!

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने तो बहुत सरल अर्थ बताया। अप्रतिबद्धपन अर्थात् स्वभाव में आना।

दादाश्री : हाँ, भाव से स्वभाव में रहना। परभाव से प्रतिबद्ध और स्वभाव से अप्रतिबद्ध। आप स्वभाव में आ ही गए हो, हो ही स्वभाव में। लेकिन अब क्या हो सकता है?

प्रश्नकर्ता : दादा, क्या हम अप्रतिबद्ध दशा में हैं?

दादाश्री : हाँ, हो न! लेकिन आप में इतनी दृढ़ता आनी चाहिए कि, 'नहीं, मैं अप्रतिबद्ध ही हूँ, प्रमाण सहित।' और फिर प्रमाण सहित होना चाहिए। मैंने आपको वह दशा दी है, प्राप्त हो गई है। आप कारखाने चलाते हो और अप्रतिबद्ध रूप से बरतते हो, देखो न! यह कैसा आश्चर्य है इस काल में! फिर और क्या चाहिए?

प्रश्नकर्ता : दादा, अभी तो अप्रतिबद्ध दशा की शुरुआत है।

दादाश्री : शुरुआत है इसलिए यह गाढ़ हो जाना चाहिए। यह मान्यता गाढ़ हो जानी चाहिए। आप यह हो लेकिन यह मान्यता अभी गाढ़ नहीं हुई है। यह बिलीफ गाढ़ हो जानी चाहिए, सम्यक् दर्शन! आप हो तो वही, लेकिन अभी गाढ़ नहीं हुआ है न! गाढ़ तो पहले वाला, वह पहले वाला फिर से याद आता रहता है।

❖❖❖❖❖

[8.2]
स्वपरिणति-परपरिणति

परिणति यानी क्या ?

प्रश्नकर्ता : परिणति क्या है, दादा ? परिणति का अर्थ समझाइए।

दादाश्री : परिणति यानी परिणामों को खुद के मानना। परिणति दो प्रकार की : एक है क्रिया परिणति और दूसरी है ज्ञान परिणति है। क्रिया परिणति मिकेनिकल है, ज्ञान परिणति दरअसल होती है। पूरा जगत् परपरिणति में है, स्वपरिणति देखी ही नहीं है।

पुद्‌गल परिणामों को खुद के मानना, वह परपरिणति

प्रश्नकर्ता : स्वपरिणति व परपरिणति क्या हैं, यह समझाइए।

दादाश्री : परपरिणति अर्थात् क्या कि *पुद्‌गल* के परिणाम *पुद्‌गल* कर रहा है उनके लिए हम ऐसा कहते हैं, 'मैं कर रहा हूँ'। यानी कि करता है कोई दूसरा और कहता है कि, 'मैं कर रहा हूँ।' अन्य के परिणाम को 'मैं कर रहा हूँ', ऐसा कहता है। 'खुद के परिणाम हैं', ऐसा कहता है। हैं *पुद्‌गल* के परिणाम, उनके लिए ऐसा कहता है, 'ये मेरे परिणाम हैं।' वह तो *पुद्‌गल* ही बन गया न! तेरे आत्मपरिणाम अलग हैं। *पुद्‌गल* के, क्रोध-मान-माया-लोभ को खुद के मानना, वह परपरिणति है।

तो लोग *पुद्‌गल* परिणति में हैं। *पुद्‌गल* परिणामों को खुद के

परिणाम मानते हैं। यानी कि परपरिणामों के मालिक हैं ये लोग। खुद के परिणामों का पता ही नहीं है।

इस शरीर में आत्मा के अलावा अन्य जो भी परिणाम हैं उन्हें ऐसा माने कि मेरे ही परिणाम हैं तो वह परपरिणति है।

प्रश्नकर्ता : परपरिणाम और परपरिणति में क्या फर्क है?

दादाश्री : ये चंदूभाई जो भी करते हैं वह सब परपरिणाम कहा जाएगा। उसे यदि ऐसा रहे, 'मैं कर रहा हूँ', तो परपरिणति कहा जाएगा।

'सिर दु:खता है', वह परपरिणाम कहलाता है और उसके लिए ऐसा कहा, 'मुझे दु:खा', तो उसे परपरिणति कहा है। जिसने स्वपरिणति और स्वपरिणाम नहीं देखे हैं वह परपरिणति के अलावा और क्या देख सकता है?

परपरिणति अर्थात् इट हैपन्स, यह सब हो रहा है, अन्य शक्ति करती है, परशक्ति करती है और खुद मानता है, 'मैं कर रहा हूँ।' यह करता कोई और है अर्थात् उदयकर्म करता है, व्यवस्थित करता है और यह कहता है कि, 'मैं कर रहा हूँ', वह परपरिणति। औरों के परिणामों के लिए ऐसा कहना कि खुद ने किए हैं, ऐसा आरोप लगाना। वे परद्रव्य के परिणाम हैं, उन्हें स्वद्रव्य के परिणाम माना जाए तो उसे कहते हैं परपरिणति।

प्रश्नकर्ता : परपरिणति उत्पन्न कौन करता है?

दादाश्री : परपरिणति कौन उत्पन्न करता है? जीवित इगोइज़म। वह परपरिणति को स्वपरिणति मानता है। हमने कहा, परपरिणति को परपरिणति मानो और स्वपरिणति को स्वपरिणति मानो।

पर को पर और स्व को स्व माने, वह स्वपरिणति

प्रश्नकर्ता : और स्वपरिणति यानी क्या?

दादाश्री : स्वपरिणति अर्थात् *पुद्गल* के परिणामों को परपरिणाम मानना और खुद के परिणामों को खुद अपने ही मानना, वह स्वपरिणति।

यह जो हो रहा है इसके लिए ऐसा कहते हैं कि, 'मैं कर रहा हूँ', वह परपरिणति है। 'यह जो कुछ भी हो रहा है वह मैं नहीं करता हूँ', तो वह निजपरिणति। कर्तापद को परपरिणति कहा जाता है और जहाँ परपरिणति नहीं है वहाँ स्वपरिणति है।

प्रश्नकर्ता : स्वपरिणति किस प्रकार से उत्पन्न होती है?

दादाश्री : 'कौन करता है', यह समझ में आ जाए तो स्वपरिणति उत्पन्न होती है। जैसा है वैसा जानना, वह स्वपरिणति में आता है।

मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार ही संसार में भटकाते हैं। मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार से परे हो जाने पर ही शुद्ध परिणति आती है। यह तो, जो खुद ही अशुद्ध है वह शुद्ध परिणाम कहाँ से लाएगा? पूरा जगत् अशुद्ध परिणति में ही है। शुद्ध परिणति में तो कौन रह सकता है? ज्ञानियों के अलावा कोई और शुद्ध परिणति में रह ही नहीं सकता।

एक मिनट के लिए भी स्वपरिणति में आ जाए तभी से उसका मोक्षमार्ग खुल जाता है। स्वपरिणति, वह मोक्ष का हेतु है। परपरिणति, वह संसार है!

परपरिणति से तो बल्कि संसार बिगड़ता है और स्वपरिणति से तो संसार अच्छी तरह से चलता है।

'मैं शुद्धात्मा' और 'नहीं है कोई कर्ता', यह है शुद्ध परिणति

प्रश्नकर्ता : श्रीमद् जी का एक वाक्य है कि, 'जब तक शुद्ध परिणति नहीं हो जाती तब तक परम विश्वास प्राप्त नहीं हो सकता, परम श्रद्धा प्राप्त नहीं हो सकती', यह समझाइए।

दादाश्री : शुद्ध परिणति अर्थात् 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ', खुद का

लक्ष (जागृति) है वह। 'यह देह मैं नहीं हूँ, मैं शुद्धात्मा हूँ, और बाकी सब भी शुद्धात्मा हैं', उसे ऐसा पक्का हो जाना चाहिए तब शुद्ध परिणति उत्पन्न होती है। यदि औरों को, शुद्धात्मा को कर्ता देखता है तो उसे शुद्ध परिणति नहीं कहा जाएगा। औरों को अकर्ता देखे, खुद अकर्ता और सामने वाला भी अकर्ता। 'मैं कर रहा हूँ, तू कर रहा है और वे कर रहे हैं', ये तीनों प्रकार के कर्तापद नहीं रहने चाहिए।

एक है कर्तापद और दूसरा है अकर्तापद। कर्तापद में, 'मैं ही चंदूलाल हूँ और मैं ही यह सब करता हूँ', वह परपरिणति है और वह अनंत जन्मों तक संसार में भटकाती ही रहती है और दूसरा है अकर्तापद, वह स्वपरिणति है। स्वपरिणति मोक्ष में ले जाती है। स्वपरिणति को भगवान ने 'मोक्ष' कहा है। एक है अशुद्ध परिणति और वह प्रसवधर्मी है। उससे निरे बच्चे ही जन्मते रहते हैं (बीज डलते रहते हैं)। और दूसरी है शुद्ध, वह है स्वधर्मी परिणति, वह मोक्ष की तरफ प्रगति करवाती है। दो ही परिणतियाँ हैं।

शुभ-अशुभ दोनों ही पुद्‌गल परिणतियाँ : शुद्ध है स्वपरिणति

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि दो ही परिणतियाँ हैं, एक अशुद्ध और दूसरी शुद्ध परिणति, तो तीसरी शुभ परिणति नहीं है?

दादाश्री : शुभ और अशुभ, वे सभी *पुद्‌गल* परिणतियाँ हैं जबकि शुद्ध भाव मोक्ष है। शुद्ध भाव तो उसी को कहते हैं कि जो कभी भी जाए नहीं, अविनाशी भाव। वह स्वभाव भाव है, विभाव भाव नहीं है।

प्रश्नकर्ता : क्या अध्यवसाय में शुभ और अशुभता होती है? अध्यवसाय में शुभ और अशुभ, ऐसा भेदांकन होता है?

दादाश्री : हाँ, वह तो होता है। शुभ-अशुभ होता ही है। वह तो दीये जैसी बात है। लेकिन क्या परिणति शुभ-अशुभ हो सकती

है? परिणति यानी कि दो प्रकार की परिणति; एक *पुद्गल* परिणति है और दूसरी आत्म परिणति। स्वपरिणति और परपरिणति, ये दो ही होती हैं।

जिन्हें मोक्ष में जाना हो, उनके लिए दो ही परिणतियाँ हैं: एक, अशुद्ध परिणति और दूसरी, शुद्ध परिणति। अशुद्ध परिणति से संसार है और शुद्ध परिणति से मोक्ष है।

समकिती को ही है 'परिणति' बोलने का अधिकार

प्रश्नकर्ता : हमने ऐसा सुना था कि अशुभ परिणति छोड़ो और शुभ परिणति करो तो वह क्या है?

दादाश्री : अशुभ परिणति छोड़ो और शुभ परिणति करो, ऐसा कहेंगे। अब वास्तव में उसे परिणति नहीं कहा जाता लेकिन फिर भी ये परिणति के अर्थ को नीचे ले आए। दो ही प्रकार की परिणतियाँ होती हैं: एक, स्वपरिणति और दूसरी, परपरिणति। अन्य कहीं परिणति शब्द का उपयोग नहीं किया जा सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि इस भाई की परिणति ठीक नहीं है, लेकिन परिणति चीज़ अलग ही है। लोग उसका हर कहीं उपयोग कर लेते हैं।

यह 'परिणति' शब्द किसी को बोलना ही नहीं चाहिए। यह तो, सभी 'परिणति' शब्द बोलते हैं, और शब्द का उपयोग करते हैं। यह शब्द तो ज्ञानियों का है। ज्ञानी ही 'परिणति' शब्द बोल सकते हैं।

धर्म में हो या चाहे कहीं भी परपरिणति शब्द का उपयोग नहीं किया जा सकता। व्याख्यान में जाए तब वहाँ पर संसार का विचार आए तो उसे परपरिणति मानते हैं और धर्म के कार्यों को स्वपरिणति मानते हैं। लेकिन मूल रूप से वह खुद ही परपरिणति में है।

'परिणति ठीक नहीं है', ऐसा कहते हैं न, वे क्या कहते हैं? भगवान की भाषा अलग है। भगवान की भाषा रही ही नहीं है। ये तो

कहेंगे, मन के परिणाम शुद्ध रहते हैं। ऐसा अर्थ किसने निकाला, यही समझ में नहीं आता। एक महाराज समझा रहे थे कि परिणति अच्छी रख। परिणति बोलने का अधिकार ही नहीं है। परिणति तो, तीर्थंकर या ज्ञानी, सिर्फ इन दोनों को ही बोलने का अधिकार है।

समकिती व्यक्ति को ही परिणति बोलने का अधिकार है, अन्य किसी को बोलने का अधिकार ही नहीं है। क्योंकि वही परपरिणति में है न, फिर उसे परिणति बदलना रहा ही कहाँ? परपरिणति में है, कीचड़ में ही है और फिर 'कीचड़ को छूना नहीं', ऐसा कहा जाए वैसी बात है।

भाव की परिणति अच्छी नहीं रहती, ऐसा कहते हैं न? वहाँ परिणति शब्द का उपयोग ही नहीं कर सकते। फिर भी चौथे *गुंठाणे* के बाद से उपयोग कर सकते हैं। लेकिन यदि परपरिणति को स्वपरिणति मानेगा तो समकित आगे नहीं बढ़ पाएगा। मन की, बुद्धि की परिणति, वह सब परपरिणति है।

आत्मपरिणति को जाने तो स्व-पर परिणति का पता चलता है

ये सब लोग परपरिणति में भी नहीं हैं। क्योंकि स्वपरिणति को पहचानेंगे तभी कहा जाएगा न, कि परपरिणति में रहा। स्वपरिणति को नहीं पहचानता है न, फिर परपरिणति कैसी?

प्रश्नकर्ता : स्वपरिणति में नहीं है, परपरिणति में भी नहीं है तो फिर किसमें है?

दादाश्री : परिणति यानी आत्मा की परिणति को जानता है, उसमें नहीं रह पाए तो उसे ऐसा पता चलता है कि खुद परपरिणति में है। जबकि ये तो बात-बात में परिणति बोलते हैं।

प्रश्नकर्ता : पूरे दिन में पचासेक बार तो ऐसा आता होगा, शुभ परिणति, अशुभ परिणति, ऐसा सब।

दादाश्री : अब, परिणति में शुभ और अशुभ नहीं होता। यह नई ही तरह का तूफान है!

प्रश्नकर्ता : स्व या पर, दोनों में से एक रहती है।

दादाश्री : बस, स्व–पर परिणति है। यदि आत्मा की परिणति में है तो स्वपरिणति में है, और अगर नहीं है तो *पुद्गल* परिणति में है। जो यह जानता है कि, 'यह आत्म परिणति है इसलिए मेरी यह परिणति *पुद्गल* परिणति है', उसके लिए 'परिणति' (शब्द) है, बाकी औरों के लिए परिणति कैसी?

प्रश्नकर्ता : यदि परपरिणाम को जानेगा तो तुरंत ही फिर स्वपरिणाम में आ जाएगा न?

दादाश्री : स्वपरिणाम में नहीं आ सके तब भी हर्ज नहीं है, लेकिन जो स्वपरिणति को जानता है वह यही प्रयत्न करेगा कि कब परपरिणति निकल जाए! कब परपरिणति निकल जाए, ऐसे प्रयत्न करेगा।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, वे लोग औरों को कहते हैं कि आप परपरिणति में हो, तो वे खुद उसमें नहीं होंगे तभी कहते होंगे न?

दादाश्री : लेकिन उसी को भ्रांति कहते हैं न! वे खुद पीतल लेकर बैठे हैं और हमारे असली सोने के लिए कहते हैं कि आप पीतल लेकर आए हो। असली सोने वाला समझता है कि, 'मेरा असली है, उसका पीतल है लेकिन उसे समझ नहीं है इसलिए वह बेचारा ऐसा बोल रहा है।' इसलिए वह इस बात को सहन कर लेता है। सहन किसे करना है? इस दुनिया में जो लोग सही हैं उन्हीं को सहन करना है।

कर्तापद में जप-तप-त्याग-धर्म वगैरह हैं परपरिणति

ये सभी लोग जप, तप, त्याग जो कुछ भी करते हैं, वह सारी परपरिणति है। यानी कि संसार में ही भटकने का साधन ढूँढ निकाला है।

वे साधु हों या संन्यासी हों, समाधि में रहता हो या *उपाधि* में रहता हो लेकिन कोई भी व्यक्ति चिंता रहित नहीं है। चिंता यानी क्या? अंदर यों आकुलता-व्याकुलता रहा ही करती है। क्योंकि परपरिणति में है। स्वपरिणति उत्पन्न हो जाए तभी कुछ बदलेगा।

'मैं यह करता हूँ, मैं यह भोगता हूँ, मैं यह धर्म करता हूँ', तब तक परपरिणति है। 'मैं संडास जाता हूँ, मैं सो जाता हूँ', वह भी परपरिणति है। जब तक ऐसी सारी परपरिणतियाँ हैं तब तक स्वपरिणति को बिल्कुल भी नहीं देख सकता। परपरिणति देखी है क्या कभी?

प्रश्नकर्ता : परपरिणति में ही हैं न।

दादाश्री : अब, स्वपरिणति में आ जाओगे तो स्वाद अलग ही तरह का होगा। अभी परपरिणति में जो स्वाद आता है उसके बजाय स्वपरिणति का स्वाद अलग ही होता है।

यह अमृतमय है, वह विषपान है। वह विषमस्थिति है, यह समस्थिति है। स्वपरिणति में समस्थिति होनी ही चाहिए, अमृतपान होना ही चाहिए। विषपान कभी भी, एक सेकन्ड के लिए भी न आए, उसे कहते हैं स्वपरिणति। स्वपरिणति में जागृति कम-ज़्यादा हो सकती है!

जो स्वपरिणति में है वह संन्यस्त

प्रश्नकर्ता : आपने जो संन्यासी शब्द कहा है न, तो सच्चे संन्यासी का अर्थ समझाइए। उनके स्वपरिणति, स्वपरिणाम कैसे होते हैं?

दादाश्री : परपरिणाम और स्वपरिणाम को समझकर चलते हों, वे संन्यासी कहलाते हैं। परपरिणामों और स्वपरिणामों को जान सकते हैं, वे संन्यासी।

प्रश्नकर्ता : और दादा, संन्यास का अर्थ समझाइए, संन्यस्त!

दादाश्री : संन्यास यानी परपरिणति को हटाते रहना। क्रमिक

मार्ग में परपरिणति को हटाते रहते हैं। और उसे इस संसार की झंझट से कोई लेना-देना नहीं होता।

जो संसार में रहते हैं, हर तरह से संसारी हैं लेकिन संसार के भाव में अर्थात् परभाव में नहीं हैं, जो स्वपरिणति में हैं वे संन्यस्त हैं। या फिर जिनकी स्वपरिणति शुरू हो गई है, अभी तक पूर्णाहुति नहीं हुई है वे संन्यस्त।

आचार्य भगवंतों को रहती है काफी कुछ स्वपरिणति

प्रश्नकर्ता : आचार्य भगवान की परिणति कैसी होती है?

दादाश्री : आचार्य भगवान तो कैसे होते हैं? जिनके खुद के पास स्व-पर का ज्ञान होता है और परपरिणति में थोड़े कच्चे होते हैं। ज़्यादातर तो स्वपरिणति ही रहती है।

प्रश्नकर्ता : परपरिणति में थोड़े कच्चे होते हैं, वह समझ में नहीं आया।

दादाश्री : परपरिणति में थोड़े कच्चे होते हैं यानी वे क्या करते हैं कि और किसी चीज़ में ऐसा नहीं कहते कि, 'कर्ता हूँ' लेकिन यह जो पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं, इन सब के हम कर्ता हैं। आचार का पालन करवाते हैं, उसके हम कर्ता हैं। वे परपरिणाम के उतने भाग के कर्ता रहते हैं। वह तो चल सकता है, क्रमिक मार्ग में वे थोड़े-बहुत परपरिणामों के कर्ता हों तभी आचार्य कहलाते हैं।

'स्वपरिणति', अक्रम से दो घंटों में

जब तक परपरिणति और स्वपरिणति की समझ उत्पन्न नहीं हो जाती तब तक यहाँ सत्संग में आकर खुलासे कर लेने चाहिए। परपरिणति और स्वपरिणति को अलग करे, ऐसा यह भेदकज्ञान है। जो स्वपरिणति और परपरिणति को वीतरागों की भाषा में समझ गया उसे भेदज्ञान हो गया, ऐसा कहा जाएगा।

प्रश्नकर्ता : दादा, हमें स्वपरिणति कैसे हो सकती है?

दादाश्री : यह जो ज्ञान है, यह तो अद्‌भुत विज्ञान है! इससे सब से पहले 'वस्तु' की प्रतीति बैठती है, 'ज्ञानी पुरुष' की कृपा से। फिर प्रतीति आगे बढ़ते-बढ़ते संपूर्ण दर्शन तक पहुँचती है। संपूर्ण दर्शन तक पहुँच जाए, ऐसा है यह 'अक्रम ज्ञान'। उसके बाद 'स्वपरिणति' शुरू होती है। 'वस्तु' में जब पुरुषार्थ जाग्रत होता है, 'वस्तु' का स्वाभाविक पुरुषार्थ जागता है, 'वस्तु' स्वरूप हो जाता है, तब 'स्वपरिणति' उत्पन्न होती है! स्वपरिणति तो अलौकिक वस्तु है! लौकिक में देखी या सुनी नहीं जाती, ऐसी वस्तु है यह!

यह तो इलेवन्थ वन्डर ऑफ वर्ल्ड! ग्यारहवें आश्चर्य के रूप में जाना जाएगा यह। दो घंटों में पूरी परिणति ही बदल जाती है। जो परपरिणति में था वह स्वपरिणति में आ जाता है। परपरिणति पूरी ही खत्म हो जाती है। फिर चाहे वह किसी भी जाति का हो, उसमें दिक्कत नहीं है।

आपका तो यह दो घंटे में ही करेक्ट... और ऐसा हुआ नहीं है। विदिन टू आवर्स इतना सारा काम हो जाता है, ऐसा हुआ ही नहीं है और वह भी क्षायक समकित! जिसके लिए इस काल में शास्त्रों ने मना किया है, वैसा क्षायक समकित हो जाता है।

परपरिणति से हुए मुक्त, क्षायक समकित होने पर

प्रश्नकर्ता : क्षायक समकित के बारे में और अधिक समझाइए।

दादाश्री : क्षायक समकित यानी क्या? परपरिणति ही नहीं, निरंतर स्वपरिणति ही रहे, वह!

विनाशी चीज़ों में कहीं भी सुखबुद्धि नहीं रहती। विनाशी पर से सारी परिणतियाँ खत्म हो जाती हैं, उसे क्षायक समकित कहा है।

सम्यक्त्व एक दृष्टि है और उससे स्वपरिणति उत्पन्न होती है। जब तक उपशम सम्यक्त्व है, क्षयोपशम है तब तक उसे क्षायक नहीं कहते। क्षायक हो जाने के बाद परपरिणति रहती ही नहीं है। इन

महात्माओं को परपरिणति नहीं है। ये खुद नहीं समझते कि, 'हमें (परपरिणति) नहीं है', लेकिन फिर भी मैं कहता हूँ कि नहीं है। स्वपरिणति में ही मुकाम है और स्वपरिणति ही शुक्लध्यान है। इन्हें शुक्लध्यान व धर्मध्यान दोनों रहते हैं, क्योंकि मेरी आज्ञा में रहते हैं। दिन भर संसार व्यवहार में... बच्चों की शादी करवानी होती है। फिर भी त्याग तो इन्होंने पूरा ही कर दिया है। इन साधु-संन्यासियों ने आधा त्याग किया है जबकि इन्होंने तो पूरा ही त्याग कर दिया है, अहंकार और ममता दोनों चले गए हैं।

प्रश्नकर्ता : शुक्लध्यान आत्मा का परिणाम कहलाता है?

दादाश्री : हाँ, स्वाभाविक परिणाम चौथा ध्यान है, स्वाभाविक परिणति।

प्रश्नकर्ता : तो फिर जो पहले तीन ध्यान हैं, आर्त-धर्म और रौद्रध्यान, वे *पुद्गल* परिणति कहलाते हैं न?

दादाश्री : हाँ, *पुद्गल* परिणति और (महात्माओं के लिए) ये तीनों ध्यान *पुद्गल* के परिणाम हैं, अहंकार के परिणाम।

ज्ञानप्राप्ति के बाद परपरिणामों को खुद के नहीं मानता

अपना विज्ञान आपको पहले दिन ही (जब महात्मा आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं तब) स्वपरिणति में रख देता है। इस 'अक्रम ज्ञान' के मिलने के बाद परपरिणति आती ही नहीं है। इसे जैनों ने बहुत बड़ी बात कहा है। परपरिणति उत्पन्न नहीं होना तो बहुत बड़ी बात है। वह परपरिणति तो अपना ज्ञान देते हैं तभी से नहीं रहती। आपको रहती है परपरिणति?

प्रश्नकर्ता : यों तो स्वपरिणति में आ गए हैं लेकिन फिर प्रवृत्ति में उसका ध्यान नहीं रहता। प्रवृत्ति के समय उसे भूल जाते हैं, इतना ही है।

दादाश्री : नहीं! लेकिन परपरिणति नहीं रहती न?

प्रश्नकर्ता : जब भूल जाते हैं उस समय उसे परपरिणति नहीं कहते न?

दादाश्री : क्यों?

प्रश्नकर्ता : अन्य प्रवृत्तियों के समय यह *लक्ष* नहीं रहता?

दादाश्री : लेकिन क्या महावीर स्वामी अन्य प्रवृत्तियाँ नहीं करते थे? चलते थे, देशना देते थे, तो वे सारी प्रवृत्तियाँ उनकी नहीं थीं?

प्रश्नकर्ता : उस समय परपरिणति नहीं कहा जाएगा?

दादाश्री : नहीं।

प्रश्नकर्ता : भाव में तो कम-ज़्यादा नहीं होता होगा?

दादाश्री : जो भाव कम-ज़्यादा होते हैं वे सब परपरिणति के हैं और जो भाव कम-ज़्यादा नहीं होते वे सब स्वपरिणति।

'मैं करता हूँ', उसे परपरिणति कहते हैं। 'इसने मेरा बिगाड़ दिया', ऐसा कहे तो उसे परपरिणति कहते हैं। ये जो भी परपरिणाम उत्पन्न होते हैं इन परपरिणामों को खुद के परिणाम माना जाए तो उसे कहते हैं परपरिणति। जब हम ज्ञान देते हैं तभी से आप में स्वपरिणति उत्पन्न हो जाती है। अब परपरिणामों को खुद के परिणाम मानता ही नहीं है। अतः यह तो परपरिणति है ही नहीं। स्वपरिणाम को (अपने) मानने वाले हैं ये। खुद के परिणामों को ही मानते हैं।

हमें निरंतर स्वपरिणाम रहता है। परपरिणति हमें उत्पन्न ही नहीं होती। आपको भी नहीं होती लेकिन अभी ज़रा आपको अंदर दखल रहा करता है, फिर भी यदि आप मुझसे कहो कि मुझे परपरिणति उत्पन्न हो गई है तो मैं मानूँगा ही नहीं, क्योंकि यह ज्ञान ही ऐसा है कि परपरिणति उत्पन्न ही नहीं होने देता। लेकिन अक्रम है इसलिए उलझ जाता है लेकिन परपरिणति स्वपरिणति नहीं हो जाती और स्वपरिणति परपरिणति नहीं हो जाती।

स्वपरिणति में ही रहे, वह स्वरूप स्थिति

प्रश्नकर्ता : श्रीमद् राजचंद्र जी ने सद्गुरुदेव के लक्षण बताए हैं। 'स्वरूप स्थित इच्छा रहित विचरे उदय प्रयोग', तो इसमें इस 'स्वरूप स्थित' द्वारा वे क्या कहना चाहते हैं, यह बताइए।

दादाश्री : इसके द्वारा वे क्या कहना चाहते हैं कि वे खुद के स्वरूप में ही स्थित हो चुके हैं। होम डिपार्टमेन्ट में ही बैठे हुए हैं, फॉरेन में हैं ही नहीं। परपरिणति में नाम मात्र को भी नहीं, जो स्वपरिणति में ही रहते हैं वे स्वरूप स्थित कहलाते हैं। निरंतर वही *लक्ष* रहता है। निरंतर *लक्ष* रहे तो उसे कहते हैं स्वरूप स्थिति।

प्रश्नकर्ता : हमें निरंतर, अखंड स्वरूप स्थिति रहे, ऐसा बनना है तो उसके लिए क्या उपाय करने चाहिए?

दादाश्री : अखंड स्वरूप स्थिति उसे कहते हैं कि यदि एक क्षण के लिए भी प्राप्त हो जाए तो फिर निरंतर अखंड ही रहती है। यदि एक क्षण के लिए, एक समय के लिए भी प्राप्त हो जाए तो निरंतर रहा करती है। फिर इधर-उधर नहीं होती।

आपको तो यहाँ पर आत्मा अनुभव में आ गया है, शुद्धात्मा। इसे स्वरूप स्थिति कहते हैं। यह तो परमानेन्ट स्थिति है। यह तो चेतक हाथ में आ गया, चेताने वाला। यह स्वरूप स्थिति हमेशा की स्थिति बन गई है। अब अन्य किसी भी प्रकार की स्थिति नहीं है। हम जैसी कल्पना करते हैं वैसी स्थिति नहीं है।

स्वरूप स्थिति क्रमिक में है शब्दों में, अक्रम में शब्दातीत

यह स्थिति तो हमेशा के लिए हो गई है। क्षायक समकित हो गया है। क्षायक समकित का अर्थ क्या है? मिथ्यात्व का क्षय हो गया है, बिल्कुल क्षय हो गया। जबकि क्रमिक वाली स्वरूप स्थिति तो किसी को घंटे भर के लिए आती है... आधे घंटे, पंद्रह मिनट के लिए आकर चली जाती है।

क्रमिक मार्ग में जो स्वरूप स्थिति है वह शब्दों में है। चित्त वगैरह सब इस संसार में रहता है, वे आत्मा को शब्दों से जानते हैं। उन्होंने शब्दों से जितना जाना होता है उसी को स्वरूप स्थिति कहते हैं। उसमें स्थिर हो जाते हैं। तो इसमें (अक्रम मार्ग में) स्थिरता खत्म हो जाती है और उसमें (क्रमिक मार्ग में) जितने समय तक वे स्थिर रहते हैं, उसे स्वरूप स्थिति कहते हैं।

मानी हुई स्वरूप स्थिति स्थिरता रखवाती है, स्थिरता आने देती है। लेकिन वास्तव में वह स्वरूप स्थिति नहीं है। लेकिन वह तो शब्दों की स्थिति है। अभी दरअसल आत्मा तो अलग ही है। शब्द भी नहीं हैं अब, इसे दरअसल आत्मा कहते हैं। इसीलिए क्षायक समकित कहते हैं न!

यह तो क्षायक समकित है। यह बहुत उच्च प्रकार की स्वरूप स्थिति है।

आज्ञा पालन से रहती है स्वरूप समाधि

यह तो, जितने समय तक आज्ञा में रहते हो न तो स्वरूप स्थिति नहीं परंतु स्वरूप समाधि रहती है।

प्रश्नकर्ता : समाधि रहती है?

दादाश्री : हाँ! कितने समय तक आज्ञा में रहे? तीन घंटे आज्ञा में रहोगे तो तीन घंटे समाधि रहेगी! कभी एक घंटा रहे हो या नहीं रहे आज्ञा में? रास्ते में रिलेटिव-रियल देखते-देखते जाते हो क्या? मैंने बताया है उस तरह से रियल और रिलेटिव देखते-देखते चलना एक घंटा। ऐसा कभी एक घंटा चलते हो?

प्रश्नकर्ता : चलता नहीं हूँ लेकिन ऐसा ध्यान रहता है, उसका ध्यान रहता है।

दादाश्री : हाँ, लेकिन ध्यान रहे तो उससे अंदर समाधि जैसा रहा करता है आपको। इसे स्वरूप समाधि कहते हैं। बहुत बड़ी चीज़ है यह तो।

यह स्वरूप स्थिति हमेशा के लिए है। लेकिन आपके वे बाहर के कर्म हैं न, उनका समभाव से *निकाल* करने जाते हो इसलिए फिर स्थिति स्थिति की जगह पर रहती है, लेकिन आपको बाहर *निकाल* करना पड़ता है न, तो उपयोग बाहर ले जाना पड़ता है। समभाव से फाइलों का *निकाल* करने जाते हो तब स्वरूप समाधि का सुख नहीं आता। यह तो, जैसे–जैसे फाइलों के *निकाल* कम होते जाएँगे वैसे–वैसे खुद की आत्मशक्तियाँ प्रकट होती जाएँगी। खुद आत्मारूप होता जाएगा। जैसे–जैसे फाइलें कम होती जाएँगी वैसे–वैसे उपयोग बढ़ता जाएगा। वे फाइलें खत्म हो जाएँगी तो उपयोग शुद्ध हो जाएगा, पूरा संपूर्ण हो जाएगा।

कर्तापद है परपरिणति, अकर्तापद है निजपरिणति

प्रश्नकर्ता : निजपरिणति आत्मभावना है और 'मैं शुद्धात्मा', वह आत्मभावना नहीं है, यह समझाइए।

दादाश्री : शुद्धात्मा निजपरिणति नहीं है, शुद्धात्मा तो संज्ञा है। हमने आपको जो ज्ञान दिया है वह ज्ञान है और फिर जब उस ज्ञान का उपयोग होगा तब उसे निजपरिणति कहा जाएगा।

शुद्धात्मा शब्दों में है, यह जागृति में है। जागृति है तो सही लेकिन यह जागृति शब्दों में है जबकि निजपरिणति तो आत्मभाव कहलाता है। अब आपके लिए, 'मैं इसका कर्ता नहीं हूँ', ऐसा ज्ञान ही निजपरिणति कहलाती है।

निजपरिणति का यह ज्ञान इतनी मज़बूती से फिट कर दिया है जबकि क्रमिक में तो निजपरिणति उत्पन्न ही नहीं होती। क्योंकि कर्ताभाव छूटता ही नहीं है न! कभी भी कर्ताभाव नहीं छूटता। ज्ञानियों का भी कर्ताभाव नहीं छूटता। धीरे–धीरे कम होता जाता है लेकिन छूटता नहीं है, और छूट जाए तब उसे निजपरिणति कहा जाता है।

अक्रम में स्वपरिणति परपरिणति को देखती और जानती है।

परपरिणति अपनी फिल्म चलाती रहती है। हमें (महात्माओं को), 'अच्छा मंदिर बनवाना है, दादा की सेवा करनी है, सत्संग में जाना है', ऐसी सारी परपरिणतियाँ हैं। जो ऐसा समझे कि 'यह मेरी परिणति नहीं है... यह स्वपरिणति है और यह परपरिणति है', जो ऐसा समझे वह ज्ञानी।

यह जो हो रहा है उसके लिए ऐसा कहे कि, 'मैं कर रहा हूँ' तो उसे कहते हैं परपरिणति। 'यह जो हो रहा है यह मैं नहीं कर रहा हूँ', उसे कहते हैं निजपरिणति। अंत में बिल्कुल आसान ही कर दिया है न?

प्रश्नकर्ता : आसान हो गया अब।

दादाश्री : अपने आप ही निजपरिणति रहती है लेकिन उसे यह समझ में नहीं आता है कि, 'मुझे रहती है।' उसे यह समझ में नहीं आता। लेकिन खुद दवाई खाता है इसलिए ठीक हो जाता है न! समझ में आए या न आए लेकिन दवाई खाए तो ठीक हो जाता है। वर्ना कर्तापद नहीं छूट सकता। कोई भी ऐसी दवाई नहीं है, जिससे कर्तापद छूट सके। कर्तापद को परपरिणति कहते हैं, और जहाँ परपरिणति नहीं है वहाँ निजपरिणति है।

पाँच आज्ञा व शुद्ध उपयोग, यही निजपरिणति

प्रश्नकर्ता : आपकी पाँच आज्ञाओं में से एक आज्ञा में रहें तो निजपरिणति कहा जाएगा या नहीं?

दादाश्री : हाँ! उसे निजपरिणति कहा जाएगा। हमारी आज्ञाएँ निजपरिणति में रहने के लिए ही हैं, इनमें अन्य परिणति नहीं है।

परपरिणति उत्पन्न हो जाती है लेकिन खुद उसका ज्ञाता रहता है, यानी कि परउपयोग में नहीं रहता, स्वउपयोग में रहता है। यानी अब सिर्फ उपयोग ही शुद्ध रखना है। यह संसार वैसे का वैसा ही चलने देना है। पहले शुभाशुभ उपयोग था। 'तप करूँ, जप करूँ,

फलाना करूँ, स्वाध्याय करूँ', उसे शुभाशुभ उपयोग कहते हैं। पहले वैसा उपयोग था और अभी यह शुद्ध उपयोग रखना है। इसे न भूलें तो वह कहलाएगी जागृति, ज्ञान कहलाता है। शुद्ध उपयोग को निजपरिणति कहा जाता है और शुभाशुभ उपयोग को परपरिणति कहा जाता है। परपरिणति से संसार में भटकना पड़ता है और शुद्ध उपयोग से यहीं पर मोक्ष। (उससे) देह में रहते हुए भी निर्वाण है।

आपको तो उपयोग में स्वउपयोग रहता है। परपरिणति तो उत्पन्न ही नहीं होती, परउपयोग भी नहीं रहता। यह (कारण) केवलज्ञान दिया है इसलिए आपको ऐसा रहता है।

प्रश्नकर्ता : केवलज्ञान में कैसी निजपरिणति रहती है?

दादाश्री : जब तक निजपरिणति सहित है और परपरिणति को धक्का देता है तब तक परिणति रहती है लेकिन केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद परिणति नहीं रहती।

स्वपरिणति उत्पन्न हुई, वही समयसार

एक क्षण के लिए भी स्वपरिणति उत्पन्न हो जाए तो उसे समयसार कहा गया है। ऐसा कहते हैं कि जिसे एक समय के लिए भी समयसार उत्पन्न हुआ उसे हमेशा के लिए वह हो गया। उसे वह निरंतर रहता ही है।

अभी इस वर्ल्ड में ऐसा कोई भी इंसान नहीं जन्मा है जो इस समयसार और नियमसार को समझ सके। समयसार का अर्थ कुछ अलग ही निकाल दिया है! उसे तपसार में ले गए।

प्रश्नकर्ता : समय अर्थात् आत्मा कहा है?

दादाश्री : समयसार किसे कहते हैं कि निरंतर निज उपयोग में रहे। निजपरिणति को समयसार कहा जाता है। वह आपको उत्पन्न हो चुका है। आपको धर्मसार तो प्राप्त हो गया है लेकिन समयसार भी प्राप्त हो गया है।

इस जगत् में दो प्रकार के सार हैं; समयसार और धर्मसार। आर्तध्यान-रौद्रध्यान चले गए यानी धर्मसार प्राप्त हो गया। स्वाभाविक परिणति उत्पन्न हो गई, स्वपरिणति, अर्थात् समयसार उत्पन्न हो गया।

समयसार अर्थात् मिनट का छोटे से छोटा भाग। उसका सार प्राप्त हो गया, ऐसा कहते हैं। तो आपको समयसार प्राप्त हो गया है। लेकिन अब आपको ऐसा करना है कि हमेशा के लिए आपका ऐसा ही रहे। आपको अपना पिछला उधार तो चुकाना ही पड़ेगा। वे सब तो दावा करेंगे। कोई बनिया हो, कोई लोहाना हो तो छोड़ देगा क्या? अगर वह छोड़ दे तब भी नहीं चलेगा, उसे दे देना पड़ेगा।

लेकिन यह समयसार प्राप्त हुआ है तो उसके लिए तो अपने मन में ऐसा रहना चाहिए कि अब यह पूर्ण कर लें, समयसार। यह पूर्ण हो जाएगा तो बहुत हो गया। आपको यह एक समय के लिए हो चुका है, इसीलिए तो आप हमारे पीछे पड़े हो कि, 'हमें यह जो एक समय के लिए हुआ है वह सर्व समय कब होगा?' और मुझे सर्व समय रहता है।

❖❖❖❖❖

[8.3]
महात्माओं की स्वपरिणति

नाटकीय अहंकार से अब परपरिणति रही निर्जीव

प्रश्नकर्ता : दादा, कभी ऐसा लगता है कि अहंकार खड़ा हो गया है, तो वह परपरिणति हुई?

दादाश्री : इस ज्ञान के बाद में आपका मूल अहंकार तो चला गया है लेकिन दुनिया को दिखाई दे, ऐसा डिस्चार्ज अहंकार रहा हुआ है। जिससे आपको कर्म बंध रहे थे वह चार्ज अहंकार गया।

अहंकार पौद्गलिक चीज़ है। *पुद्गल* में से अहंकार निकलता रहता है, इंसान को नहीं करना हो फिर भी होता रहता है। अब आपको अहंकार तो रहेगा लेकिन कैसा अहंकार? निर्जीव रहेगा। पहले सजीव था। आत्मा की जिस मूल चैतन्य शक्ति का प्रवाह ऐसे बह रहा था, वह प्रवाह यों स्वपरिणति में आ गया। अत: परपरिणति रही तो है लेकिन अब निर्जीव है। निर्जीव अर्थात् नाटकीय अहंकार जैसा ड्रामेटिक अहंकार, सबकुछ ड्रामेटिक है अब।

महात्माओं के परपरिणाम अब व्यवस्थित के ताबे में

अपने यहाँ यह ज्ञान लेने के बाद में अहंकार व्यवस्थित के ताबे में है। उसे डिस्चार्ज करने का काम व्यवस्थित का है।

पुद्गल की यह जो क्रिया है, जिसे व्यवस्थित कर रहा है, उसके

लिए 'मैं कर रहा हूँ', ऐसा भान उत्पन्न नहीं होना चाहिए। उसे व्यवस्थित करता है। वह व्यवस्थित परिणाम है, उसे भगवान ने 'परपरिणाम' कहा है।

मैं शुद्धात्मा हूँ, चंदू नहीं। चंदू के परिणामों को वह खुद का नहीं मानता, उन्हें व्यवस्थित के (परिणाम) मानता है। 'व्यवस्थित' करता है और 'मैं' देखता और जानता है, इससे अपनी स्वपरिणति है।

आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा रहे और खुद का कर्ताभाव नहीं रहे यानी स्वपरिणति। अगर कर्ताभाव उत्पन्न हो, किसी भी प्रकार की क्रिया को खुद ऐसा माने, 'मैं कर रहा हूँ', तो उसे परपरिणति कहते हैं। (अब) यह समझ गया कि, 'मैं नहीं करता, कौन करता है।' 'मैं नहीं करता', ऐसा भाव कब आता है? तब, जब यह समझ जाए कि, 'कौन कर रहा है'। अब यह बात निश्चित है न, कि आप नहीं करते?

प्रश्नकर्ता : यह तो सिद्ध हो गया, दादा।

दादाश्री : इसे स्वपरिणति कहते हैं।

तू अपने आप को 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा भूलकर कहे कि, 'यह मैंने किया', तो उसे परपरिणति कहेंगे और अगर तू, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा जानकर कहे कि, 'चंदू ने किया', तो उसी को स्वपरिणति कहेंगे। जैसा है वैसा कहा जाए, उसे कहते हैं स्वपरिणति और जैसा नहीं है वैसा आरोपण किया जाए, वह है परपरिणति।

अब, आप शुद्धात्मा हो, उसे स्वपरिणति कहते हैं और परपरिणति तो आपको रहेगी, वह तो व्यवस्थित के ताबे में गई। वह परपरिणति अलग ही है।

खुद कर्ता तो परपरिणति; व्यवस्थित कर्ता तो स्वपरिणति

यानी कि 'यह व्यवस्थित कर्ता है', ऐसा भान रहना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : तो परिणाम शुद्ध हुए, ऐसा कहा जाएगा।

दादाश्री : हाँ, वे परिणाम शुद्ध ही रहेंगे, परिणति शुद्ध ही रहनी चाहिए। शुद्ध परिणति तब रहती है जब उसे ऐसा भान हो जाए कि,

'मैं कर्ता नहीं हूँ, यह कर्ता नहीं है, जो गालियाँ देता है वह कर्ता नहीं है।' उसका ज़रा सा भी दोष न दिखाई दे और व्यवस्थित समझ में आ जाए, तो काम हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : ये बाहर के वातावरण से परिणतियों पर कोई असर होता है क्या?

दादाश्री : परिणति में कोई बदलाव नहीं आता। परिणति में बदलाव किसे कहा जाता है कि, 'मैं कर्ता हूँ', या अन्य कोई कर्ता है। कर्ता के बारे में परिणति है। अत: यदि हम कर्ता हैं तो परपरिणति है और अगर हम कर्ता नहीं हैं, व्यवस्थित कर्ता है तो स्वपरिणति।

ज्ञान के बाद स्व-पर परिणति बरतती है भिन्न-भिन्न

आप शुद्धात्मा और अगर चंदूभाई किसी पर ज़रा चिढ़ जाएँ तो उस समय आपके परिणाम कैसे रहते हैं कि यह नहीं होना चाहिए। ऐसा होता है या नहीं होता? अनुभव में आता है या नहीं?

प्रश्नकर्ता : यह नहीं होना चाहिए, ऐसा लगता है।

दादाश्री : अंदर ऐसा लगता है, फिर यह गुस्सा भी हो जाता है। दोनों साथ में होता है न?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : यानी कि आप अपनी स्वपरिणति में हो और *पुद्गल*, *पुद्गल* की परिणति में है। दोनों अपने-अपने परिणाम को भजते हैं। वह देखते रहना है। बाकी, क्रोध-मान-माया-लोभ, बिल्कुल हंड्रेड परसेन्ट चले गए हैं। संज्वलन कषाय भी नहीं रहे। हंड्रेड परसेन्ट चले गए हैं। क्योंकि क्रोध किसे कहते हैं कि जिसके पीछे हिंसक भाव हो। हिंसक भाव नहीं होने के बावजूद भी आपको मन में ऐसा लगता है कि यह क्यों हो रहा है? ऐसा लगता है और ऐसा दिखाई देता है, और ऐसा होता है न, कि ऐसा नहीं होना चाहिए? तंत चला जाए और हिंसक भाव चला जाए तब कहते हैं क्रोध-मान-माया-लोभ पूरी

तरह से चले गए। तो पूछते हैं, व्यवहार में अभी भी ऐसा क्यों है? तब कहते हैं, व्यवहार में, जो *पुद्गल* (अहंकार) है न, उसने जो *पूरण* किया था उसी का *गलन* हो रहा है। इसमें आपको क्या दिक्कत है?

यानी यह समझ लेना ठीक से, पूरी तरह से। क्योंकि ऐसा होता ही नहीं है। अब जड़, जड़ भाव में परिणमित होता है और चेतन, चेतन भाव में परिणमित होता है। यानी कि जो गुस्सा है वह जड़ भाव का है और यदि वह नहीं निकलेगा तो फिर अंदर रह जाएगा, शरीर में रहेगा। जो *पूरण* हो चुका है उसका *गलन* हो जाना चाहिए। उतना बोझा कम। क्रोध-मान-माया-लोभ संपूर्ण चले गए हैं। अब क्या रहा है? तो कहते हैं, अभी चंदूभाई में ये जो दोष दिखाई देते हैं न, अगर उन दोषों को हम देखेंगे तो हम उनसे छूट जाएँगे। क्योंकि कृपालुदेव ने क्या कहा है कि अज्ञान से बाँधे हुए (कर्म) को ज्ञान से निकाल देंगे तो फिर अपनी ज़िम्मेदारी नहीं रहेगी। यानी कि जब यह छूटे (कषाय निकलें) तब अगर हम इसे देखेंगे तो वह ज्ञान से हुआ। तब साफ होकर चला जाएगा।

हमें अंदर जो संकल्प-विकल्प, तरंगें, कल्पनाएँ अथवा अन्य जो कुछ भी उथल-पुथल होती हुई महसूस होती है, वह तो अनार दाने में बारूद जैसा ही है। जिस तरह अनार दाने को जलते हुए देखकर अपनी आँखें जल नहीं जातीं, उसी तरह उन्हें देखने से और उनमें एकता नहीं करने से, केवल स्वस्वभाव और स्वपरिणति में परिणामित होने से निर्विकल्प समाधि रहती है। उड़ते हुए परमाणुओं को आत्मा पढ़ता है, यदि उन्हें पढ़कर वह उस रूप नहीं हो जाता तो निर्विकल्प दशा ही है।

मन-वचन-काया परपरिणाम हैं, उन्हें जानना है स्वपरिणति

हमने क्या कहा है? परिणाम चाहे कुछ भी हुए हों लेकिन परिणामों को अपने सिर नहीं लेना है। बाहर का जो *पूरण* हुआ है वही *गलन* होगा। अन्य कुछ नहीं होना है। मन के सभी *गलन*, देह के सभी *गलन*, वाणी के सभी *गलन*, वे परपरिणाम हैं।

इस देह से जो प्रवर्तन होता है वह परपरिणाम है, वह स्वाभाविक है। साथ-साथ मन के, चित्त के सारे परिणाम परपरिणाम हैं। विचार भी परपरिणाम हैं। किसी के लिए ऐसा विचार आए कि 'ऐसा क्यों कर रहा है', तो वह भी परपरिणाम है। कोई आपके लिए खराब सोचे या अच्छा सोचे लेकिन यदि 'आप' जानो कि यह परपरिणाम है तो वही स्वपरिणति। आप निश्चय से बारहवें गुणस्थानक पर बैठे हो इसलिए आपको पता चल जाता है कि ये परपरिणाम हैं, मेरे नहीं हैं।

शुद्धात्मा के लक्ष और व्यवस्थित के ज्ञान से खत्म होती है परपरिणति

यह ज्ञान अक्रम विज्ञान है न, इसलिए परिणति नहीं बदलती। परिणति बदलने से तो कमी रह जाती है।

क्रमिक मार्ग में समकिती जीवों को व्यवहार में स्वपरिणति रहती है लेकिन दिन भर परपरिणति अधिक रहती है। फिर कुछ समय के लिए उसमें से स्वपरिणति में आते हैं। इसलिए स्वपरिणति और परपरिणति के बीच भेद रखा है। वे समकिती बहुत ही कम स्वपरिणति में रहते हैं, वर्ना दिन भर परपरिणति में रहते हैं। समकिती हैं फिर भी जितने समय तक अंदर आत्मा अलग रहता है, वह भी शब्दों से, शब्दों की प्रतीति...

प्रश्नकर्ता : जिसे समकित हो गया है वह स्वपरिणाम को ही मानेगा न?

दादाश्री : हाँ... अंश-अंश करके रहता है उसे, सर्वांश नहीं रहता। बहुत अंशों तक परपरिणाम रहता है, 'मैं कर्ता हूँ', वह भाव जाता नहीं है न! सामने वाला कर्ता है, वह भाव भी नहीं जाता, '(इसने) ऐसा किया, वैसा किया।' अंत तक दखल, अंतिम जन्म में भी दखल, तब भी परपरिणति रहती है। अंत में, मोक्ष में जाने के पंद्रह-बीस साल पहले परपरिणति नहीं रहती। तब तक दखल रहता है।

यहाँ पर तो परपरिणति रहती ही नहीं। इस व्यवस्थित के ज्ञान के कारण परपरिणति खत्म हो गई है। शुद्धात्मा का *लक्ष* बैठ गया और

व्यवस्थित का ज्ञान सेट हो गया इसलिए, 'यह कर रहा है', ऐसा करके किसी पर द्वेष नहीं करता।

प्रश्नकर्ता : कर्ताभाव शुरू में ही निकाल दिया।

दादाश्री : आपका तो कर्ताभाव नहीं है बल्कि औरों के प्रति भी कर्ताभाव खत्म हो गया। 'कोई और कर रहा है, वह कर रहा है, वे कर रहे हैं', ऐसा सब खत्म हो गया। 'मैं कर रहा हूँ, वह कर रहा है, वे कर रहे हैं', वह सब खत्म हो गया। निमित्त भाव आ गया है।

परपरिणाम अच्छे न लगें, उन्हें खुद के न माने, वही है स्वपरिणति

यह ज्ञान मिलते ही परपरिणति बंद हो जाती है लेकिन अक्रम विज्ञान है न, इसलिए आपको बाहर वैसा दखल रहता है और मन में ऐसा लगता है कि यह क्या! फिर भी आपको परपरिणति उत्पन्न नहीं होती। परपरिणति उत्पन्न होते ही चिंता शुरू हो जाती है। अहंकार हो तभी चिंता होती है लेकिन आपको सफोकेशन होता है। चिंता और सफोकेशन, दोनों अलग चीज़ें हैं। चिंता से तो चर्र्-चर्र् जी जलता रहता है और सफोकेशन तो अकुलाहट करवाता है। जब ये सारे परमाणु निकलते हैं, डिस्चार्ज होते हैं उस समय सफोकेशन करवाते हैं।

इस तरह अलग देखना नहीं आता इसलिए (खुद) मन के व बुद्धि के परिणामों में, सफोकेशन में उलझन में पड़ जाता है। बाकी, जिसे अपनी स्वपरिणति उत्पन्न हुई उस पर परपरिणाम का असर ही नहीं होता, लेकिन ये तो ऐसे में उलझन में पड़ जाते हैं। ये टॉप की जगह पर से नहीं देखते। वह जगह ही टॉप चीज़ है। खुद किसमें है अभी? स्वपरिणति में है या परपरिणति में है? टॉप पर से देखेगा न तो खुद को पता चलेगा। और कुछ नहीं देखना है। बाकी सारे, मन के स्पंदन, बुद्धि के स्पंदन, चित्त के स्पंदन, वे तो *पूरण-गलन* हैं। भगवान का भी *पूरण-गलन* था और इनका भी *पूरण-गलन* है। हमें *पूरण-गलन* से लेना-देना नहीं है। जो भरा है उसका *गलन* होता ही रहेगा। जिसका *पूरण* हुआ है उसका *गलन* हुए बगैर नहीं रहेगा, इसी

को कहते हैं *पुद्गल*। स्वपरिणति और परपरिणति, इन दोनों का ही ध्यान रखना है।

यह समझ लेना है कि ये कौन से द्रव्य के परिणाम हैं। यह समझ लेना है कि ये *पुद्गल* द्रव्य के परिणाम हैं या चेतन द्रव्य के। चोंच डूबोते ही परपरिणाम और स्वपरिणाम अलग हो जाने चाहिए।

जिन्हें ये बाहर के परपरिणाम अच्छे नहीं लगते, 'यूज़लेस' (बेकार) लगते हैं और उन्हें खुद के स्वपरिणाम नहीं मानता, वही आत्मा की उपस्थिति है, वही स्वपरिणति है।

आत्मा क्या है और यह अनात्मा क्या है, ऐसा सब जो चरणविधि में लिखा हुआ है न, वह सारा सम्यक् ज्ञान है। वह सम्यक् ज्ञान अपने अंदर रहना चाहिए। दोनों अलग-अलग हैं, यह परपरिणति, यह स्वपरिणति। चरणविधि में जो लिखा हुआ है न, वह परिणति दिखाने के लिए है। इस पर से परिणाम का पता चलता है कि यह परिणाम किसका है। इसे सम्यक् ज्ञान कहते हैं।

परपरिणति को अलग देखने में है तप

आत्मा के अलावा बाकी सब परपरिणति है और स्वपरिणति में रहना, वही ज्ञान का लक्षण है। विचार आना, वह भी परपरिणाम है।

परपरिणति को अलग रहकर नहीं देखते और तन्मयाकार हो जाते हो तो चौथा आधार स्तंभ (तप) खत्म हो जाता है। अब चौथे आधार स्तंभ को पक्का करना है। मन जो करता है उसे देखते रहना है। मन न तो हेय है, न ही उपादेय।

तप अर्थात् क्या? मन जो दिखाए उसे देखते रहो, वह तप है। और तप तो अंदर होता ही रहेगा। उस घड़ी अंदर कुछ देर के लिए तपना पड़ेगा। ज्ञाता-द्रष्टा नहीं रह पाते, उस समय तप करना पड़ता है।

भगवान हों या ज्ञानी हों, फिर भी ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप, इन चार स्तंभों के बिना कोई भी मोक्ष में नहीं जा सकता। चार स्तंभ होने

चाहिए। तो भगवान जो तप करते हैं वह तप गर्म नहीं होता। वह तप ठंडा होता है, जलाता नहीं है। तप अर्थात् जलाना। भगवान का तप ठंडा होता है। यानी कि उस तप को यदि ये लोग ऐसा (गर्म) कहते हैं तो इनके लिखने में भूल है। वह तप क्या होता है? ज्ञान, यानी कि सर्व प्रथम, 'मैं क्या हूँ' ऐसा भान। उसके बाद दर्शन, उसकी प्रतीति, निरंतर प्रतीति रहती है। फिर चारित्र। चारित्र अर्थात् उस अनुसार वर्तन होना। ज्ञान-दर्शन हैं और तप तो, *पुद्गल* परिणामों के लिए 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा उत्पन्न नहीं हो, उसे इतना ही देखते रहना है। जागृति रखनी है। नींद न आ जाए, उसे तप कहा है भगवान ने। यानी कि जागृति नहीं जानी चाहिए।

हमारा तप हमें घड़ी भर के लिए भी संसार में नहीं रहने देता, ऐसा तप होता है। एक क्षण भर के लिए भी संसार में नहीं टिकने देता हमें, ऐसा है हमारा तप। तप अर्थात् होम डिपार्टमेन्ट में से कभी भी फॉरेन में न जाए। फॉरेन में ज़रा सा झाँकने जाएँ, उससे पहले तो अंदर वाला रोकता है। अर्थात् होम और फॉरेन के बीच का जो संधिस्थान है हमारा तप वहाँ पर है। इसलिए हमारी एक सेकन्ड के लिए भी परपरिणति नहीं होती।

हमें परपरिणति को उलेचना नहीं पड़ता। परपरिणति उत्पन्न भी नहीं होती और हो भी नहीं सकती, जबकि इन सभी को परपरिणति को उलेचना पड़ता है। परपरिणति नहीं होती, स्वपरिणति में ही रहते हैं लेकिन परपरिणति के जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उन्हें उलेचना, हटाना पड़ता है।

प्रश्नकर्ता : दूर करना ही पड़ता है, धक्के लगा-लगाकर बाहर निकालना पड़ता है।

दादाश्री : धक्के लगा-लगाकर। क्योंकि इस एक जन्म में अनंत जन्मों का हिसाब चुका देना है।

'दादा भगवान' हैं निजस्वरूप, इसलिए स्वपरिणति

जब तक किंचित्मात्र भी किसी का आलंबन है तब तक परपरिणति है। मूर्ति, गुरु, शास्त्र और त्याग का आलंबन है तब तक परपरिणति है। शुद्धात्मा का भान उत्पन्न हुआ इसलिए परपरिणति भाग गई, वर्ना

बाहर लोगों की परपरिणति नहीं जाती और शुद्धात्मा का अवलंबन, वह अवलंबन नहीं है, वह खुद का ही स्वरूप है इसलिए स्वपरिणति है। यानी कि अपनी परपरिणति नहीं कही जाती। परपरिणति रहती है तब तक *कढापा-अजंपा* होता ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : हम सभी को दादा का अवलंबन है, इसका क्या?

दादाश्री : दादा का अवलंबन है न, तो यह आपको इन दादा का नहीं है। यह आपका ही आत्मा है। इसीलिए कृपालुदेव ने कहा है न, कि जब तक हमने आत्मा को यथार्थ रूप से नहीं देखा है, यथार्थ यानी प्रतीति है, श्रद्धा में है लेकिन यथार्थता उत्पन्न नहीं हुई, तब तक ज्ञानी पुरुष ही खुद का आत्मा है। इसे अवलंबन नहीं कहेंगे। इसीलिए हम कहते हैं न, कि 'अरे! दादा, दादा करना न, आपका काम हो जाएगा।' यह आश्चर्य है इस काल का! ग्यारहवाँ आश्चर्य!

'दादा भगवान', यह स्वपरिणति करने का ज्ञान है। और अभी अन्य कोई भगवान हों तो परपरिणति उत्पन्न होगी। ये दादा भगवान तो हम किसे संबोधित करते हैं? अंदर जो भगवान प्रकट हुए हैं, उन्हें संबोधित करते हैं। अतः यही मुख्य चीज़ है। यह स्वपरिणति है।

'दादा भगवान' साधन नहीं है, आलंबन नहीं है, खुद का ही स्वरूप है। आपका स्वरूप ही 'दादा भगवान' है। यदि आलंबन होता तब तो परपरिणति है ही। यह आलंबन नहीं है, अतः यह स्वपरिणति है। कभी ही ऐसा होता है। तीर्थंकरों के लिए तो है क्योंकि उनमें अहंकार नहीं है न! जबकि क्रमिक मार्ग के ज्ञानियों में तो अहंकार रहता है इसलिए परपरिणति रहती है। उनका वह आलंबन और निदिध्यासन, वह परपरिणति कहलाती है। और यह स्वपरिणामी चीज़ है।

प्रश्नकर्ता : ऐसा कहते हैं 'ज्ञानी पुरुष ही आपका आत्मा है', तो उनका निरंतर निदिध्यासन रहे तो उसे स्वपरिणति कहा जाएगा?

दादाश्री : हाँ! उसे स्वपरिणति कहा जाएगा।

❖❖❖❖❖

[8.4]
स्वपरिणाम-परपरिणाम

निजधारा-परधारा बहती हैं अलग-अलग लेकिन अज्ञानी कर लेते हैं इकट्ठी

महावीर भगवान ने दो भाग किए थे : 1. प्रकृति के परिणाम, 2. शुद्धात्मा के परिणाम। इन दोनों की धाराएँ अलग-अलग बहती हैं।

जीवमात्र में दो प्रकार की धाराएँ बहती ही रहती हैं। दोनों ही अलग-अलग हैं लेकिन खुद को भान ही नहीं है। मनुष्य, तिर्यंच हर एक में स्व की और पर की, निजपरिणाम की और परपरिणाम की, निरंतर दोनों धाराएँ बहा करती हैं। लेकिन जगत् के लोगों को इसका भान नहीं है इसलिए एक हो जाती हैं, इसलिए अज्ञानी उन्हें एक ही मानते हैं।

जीवमात्र में स्वपरिणाम और परपरिणाम, दोनों परिणाम उत्पन्न होते ही रहते हैं। लेकिन बिलीफ रोंग है न, इसलिए परपरिणाम को स्वपरिणाम मानता है और स्व को भी स्व मानता है। सभी परिणामों को खुद के मान लिए हैं। इसलिए फिर कहते क्या हैं? 'देखो, ये दाल-चावल, सब्ज़ी-रोटी मैंने खुद ही बनाए हैं।' हम पूछें कि आपके पास ये रोटियाँ बनाने का ज्ञान था? तो कहती हैं, 'हाँ, यह ज्ञान तो था ही न मेरे पास।' यानी कि ज्ञान भी मैं जानता हूँ और क्रिया भी मैं करता हूँ। अर्थात् ये दोनों परिणाम एक साथ बरतते हैं अज्ञानी में, जबकि ज्ञानी दो परिणामों में नहीं रहते, एक परिणाम में ही रहते हैं। मैं ज्ञानक्रिया का कर्ता हूँ, अज्ञान क्रिया का कर्ता नहीं हूँ। कोई भी क्रिया अज्ञान क्रिया कहलाती है।

ज्ञानी दिखाते हैं निजधारा, फिर बरतती हैं दोनों धाराएँ अलग

ज्ञानी से मिलने के बाद निज परिणाम की धारा का पता चलता है। जिस तरह अंधेरे में कोई श्रीखंड का प्रसाद दे तब भी पता चलता है कि खट्टा है या फीका है, चिरौंजी है या नहीं, इलाइची है या नहीं, इसी तरह जब ज्ञानी मिलते हैं तब शुद्धात्मा प्राप्त हो जाता है, तब निजधारा का पता चलता है और उसके साथ ही परपरिणाम की धारा का भी पता चलता है।

जिसे स्व का भान नहीं है, उसकी स्वपरिणाम की धारा बहती है, उसका (उसे) भान ही नहीं है। लेकिन मैंने आपको स्व में बैठा दिया है, आपको भान में ले आया हूँ इसलिए आप में आपकी दोनों ही धाराएँ अलग रहती हैं।

शुद्धात्मा के भान से हो गए शुद्ध परिणामी

आप में इस 'अक्रम विज्ञान' के कारण चेतन परिणति उत्पन्न हुई है। पहले चेतन परिणाम और *पुद्गल* परिणाम दोनों की धाराएँ साथ में रहती थीं। चाहे दीया जल रहा हो लेकिन अंधे के लिए क्या? जिसमें 'मैं शुद्धात्मा हूँ' और 'मैं चंदूलाल नहीं हूँ', ऐसा विभाजन नहीं हुआ है, उसे निरंतर *पुद्गल* परिणति ही रहती है। और जिसमें विभाजन हो गया है, वह शुद्ध परिणामी कहलाता है। शुद्धात्मा निज परिणाम वाला ही होता है।

दोनों धाराएँ निज-निज रूप में रहें, उसी को ज्ञान कहते हैं। दोनों धाराएँ अपने-अपने स्वभाव में ही रहती हैं। देखने वाली धारा देखा करती है, उसे देखना है और दृश्य, दृश्यभाव को छोड़ता नहीं है।

अचल-अविनाशी के अलावा सारे परपरिणाम

पहले चेतन और जड़, दोनों परिणाम उत्पन्न होने पर ऐसा लगता था, 'मेरे हैं', अब परमात्मा पद प्राप्त हो गया है इसलिए स्वपरिणाम और परपरिणाम पहचाने जा सकते हैं। जो परिणाम चंचल और विनाशी

थे वे सभी परपरिणाम। जो अचल और चेतन हैं वे स्वपरिणाम। अभी तक 'पर' को खुद का समझकर चले थे इसलिए दु:ख भुगते। अब परमहंस हो गया है इसलिए ज्ञान-अज्ञान अलग हो जाते हैं।

अब परिणाम कौन से हैं, ऐसा जानने के बाद शंकित मत होना। सारे संगी परिणाम विनाशी हैं, उन सब को पहचान लिया, वे मेरे नहीं हैं। मैं तो अविनाशी हूँ और अविनाशी परिणाम, स्वपरिणाम के अलावा बाकी सब परपरिणाम हैं। शरीर जो करता है, उसमें भ्रांति नहीं होनी चाहिए।

परपरिणाम अपने हाथों में नहीं है, स्वपरिणाम अपने हाथों में है। नींद परपरिणाम है, वह अपनी सत्ता की बात नहीं है। उसमें हम दखल क्यों दें? हमें अपने परिणाम में रहकर काम करते जाना है।

बुखार आए तो अच्छा नहीं लगता, भुगतना ही पड़ता है। क्योंकि परपरिणाम है। अच्छा भोजन पसंद आए तो वह भी परपरिणाम है। पसंद आना और न आना, सारे मन के परिणाम हैं, परपरिणाम हैं, आत्मा के परिणाम नहीं हैं। पहले इन पराए परिणामों को खुद के बना लिए थे। 'मैंने किया' इस तरह से, उससे ये फल आए हैं। पराए परिणामों को 'मैं कर रहा हूँ', ऐसा भान होने से यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है।

कर्म *पुद्गल* स्वभाव वाले हैं। वे अपने परपरिणाम बताते ही रहेंगे। 'हम शुद्धात्मा हैं', यह स्वपरिणाम हैं। परपरिणाम 'ज्ञेयस्वरूप' है और खुद 'ज्ञातास्वरूप' से है।

एक क्रिया की धारा है और एक ज्ञाता-द्रष्टा की धारा है, जो 'ज्ञानी' में मुक्त बरतती है जबकि अज्ञानी को एक कड़वा और एक मीठा, ऐसे 'मिक्स्चर' धारा बरतती है। इसलिए उन्हें बेस्वाद कढ़ी जैसा स्वाद आता है। परपरिणाम और स्वपरिणाम मिला देने से स्वाद बेस्वाद हो जाता है इसलिए तृप्ति नहीं होती। लोग कहते हैं कि संतोष होता है, वह संतोष भी किसका होता है? साइकोलॉजिकल परिणाम है।

खुद निज होने के बाद में, यह देखना है कि किस प्रकार की

धारा बह रही है। पर की धारा हो तो उसे देखना और जानना है। जैसी *भजना* करेंगे वैसे ही हो जाएँगे।

पैकिंग (देह) में परिणमित होगा तो अनंत मालिकीपने में पार्टनर बनेगा। और स्व में परिणमित होगा तो पूरे ही जगत् का मालिकपन प्राप्त होगा। एक स्वरूप से अनंत स्वरूपों को भोगेगा।

परपरिणाम हैं परसत्ताधीन, अगर रहेंगे वीतराग तो हो जाएँगे बंद

प्रश्नकर्ता : यानी कि व्यवहार पूरा ही परपरिणाम है?

दादाश्री : हाँ, वह सब परपरिणाम ही है और फिर अपने हाथ में नहीं है, पराश्रित है। पूरा व्यवहार पराश्रित है। पराश्रित व्यवहार में क्रोध-मान-माया-लोभ कैसे बंद हो सकते हैं? जगत् इसे बंद करने जाता है। अपना 'अक्रम विज्ञान' क्या कहता है? आपको इस बॉल के उदाहरण पर से समझाता हूँ।

हम यह बॉल यहाँ से फेंके और फिर कहें, 'एय! अब यहाँ से हिलना मत, जहाँ फेंका वहीं पड़ा रह।' तो कहते हैं, 'नहीं, फिर वह अपने परपरिणाम में जाता है।' यानी कि जैसे फेंका होगा, तीन फुट ऊपर से फेंका होगा, तो दो फुट के परपरिणाम आएँगे और यदि दस फुट ऊपर से फेंका होगा तो सात फुट के परपरिणाम आएँगे। अब वे परपरिणाम, यदि उनमें फिर से हाथ नहीं डालेंगे तो अपने आप बंद ही हो जाने हैं।

प्रश्नकर्ता : परपरिणाम समझ में आया, अब इसमें परिणाम किसे कहें, वह समझना है।

दादाश्री : अपने परिणाम से (बॉल) फेंकने का भाव होना, वहाँ से फिर हाथ में आया, वह परपरिणाम। हाथ से फेंका गया, वह भी परपरिणाम है। लेकिन हम नया भाव बंद कर दें, ऐसा कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : वह भाव बंद कैसे होगा?

दादाश्री : उन्हें 'ज्ञानी पुरुष' को सौंप दिया तो उनसे छूट सकते हैं। आपने वे भाव मुझे सौंप दिए हैं। द्रव्यकर्म, नोकर्म वगैरह सब

परपरिणाम हैं, वे सब मुझे सौंप दिए हैं। अब आपको कोई लेना-देना नहीं है। आप सब सिर्फ इन आज्ञाओं में ही रहो, यह निरंतर समाधि वाला मार्ग है और तुरंत फलदायी है। विज्ञान है यह, प्रत्यक्ष विज्ञान है।

परपरिणाम हो जाते हैं बंद, मात्र अलग देखने से

बॉल को फेंकने के बाद रोकना और बॉल फेंकने की प्रक्रिया जारी रखना, वह 'साइन्टिफिक' रास्ता नहीं है। क्रमिक मार्ग में फेंकने के बाद में उछलते हुए बॉल को रोकने जाते हैं और दूसरी तरफ नए भाव से बॉल फेंकना जारी रहता है। यानी कि पिछला बंद करता जाता है और आगे फेंकता जाता है। तो उसका कब अंत आएगा? अपने यहाँ क्या करते हैं कि (नई) बॉल फेंकना बंद कर देते हैं और फिर परिणाम के रूप में जितना उछलती है उसे 'देखते' रहने को कहते हैं। ये परिणाम तो 'डिस्चार्ज' स्वरूप हैं।

इसलिए मैंने शास्त्रों को छोड़ दिया। तू ही बंद कर दे न। 'तू कौन है', तुझे यह पक्का करवा देता हूँ। तेरी लगाम तेरे हाथ में दे देता हूँ। अब तू फिर से नए भाव से फेंकना बंद कर दे न। इससे झंझट खत्म हो जाएगी और सिर्फ देखते ही रहना कि क्या हो रहा है! अपने आप ही बंद हो जाएगा। अन्य कोई झंझट नहीं करनी है।

जब तक हम अज्ञानता में हैं तब तक इस बॉल को फेंकते रहते हैं, उसके परिणाम नहीं जानते। अब ज्ञान होने के बाद आपने नए भाव से बॉल फेंकना बंद कर दिया लेकिन पहले जो फेंकी थी वह उछलेगी तो सही। हमने जो फेंकी वह अपना एक ही परिणाम था लेकिन पच्चीस-पच्चीस बार उछलेगी। लेकिन अब तूने बॉल फेंकना बंद कर दिया है इसीलिए वे (परिणाम) अपने आप ही बंद हो जाएँगे! परपरिणाम समझ में आया न? क्या बॉल को रोकने करने की ज़रूरत है?

प्रश्नकर्ता : नहीं, अपने आप रुक जाएगी।

दादाश्री : उसे रोकने के प्रयत्न कर रहे हैं। इसी को कहते हैं

व्यवहार। जो परपरिणाम में है, जो डिस्चार्ज रूपी हैं, उसमें वीतरागता रखनी है। अन्य कोई उपाय ही नहीं है!

परपरिणाम बंद हो जाएँगे अपने आप

प्रश्नकर्ता : दादा, लेकिन यह बॉल को रोकने जाता है, उसका उछलना बंद करने जाता है।

दादाश्री : यानी कि उसके परिणाम बंद करने का प्रयत्न करता है वह। अरे, उसके परिणाम तो बंद हो ही जाने हैं, अपने आप ही। हम इतना कहते हैं कि तू फिर से फेंकना बंद कर दे। फेंकना बंद करने से कर्ता-कर्म बंद हो जाएँगे। जितने के कर्ता हो चुके हो वे तो, अपने आप ही फुटबॉल ऊँचे उछल, उछल, उछलकर शांत हो जाएगा।

फुटबॉल तो आप इस तरफ देखोगे तब भी उसके परिणाम बंद हो जाएँगे। जिस टाइम पर बंद होना है उस टाइम पर। और नहीं देखोगे तब भी बंद हो ही जाने हैं। वे तो परपरिणाम हैं, परिणाम उत्पन्न हो गए हैं। वे परिणाम अपने आप ही बंद हो जाएँगे। मैं जानता हूँ कि कोई अगर अभी भी खूब क्रोध करता है तो धीरे-धीरे वह क्रोध नरम होते-होते-होते कम होता जाएगा।

प्रश्नकर्ता : दादा, लेकिन अभी भी क्रोध हो जाता है तब शंका हो जाती है कि क्या मेरा ज्ञान बिगड़ गया?

दादाश्री : इस ज्ञान के बाद आपके परिणाम इतने बदल गए हैं। अगर किसी का इनमें से कोई एक भी परिणाम बदल जाए, तब भी जगत् कच्चा नहीं पड़ेगा, इतना पक्का है यह जगत्। यदि एक ही अनुभव हो गया हो न, एक ही! चिंता बंद हो जाए, उतना भी यदि बंद हो जाए तो फिर छोड़ेगा ही नहीं। ये तो कितने सारे (बदलाव)! *लक्ष* बैठा, चिंता खत्म हो गई, फलाना खत्म हो गया, कितना सारा! परिणामों में तो चाहे कितना भी क्रोध हो, फिर भी हमें देखते रहना है। कहना, 'ओहोहो! चंदूभाई, आपके परिणाम तो ज़बरदस्त लगते हैं।' बल्कि ऐसा कहना। आप तो देखने वाले ही रहे।

अहंकार नहीं रहने से परपरिणाम के लिए नहीं रहे ज़िम्मेदार

अब इस ज्ञान के बाद क्रोध ऐसा हो गया है न कि मोड़ा जा सके? और लोभ भी ऐसा हो गया है न कि मोड़ा जा सके?

प्रश्नकर्ता : लोभ तो था ही नहीं खास।

दादाश्री : था ही नहीं शुरू से! नहीं? तब क्या था?

प्रश्नकर्ता : काम (विषय) है।

दादाश्री : काम अलग चीज़ है लेकिन उसमें अहंकार नहीं रहा। इस काम में से अहंकार निकाल लिया। काम यानी क्या, कि अब्रह्मचर्य प्लस अहंकार, उसे काम कहते हैं। फिर काम में से अहंकार निकाल लिया तो क्या रह जाता है? अब्रह्मचर्य। वह तो परपरिणाम है।

आप अगर कढ़ाई रखकर उसमें एक चीज़ डालो, दूसरी डालो, तीसरी चीज़ डालो और एकदम हरा रंग हो जाए तो आप समझ नहीं जाओगे कि यह किसका परिणाम है? यह किसका परिणाम है, ऐसा समझ जाओगे न आप? या फिर एकदम उफनने लगे तब आप समझ जाओगे कि यह कौन सी चीज़ डली?

प्रश्नकर्ता : हाँ, पता चल जाएगा।

दादाश्री : उसी प्रकार से यह परपरिणाम वगैरह सब समझना पड़ेगा। यह स्वपरिणाम और यह परपरिणाम। जितने क्रिया वाले हैं, वे सारे ही परपरिणाम हैं। वे फिर मन की क्रिया हो या वाणी की क्रिया हो या शरीर की क्रिया हो, वे सारे परपरिणाम हैं और वे डिस्चार्ज हैं। इस शरीर में से जो कोई चीज़ निकलती हैं, वे सारे परपरिणाम हैं। इसलिए इन सभी परपरिणामों को समझना चाहिए। परपरिणामों को परपरिणाम समझना है और स्वपरिणाम को स्वपरिणाम समझना है। क्रोध होने लगे तब हम समझ जाएँगे कि यह परपरिणाम है। लोभ हो जाए तो उसे भी जानेंगे कि परपरिणाम है और ये मेरे परिणाम नहीं हैं।

परपरिणामों की मूल भूलें तो अपनी पहले की भूलें हैं। यह तो

हम समझते हैं कि उस अहंकार, उस अज्ञानता वगैरह सब के मिलने से यह परिणाम उत्पन्न हो गया है। आज अपने अंदर वह अहंकार भी नहीं है और वह अज्ञान भी नहीं है। आज हम उसके लिए रिस्पॉन्सिबल नहीं हैं।

परपरिणाम के साथ रह गया है खुद का ज्ञेय-ज्ञाता संबंध

अंदर चंदूभाई को क्रोध हो जाए न, वह गर्म हो जाए तो आप जानते हो या नहीं जानते या भूल जाते हो?

प्रश्नकर्ता : जानते हैं।

दादाश्री : तो गुस्सा बढ़ा या कम हुआ, ऐसा पता चलता है? गुस्सा बंद होने पर भी पता चलता है?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : तो फिर आप ज्ञाता हो और वह दृश्य ज्ञेय है। ज्ञाता-ज्ञेय का संबंध है। आपको समझ में आई यह बात?

प्रश्नकर्ता : ऐसा जो होता है उसका ज्ञान तो खुद को होता है।

दादाश्री : इसे (गुस्से को) बंद नहीं करना है, बंद करने से बंद होगा भी नहीं।

शायद अगर कोई गाली दे न, तब महात्माओं को बाहर समता रहती है लेकिन अंदर मशीनरी चलती रहती है तो वह परपरिणाम है, ज्ञेय स्वरूपी है। उस समय कह दो कि, 'हमारे और आपके बीच तो ज्ञेय-ज्ञाता का संबंध है, शादी संबंध नहीं है।' ऐसा कहने से अंदर वाले सभी ज्ञेय हड़बड़ा कर भाग जाएँगे या भूगर्भ में घुस जाएँगे!

अब, ये क्रोध-मान-माया-लोभ परपरिणाम हैं। ये स्वपरिणाम नही हैं। परपरिणाम तो, अंदर जैसा माल भरा हुआ होगा वैसा ही फूटेगा। फूटे तब हमें समझना है कि यह तो पटाखे का माल है। जैसा बारूद भरा है वैसे ही फूटेगा। उन सभी के ज्ञाता-द्रष्टा हैं हम! इसे

(चंदू को) जो आकर्षण होता है वह लोभ नहीं है। लोभ तभी है जब आत्मा एकाकार हो जाए। इसका तो आपको पता चलता है, 'ओहोहो! अभी तो इन्हें इच्छा है।' आपको तुरंत पता चल जाता है कि, 'इस चीज़ की इच्छा है, इसकी इच्छा नहीं है। इस चीज़ के लिए भाव है और (इसका) भाव नहीं है', यह सब आपको पता चल जाता है। जबकि अज्ञानी व्यक्ति तो क्रोध उत्पन्न होने से पहले खुद का ही भान खो देता है इसलिए खुद तन्मयाकार हो जाता है। भान भी नहीं रहता उसे। खुद के आत्मा को लेकर भान नहीं रहता किसी प्रकार का।

स्वपरिणति में रहने से उपजें संयम परिणाम

कषायों का निर्वाण होने के बाद में (व्यवहार) आत्मा का निर्वाण होता है। अब कषाय ज़ोर नहीं लगाते न?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

दादाश्री : कषाय होने हों वहाँ कषाय नहीं होने दे, वह है आत्मपरिणाम। आत्मपरिणाम खुद के हाथ में आ गया, फिर क्या रहा?

प्रश्नकर्ता : आत्मपरिणाम ही संयम परिणाम है?

दादाश्री : संयम परिणाम अर्थात् क्या? *पुद्गल* में आत्मा एकाकार नहीं हो, उसे कहते हैं संयम परिणाम। अलग ही बरतता रहता है। आप एकाकार होने देते हो? एकाकार होने दो तो हिंसक भाव हो जाता है। यह तो हिंसक भाव नहीं है, यह संयम परिणाम कहलाता है। संयम परिणाम अर्थात् *पुद्गल* में चाहे कितनी भी झंझट हो, कितनी ही तोड़फोड़ हो रही हो लेकिन स्वपरिणति नहीं छोड़ता। कितना सुंदर हिसाब है यह! बाहर तो झंझट हो रही होती है, धमाचौकड़ी मची होती है, फिर भी स्वपरिणाम नहीं छोड़ता।

स्वपरिणति से शुरू संयम, फिर बढ़ता ही जाता है तेज़ी से

अंदर चाहे कैसे भी परिणाम उत्पन्न हों, अंदर चाहे कैसा भी झंझावात हो फिर भी बाहर किसी को पता ही न चले, वह संयम है।

इन्द्रिय संयम को संयम कहा ही नहीं जाता। कषाय मंद हो जाएँ, उसी को संयम कहते हैं।

संयम में कौन रह सकता है? स्वपरिणति वाला ही। वह संयमी कहलाता है। परपरिणति वाले में संयम नहीं होता। वृत्तियाँ फिर से अपने देश लौटने लगती हैं। आंशिक रूप से शुरुआत हो गई, वह संयम।

उसके बाद तो देर ही नहीं लगती। अंतिम जन्म में पाँच सालों में सभी चीज़ें आ जाती हैं। कितना ज़्यादा होता होगा, इतना सब? क्योंकि संयम परिणाम इतने अधिक बढ़ते जाते हैं, इतने अधिक बढ़ते जाते हैं, इतने अधिक बढ़ते जाते हैं कि पूछो मत। किसी मनुष्य को करोड़ों जन्मों में जितने संयम परिणाम नहीं आते उतने संयम परिणाम ज्ञानी पुरुष को एक ही घंटे में बरतते हैं। फिर इससे भी आगे जाएँ तो केवलज्ञानी को कैसा रहता है? बहुत ही संयम परिणाम।

महात्मा स्वपरिणति में, दादा स्वपरिणाम में

संयम परिणाम अर्थात् आत्मपरिणाम और *पुद्गल* परिणाम, दोनों का यथार्थ रूप से अलग रहना। *पुद्गल* परिणाम को देखना ही आत्मपरिणाम है।

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* के मालिक नहीं हैं तब फिर देह की क्रियाओं को और मन को देखने का क्या अर्थ है?

दादाश्री : आप भी देह के मालिक तो नहीं हो लेकिन आप ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अभी तक परपरिणाम में हो लेकिन फिर भी परपरिणति नहीं है आपको। मैं क्या कहता हूँ? परपरिणाम में तो हो! इसमें मज़े करते हो, टेस्ट लेते हो, फिर भी आपको परपरिणति नहीं है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान मिला है इसलिए हमें स्वपरिणति और स्वपरिणाम ही रहे न?

दादाश्री : परिणति तो... आप सभी को स्वपरिणति में ही रख दिया है। 'मैं नहीं करता हूँ', आप ऐसे ही भाव में हो लेकिन स्वपरिणाम

नहीं हुआ है। स्वपरिणाम होना चाहिए। आपको स्वपरिणति है, स्वपरिणाम नहीं है। हम स्वपरिणाम में हैं। स्वपरिणाम ही परमात्मा पद है।

महात्माओं का देखना-जानना है बुद्धि से ; स्वपरिणाम में होता है स्वाभाविक

प्रश्नकर्ता : अब *पुद्गल* परिणाम को अलग देखते हैं, तो वह ज्ञान से है तो वह भी रियल ज्ञान से है?

दादाश्री : हं, रियल नहीं है लेकिन फिर भी लोगों को संतोष है और सच्चा संतोष है। पहले जो जानने-देखने से उसे गुस्सा आता था, अब नहीं आता है देखने-जानने से।

प्रश्नकर्ता : फिर भी यह बुद्धि का ही हुआ?

दादाश्री : वह बुद्धि नहीं तो फिर और क्या है? तू ऐसा समझा कि आत्मा का आ गया? आत्मा क्या इतना आसान है?

प्रश्नकर्ता : तो अभी तक का जो है वह सारा बुद्धि से ही हुआ, तो उसमें आत्मा का देखना और जानना कैसा होता है?

दादाश्री : बुद्धि से जानना व देखना परपरिणाम है, जब ऐसा समझ जाएगा तब स्वपरिणाम को समझेगा।

इसमें जो देखना-जानना होता है वह भी परपरिणाम है, ऐसा जब जानता है तब वह स्वपरिणाम को ढूँढता है या फिर वापस स्वपरिणाम की ओर जा रहा है। लेकिन यह सारा स्वपरिणाम मानता है, इस तरह देखने और जानने को।

प्रश्नकर्ता : हाँ! तब तो ऐसा कहा कि वह स्वपरिणाम की ओर गया लेकिन स्वपरिणाम फिर भी नहीं आए।

दादाश्री : स्वपरिणाम कैसे हो सकते हैं? स्वपरिणाम शुद्ध होते हैं। स्वपरिणाम स्वाभाविक होते हैं।

प्रश्नकर्ता : स्वपरिणाम स्वाभाविक यानी क्या?

दादाश्री : द्रव्य के गुण, द्रव्य के पर्याय वगैरह सभी को जानना। महात्मा मुझसे कहते हैं कि, 'दादा, (मैं) ज्ञाता-द्रष्टा रहता हूँ।' मैंने कहा, 'बहुत अच्छा।' हाँ, वह अच्छा है न, उसे राग-द्वेष नहीं होते। ज्ञाता-द्रष्टा नहीं रहे तो चिढ़ेगा किसी पर। अतः वह तो पुरुषार्थ है न!

भयंकर वेदना में भी परपरिणति उत्पन्न न हो, वह है तप

प्रश्नकर्ता : तो फिर स्वपरिणाम के लिए किस चीज़ की कमी है?

दादाश्री : तप की आवश्यकता है, तो कहते हैं कि जो वेदना होती है वह! यह तो सिर दर्द और यह सब, ऐसी सारी वेदना को वेदना ही नहीं मानते। उसे तो सिर्फ जानते ही हैं। जानते ही रहते हैं, बस उतना। उसमें आ जाती हैं ऐसी हैं ये वेदनाएँ तो। लेकिन दूसरी, हाथ काटा जा रहा हो ऐसे घिस-घिसकर... एकदम काट दे तब तो समझो कि यह खत्म हो गया, लेकिन घिस-घिसकर हाथ काट रहा हो तब क्या दुश्मन से ऐसी विनती की जा सकती है कि, 'भाई, एकदम से काट दे?' विनती करने पर भी एकदम से नहीं काटेगा वह तो। ऐसे संयोग आए हों तब उसे वेदना कहा जाएगा। उस समय तप करना है। भगवान ने कहा है कि तू होम डिपार्टमेन्ट में है, स्वपरिणति में है तो परपरिणति उत्पन्न न हो, वैसा तप करना है। ये परपरिणाम हैं और ये मेरे परिणाम नहीं हैं, इस प्रकार स्वपरिणाम में मज़बूत रहने को कहते हैं तप।

अपने महात्माओं में परपरिणति बंद हो गई है लेकिन स्वपरिणाम में नहीं रहते हैं न? अभी तो काग़ज़ का व्यापार करते हो, दूसरा कुछ करते हो, तीसरा करते हो। दखल है न? और हमारा दखल थोड़ा चार डिग्री का है, इसीलिए हमें भी तीन सौ छप्पन तक का रहा है। तीन सौ साठ नहीं हुआ है और आपका दखल ज़्यादा होगा, नहीं है क्या ज़्यादा? आपको समझ में आता है यह सब?

प्रश्नकर्ता : हाँ, जी।

दादाश्री : हाँ! पक्का? यानी यह सब समझने जैसा है। समझे बगैर तो उल्टा-सुल्टा कर देंगे और ये लोग तो अभी क्या करते हैं कि

उबालने की चीज़ को कच्चा रखते हैं और कच्चा रखने की चीज़ को उबाल देते हैं। फिर उसमें से विटामिन कैसे मिलेंगे उन्हें? विटामिन मिलेंगे?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

संसारी वेश में ग्यारहवाँ ज़बरदस्त आश्चर्य!

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने कहा, 'हम स्वपरिणाम में हैं', यह समझाइए?

दादाश्री : ये जो 'ए.एम.पटेल' दिखाई देते हैं, ये तो मनुष्य ही हैं लेकिन 'ए.एम.पटेल' की जो वृत्तियाँ हैं और इनकी जो एकाग्रता है वह 'पररमणता' भी नहीं है और 'परपरिणति' भी नहीं है। निरंतर 'स्वपरिणाम' में ही मुकाम है! निरंतर 'स्वपरिणाम' वर्ल्ड में कभी ही, हज़ारों-लाखों सालों में होता है! 'स्वरमणता' कुछ अंशों तक होती हैं लेकिन सर्वांश स्वरमणता और वह भी संसारी वेश में नहीं हो सकती। इसलिए आश्चर्य लिखा है न! 'असंयति पूजा' नामक धीट् (ज़बरदस्त) आश्चर्य है यह!

हम संसार में रहते ही नहीं हैं, एक क्षण भर के लिए भी हम संसार में नहीं रहे हैं। संसार में रहना परपरिणति कहलाता है। हम स्वपरिणाम में होते हैं, निरंतर मोक्ष में ही होते हैं। खुली आँखों से ही होते हैं, जबकि पूरा जगत् बंद आँखों वाला है।

'हमारा' 'आत्मा' आत्मपरिणाम में रहता है और 'मन' मन के परिणाम में रहता है। 'आत्मा' स्वपरिणाम में परमात्मा है। दोनों अपने-अपने परिणाम में आ जाएँ और अपने-अपने परिणामों की *भजना* करें, उसी को कहते हैं मोक्ष।

प्रश्नकर्ता : हमें दादा भगवान के दर्शन करने का भाव हुआ हो तो वह भाव स्वभाव है क्या?

दादाश्री : स्वभाव में लाने वाले परिणाम हैं। वे भी परिणाम हैं, परपरिणाम हैं। स्वभाव में लाने वाले परिणाम हैं, इसलिए वे हितकारी हैं।

❖❖❖❖❖

[8.5]
पारिणामिक भाव

आत्मा का स्वाभाविक भाव, वही पारिणामिक भाव

प्रश्नकर्ता : पारिणामिक भाव यानी क्या?

दादाश्री : पारिणामिक भाव तो बहुत अलग चीज़ है। पारिणामिक भाव अर्थात् हम जो हैं उस रूपी भाव उत्पन्न होना।

पारिणामिक भाव अर्थात् मोक्ष भाव। पारिणामिक भाव वह, आत्मा का स्वभाव है, वह अंतिम भाव है। आत्मा का मूल स्वभाव भाव पारिणामिक भाव है। एक मिथ्यात्व भाव है, दूसरे उपशम भाव हैं, क्षयोपशम भाव है, क्षायक भाव है और सन्निपात भाव है। सन्निपात भी भाव है। ज्ञानी को भी सन्निपात हो जाए तब वे न जाने क्या कर लें लेकिन उनका ज्ञान ज़रा सा भी इधर-उधर नहीं होता और चरम कोटि का पारिणामिक भाव। इन सभी में सिर्फ पारिणामिक भाव ही आत्मा का है, बाकी सारे पौद्गलिक भाव हैं।

पारिणामिक भाव तत्त्व के होते हैं, अन्य किसी को स्पर्श नहीं करते। अन्य किसी पर लागू नहीं होते।

पारिणामिक भाव : आत्मा का ऊर्ध्व, पुद्गल का अधो

प्रश्नकर्ता : पारिणामिक भाव वास्तव में किस प्रकार से उत्पन्न होता है?

दादाश्री : इन पाँच इन्द्रियों से जो दिखाई देता है वह मेरा भाव नहीं है, ऐसा रहे तो पारिणामिक भाव उत्पन्न होता है। आत्मा का खुद का

ही भाव, खुद के ही गुणधर्मों को कहते हैं पारिणामिक भाव। खुद के ही गुणधर्म! यह तो, अभी भी औरों के गुणधर्मों को खुद के मानते हैं।

जगत् का पारिणामिक भाव नीचे खींच ले जाता है और आत्मा का पारिणामिक भाव ऊपर ले जाता है। ये (दोनों के) पारिणामिक भाव अलग-अलग हैं इसीलिए इन दोनों के झगड़े हैं और उसी से संसार है। इन दोनों के पारिणामिक भावों में दखल देने से संसार खड़ा है। दखल नहीं होगा तो सिर्फ जगत् का पारिणामिक भाव और आत्मा का पारिणामिक भाव रहेगा। जगत् में सिर्फ ये दो ही भाव हैं। जगत् का, *पुद्गल* का, पारिणामिक भाव निरंतर नीचे ले जाने वाला है और आत्मा का पारिणामिक भाव निरंतर मोक्ष में ले जाने वाला है। *पुद्गल* के पारिणामिक भाव को पुष्टि मिले तो अधोगति में ले जाता है और आत्मा के पारिणामिक भाव को पुष्टि मिले तो ऊर्ध्वगति में ले जाता है।

परम पारिणामिक भाव, वही परमात्मा

प्रश्नकर्ता : परम पारिणामिक भाव किसे कहा जाता है? आत्मा के लिए ऐसा कहते हैं कि मैं परम पारिणामिक भाव हूँ।

दादाश्री : यानी स्वभाव में हूँ। परम पारिणामिक अर्थात् स्वभाव। यानी शुद्ध उपयोग, स्व-उपयोग में, वीतरागता में!

प्रश्नकर्ता : परमात्मा हूँ, इसका भावार्थ क्या है?

दादाश्री : हाँ लेकिन, परमात्मा ही है न! पारिणामिक भाव के रूप में परमात्मा ही है। यदि पारिणामिक भाव उत्पन्न हो गए तो परमात्मा हो। पारिणामिक भाव अर्थात् स्वभाव। यदि आत्मा स्वभाव में आ जाए तो परमात्मा ही है। वह विभाव में हो तो जीवात्मा है।

क्षायक भाव से दोनों सहज बरतते हैं पारिणामिक भाव में

प्रश्नकर्ता : आपने उपशम भाव, क्षयोपशम भाव, क्षायक भाव कहा है तो इस बारे में अधिक समझाएँगे?

दादाश्री : ऐसा है न, पूरा जगत् औदयिक भाव में है, जानवर

और मनुष्य, सभी। हिन्दुस्तान में बहुत कम लोग उपशम में आए हैं और कोई ही क्षयोपशम भाव में आए हुए हैं। वैसा कोई हो, और वह ये दो लाइनें पढ़े न कि :

सोनुं मढ्या हीराजडित दरवाज़ा तोतिंग,
बंध हता ब्रह्मांडमां गुप्तज्ञान गोपित।
(सोने से मढ़े, हीरे जड़ित दरवाज़े विशाल,
बंद थे ब्रह्मांड में, गुप्तज्ञान गोपित।)

तो उसे सोने और हीरों से जड़े विशाल दरवाज़े दिखाई देंगे, वे बंद हैं ऐसा दिखाई देगा। जबकि इस औदयिक में पढ़ना अर्थात् पढ़ना, उसे दिखाई नहीं देता।

यानी जो क्षयोपशम भाव में आ गए होते हैं न, वे जैसा बोलते हैं उन्हें वैसा दिखाई देता है। बोलना और वैसा दिखाई देना, साथ में होता है तब उसे क्षयोपशम भाव कहा जाता है। जब 'दादा शरणं गच्छामि' बोलते हैं तो दादा दिखाई देते हैं, शरण ली है ऐसे दिखाई देता है। ऐसा बोलते ही चित्तवृत्ति उस अनुसार दिखाती है। शुद्धात्मा बोलते हैं, तो बोलते ही वैसा अंदर *लक्ष* में आ जाता है। बोलते ही उस रूप हो जाता है, क्षायक भाव वाले को ऐसा दिखाई देता है। जबकि आप तो शुद्धात्मा हो गए हैं, तब तो उससे भी अधिक ग़ज़ब का रहेगा।

ओ ईश्वर भजीए तने, मोटुं छे तुज नाम,
गुण तमारा गाता, थाय अमारुं काम।
(हे ईश्वर भजें तुझे, महान तेरा नाम,
गुण तेरे गाते हुए, होवे हमारा काम।)

बच्चे रोज़ ऐसा गाते हैं। उन्हें समझ में नहीं आता कि 'ओ ईश्वर' का मतलब क्या है? 'भजें' क्या है? 'होवे हमारा काम' क्या है? कुछ भी भान नहीं है, जगत् ऐसे औदयिक भाव में है। उसमें से निकलेगा तो उपशम में आएगा और इसके बाद यदि आगे बढ़ेगा तो

क्षयोपशम भाव में आएगा। उसमें कुछ भाव क्षय हो गए होते हैं। क्षयोपशम वाले को कई भाव तो होते ही नहीं हैं। जगत् के लोगों के लिए जो कीमती है, जिसकी बहुत बड़ी बोली लगती है उसे ये क्षयोपशम वाले मुफ्त में भी न लें। उनकी कुछ हद तक की प्रकृति उपशम हो चुकी होती है। वह (प्रकृति) तो उदय कर्म के उदय से आती है, बाकी के भाव शांत रहते हैं।

ऐसा है न, कि जब तक मैं यह ज्ञान नहीं देता हूँ तब तक आत्मा उदयाधीन है, उदय के अधीन है। उसमें फिर, कभी उदय भाव से होता है और कभी उपशम भाव में आ जाता है, कभी क्षयोपशम भाव में आ जाता है। उसे यह क्षायकभाव नहीं रहता। हम ऐसा क्षायकभाव ला देते हैं तो इसके बाद अब और क्या होना बाकी रहा? क्षायकभाव अर्थात् भाव क्षय हो गए सारे। लेकिन अब इसका परिणाम क्या आएगा? तो कहते हैं कि सहज परिणामी *पुद्गल* और सहज परिणामी आत्मा अर्थात् दोनों पारिणामिक भाव में आ जाएँगे।

शुद्धात्मा के पारिणामिक भाव, वही है ज्ञाता-द्रष्टा

आपको पारिणामिक भाव बरतता है। आपको शुद्धात्मा का पारिणामिक भाव दिया हुआ है, इसीलिए वह बरतता है। शुद्धात्मा का पारिणामिक भाव और *पुद्गल* का पारिणामिक भाव दोनों अलग हैं। वाणी से जो बोल देते हैं, वह जैसा बोला जाता है हम तो उसे जानते हैं।

शुद्धात्मा के पारिणामिक भाव, वह तो ज्ञाता-द्रष्टा ही है। बाहर औदयिक भाव में उल्टा-सीधा बोल दिया और इस चंदूलाल के साथ पड़ोसी जैसा संबंध रहा है, इसलिए चंदूलाल से प्रतिक्रमण करवाना है। ये तो पड़ोसी भाव में नहीं रहते हैं, निकटभाव में आ जाने से ऐसा लगता है। इन पौद्गलिक परिणामों की इच्छा नहीं होने पर भी ये आ जाते हैं, इच्छा न हो फिर भी बोल देते हैं।

प्रश्नकर्ता : कई बार, नहीं बोलना हो फिर भी बोल देते हैं, बाद में पछतावा होता है।

दादाश्री : वाणी से जो कुछ भी बोला जाता है उसके हम 'ज्ञाता-द्रष्टा' हैं लेकिन जिसे वह दुःख पहुँचाता है उसके लिए 'हमें' 'बोलने वाले' से प्रतिक्रमण करवाना पड़ेगा। पारिणामिक भाव छोड़ेंगे नहीं। ये तो *पुद्गल* के पारिणामिक भाव हैं।

आत्मा-अनात्मा दोनों पारिणामिक भावों में हैं तो केवलज्ञान

जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं न, वैसे-वैसे फाइलों का *निकाल* होता जाता है। इतने दिनों में आत्मा और अनात्मा, दोनों पारिणामिक भावों में आते रहते हैं। जितनी फाइलों का *निकाल* होता है उतना पारिणामिक भाव उत्पन्न होता है। दोनों पारिणामिक भाव में आ जाएँ, दोनों पारिणामिक भाव हो जाएँ तो उसे कहते हैं केवलज्ञान।

प्रश्नकर्ता : दोनों खुद के भावों में रहे अर्थात् केवलज्ञान।

दादाश्री : स्वपरिणाम और स्वपरिणामी हो जाए, तो हो गया, पूरा हो गया। ऐसा है यह जगत्, बहुत समझने जैसा है।

व्यवस्थित नहीं है पारिणामिक भाव

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि 'यह व्यवस्थित पारिणामिक भाव नहीं है', यह समझाइए।

दादाश्री : व्यवस्थित पारिणामिक भाव नहीं है। इट इज़ दी रिज़ल्ट ऑफ साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स। आप क्लासेस वाले इसका क्या अर्थ निकालते हो, रिज़ल्ट ऑफ साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स?

प्रश्नकर्ता : यों तो रिज़ल्ट का अर्थ परिणाम होता है।

दादाश्री : वह साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स का रिज़ल्ट है जबकि पारिणामिक भाव तो बहुत बड़ी चीज़ है, अलग चीज़ है। आपको समझ में आ गया पारिणामिक भाव?

प्रश्नकर्ता : जी, वे छः तत्त्वों को ही होते हैं।

दादाश्री : अब, यह विशेषण कहाँ पर लागू होगा? वह कुछ ही जगहों पर लगेगा।

पारिणामिक शक्ति-सत्ता दादा की, वहाँ काम निकाल लो

प्रश्नकर्ता : चित्त सतत दादा के पास रहता है, इसका क्या कारण है?

दादाश्री : ये सारी अलौकिक शक्तियाँ हैं। पर अब ऐसा जो रहता है उसका लाभ उठा लेना है।

प्रश्नकर्ता : यह पारिणामिक शक्ति है?

दादाश्री : हाँ, जो जगत् ने देखी नहीं है, यह ऐसी पारिणामिक शक्ति है।

प्रश्नकर्ता : पारिणामिक शक्ति काम करती है?

दादाश्री : हाँ, जगत् उपशम शक्ति में, क्षयोपशममय शक्ति में, उदय शक्ति में, सन्निपात शक्ति में है, जबकि यह पारिणामिक शक्ति में है। अर्थात् जगत् ने नहीं देखी, ऐसी शक्ति। अत: (ज्ञानी) आपको उस शक्ति के साथ बैठा देते हैं, धीरे-धीरे परिचय में रहेंगे तो।

यह कहा है न, जो करोड़ों जन्मों में भी न हो वह एक घंटे में हो जाता है इसलिए काम *निकाल* लेना। बार-बार यह ताल नहीं मिलेगा। एक मिनट के लिए भी फिर से दादा का ताल नहीं मिलेगा, बाकी सब मिलेगा क्योंकि यह पारिणामिक सत्ता है। महावीर भगवान की पारिणामिक सत्ता थी, यह भी पारिणामिक सत्ता है। सिर्फ केवलज्ञान में अंतर है। भगवान का केवलज्ञान संपूर्ण, सर्वांश रूप से था और इस केवलज्ञान में आंशिक कमी है। यों पारिणामिक सत्ता संपूर्ण है। वह (इस काल में) हो नहीं सकता न! ऐसी पारिणामिक सत्ता नहीं हो सकती।

❖❖❖❖❖

[8.6]
स्वसमय-स्वपद

'मैं' परक्षेत्र में प्रवेश न करे, वह है स्वसमय पद

प्रश्नकर्ता : दादा, यह जो स्वसमय और परसमय कहते हैं, वह क्या है?

दादाश्री : पूरा जगत् परसमय में ही रहता है। स्वसमय ही मोक्ष है। अज्ञानता में, 'मैं नगीनभाई हूँ', ऐसा मानकर रात को सो जाता है तब भी वह नगीनभाई है। वह परसमय में ही रहता है जबकि आप रात को सो जाते हो तब भी शुद्धात्मा याद रहता है, वह है स्वसमय।

प्रश्नकर्ता : ऐसा स्वसमय पद किस प्रकार से प्राप्त होता है?

दादाश्री : किसी शराबी को कोई कहे, 'आप में जैसा शराबी आत्मा है, मुझे भी वैसा शराबी बना दो।' वह शराब पीना शुरू करता है, सीख जाता है इसलिए शराबी हो जाता है। देर ही कितनी लगेगी? उसी प्रकार आत्मा में, ज्ञानी की आज्ञा में रहे संपूर्ण रूप से, तब (ऐसा पद प्राप्त) हो जाएगा। संपूर्ण आज्ञा में रहे, संसार की किसी परेशानी में नहीं पड़े, सिर्फ खुद के स्वरूप में ही रहे, परक्षेत्र में नहीं जाए, स्वसमय में ही रहे, एक समय अर्थात् सेकन्ड के छोटे से छोटे भाग में भी नहीं बिगड़े, तब ऐसा हो सकता है। परसमय तो फॉरेन है। होम में, निरंतर स्वसमय रहे तब ऐसा होता है। यदि फीकी चाय आ

जाए तो फिर से परसमय में, बल्कि बिगाड़ता है। 'यह चाय फीकी है, फीकी है।' सीधी तरह से पी नहीं लेता और 'फीकी, फीकी' करके वापस उसमें दो मिनट बिगाड़ता है, फिर कैसे हो पाएगा?

प्रश्नकर्ता : यानी वह स्वसमय वाला *पुद्गल* में एकाकार ही नहीं होता?

दादाश्री : पर की यानी इस शरीर के झमेले, मन के झमेले में नहीं पड़ता। स्व के अलावा बाकी सब पराया है और यह जगत् पराए झमेले किसे कहता है?

प्रश्नकर्ता : ये दूसरे लोगों की।

दादाश्री : दूसरों की। जबकि यह (स्वसमय वाला) पराया झमेला अर्थात् यह शरीर बीमार है या स्वस्थ है, ऐसे किसी झमेले में नहीं पड़ता।

'मैं शुद्धात्मा हूँ' है स्वपद, इससे बरतता है स्वानुभव पद

प्रश्नकर्ता : अपद-स्वपद के बारे में समझाएँगे।

दादाश्री : 'अपद', वह मरणपद है। 'मैं चंदूभाई हूँ', वह 'अपद' है। अपद में बैठकर जो भक्ति करता है वह भक्त है और 'मैं शुद्धात्मा', वह 'स्वपद' है। जो इस 'स्वपद' में बैठकर 'स्व' की भक्ति करे, वह 'भगवान' है।

स्वपद निर्लेप पद है और बाकी सब नाशवंत पद है। स्वपद में अमरता है। ज्ञानी पुरुष ने स्वपद में बैठाकर आपको अमर बना दिया।

सेल्फ का रियलाइज़ होना अर्थात् सभी जन्मों का फल मिल गया। यह तो लिफ्ट मार्ग है, वैभव वाला मार्ग है। लाख जन्मों तक भटकता रहे फिर भी इसमें से एक अक्षर भी प्राप्त नहीं कर पाएगा, ऐसी हैं ये बातें। यह तो स्व-पर की, होम और फॉरेन की बातें हैं।

अंतिम हेतु सिद्धकवाणी, होय ज मंत्रस्वरूपे,
ई मंतरने घूंटता-घूंटता स्वानुभवपद सिद्ध वरते। -नवनीत

(अंतिम हेतु सिद्ध करवाने वाली वाणी, होती है मंत्र स्वरूपी, उस मंत्र को रटते-रटते स्वानुभवपद सिद्ध बरतता है।)

हमने शुद्धात्मा का (अंतिम हेतु सिद्धक) मंत्र आपको दिया है, इससे स्वानुभव बरतता है। यह जो अजपाजाप है, वह अंदर खुद के *लक्ष* की, स्वपद की स्थिरता स्थापित करता है।

स्वानुभवपद अर्थात्, 'मैं वही हूँ' और 'उसी में रहता हूँ' और 'यह (शरीर) पड़ोसी है', ऐसा पद चख ले न तो वह स्वानुभव पद कहलाता है।

दादा की भजना स्थित कराती है स्वपद में

प्रश्नकर्ता : स्वपद में ही रहने के लिए क्या करना चाहिए?

दादाश्री : दादा की *भजना* करने से दादा जैसा बन सकते हैं क्योंकि दादा स्वपद में ही रहते हैं इसलिए उनकी अधिक *भजना* करने से स्वपद में रहा जा सकता है।

पूरे जगत् में जो आनंद है वह आकुलता-व्याकुलता वाला आनंद है और ज्ञानी पुरुष के पास निराकुल आनंद उत्पन्न होता है। *पुद्गल* का कोई लेना-देना नहीं है, तो फिर यह सुख कहाँ से उत्पन्न हुआ? तो कहते हैं, वह जो स्वाभाविक सुख, सहज सुख उत्पन्न हुआ, वही आत्मा का सुख है और इतना जिसे पक्का समझ आ गया न, वह सहज सुख के स्वपद में रहा, वह फिर धीरे-धीरे परिपूर्ण होता है!

अनंत जन्मों से अहंकार पद में ही बैठे थे। अब इस स्वपद में बैठे। स्वपद में स्वानुभव भी बरतता है लेकिन बेहिसाब फाइलें हैं इसलिए शांति नहीं होने देतीं। कितनी सारी फाइलें!

बाहर जब फाइलों के *निकाल* करने होते हैं तब आत्मा द्वैत है, और स्वपद में बैठा तो अद्वैत है। अत: वास्तव में आत्मा द्वैताद्वैत है। जब फाइलों का *निकाल* करना होता है तब, 'अनेकांत में हूँ' और स्वपद में हो तब ''मैं' एकत्व में हूँ।'

अपद में रहता है अस्वस्थ, स्वपद में रहता है स्वस्थ

स्वपद के अलावा अन्य कोई पद ऐसा नहीं है जो निर्लेप रख सके। तप–त्याग वगैरह सारे ही भ्रांति वाले स्टेशन हैं। उसे इनकी भ्रांति है, लेकिन कब तक इन्हें संभाले रखेगा? जब तक उसे समझ में नहीं आ जाता कि मेरा यह धन झूठा है।

व्यवहार में लोग स्वस्थ रहना चाहते हैं लेकिन लोग निरंतर अस्वस्थ रहते हैं। क्योंकि वे अपद में रहते हैं। अपद में हैं इसलिए अस्वस्थ हैं। परक्षेत्र में बैठे हुए हैं। पर के स्वामी होकर बैठे हुए हैं। वे स्वस्थ कभी भी नहीं हो सकते। ऐसी चीज़ें जो कभी भी अपनी नहीं हो सकतीं, उन्हीं में हमने मान्यता रखी है इसलिए अस्वस्थ रहते हैं। स्वपद प्राप्त होने पर ही स्वस्थ हो सकते हैं। स्व में ही स्वस्थ हो जाए तो स्वस्थता का अनुभव होगा, वर्ना अस्वस्थता।

निश्चय स्वपद में और व्यवहार निकाली

प्रश्नकर्ता : स्वपद में से यदि तू हट जाए तो विषधर कालिया नाग तुझे डस लेगा!

दादाश्री : हाँ, स्वपद में से हटा इसलिए! तो अपने सभी प्रश्न स्वपद में से हट जाने की वजह से हैं। उसे स्वपद में फिट करते रहना ही पुरुषार्थ है। हटे कि तुरंत फिट हो जाना, हटे कि तुरंत फिट हो (वापस आ) जाना। बाकी का सब देखने की ज़रूरत ही कहाँ है?

'स्व–पना' 'स्व' में बरते, वह जाग्रत कहलाता है। खुद का स्वरूप और ड्रामेटिक पद होना चाहिए। दो पदों के अलावा इस दुनिया में अन्य कुछ है ही नहीं। लोग यह जानते नहीं हैं। एक ही पद को पकड़ लेते हैं। व्यवहार में पड़ते हैं तो धर्म बंद हो जाता है और धर्म में पड़ते हैं तो व्यवहार बंद हो जाता है। व्यवहार और धर्म दोनों पद एक ही साथ होने चाहिए। जगत् के लोगों ने निश्चय को खुद की

बाउन्ड्री में (संसारी स्वार्थ) में रखा है और व्यवहार को बाउन्ड्री से बाहर रखा है (मैं चंदू हूँ, परिवार मेरा है और इसके अलावा बाकी सब जो पराया है वह व्यवहार है) इसलिए मार खाते हैं। ज्ञान होने के बाद में अब अपना निश्चय स्वपद में होना चाहिए और व्यवहार, वह परार्थ होना चाहिए। (मैं शुद्धात्मा हूँ, इसके अलावा बाकी सब पराया है, वह व्यवहार है) हम स्वार्थ को नहीं पहचानते थे। उस स्वार्थ की बाउन्ड्री भ्रांति रूप थी। अब स्वार्थ को (स्व-अर्थ को) पहचान लिया इसलिए शुद्धात्मा की बाउन्ड्री में आ गए और अगर बाउन्ड्री से बाहर हैं तो परार्थ में आ गए।

❖❖❖❖❖

[9]
स्वरमणता-पररमणता

याददाश्त, वहाँ रमणता अहंकार की

प्रश्नकर्ता : रमणता अर्थात् क्या है? इन्वॉल्वमेन्ट? यानी कि उसमें ओतप्रोत हो जाते हैं, वह?

दादाश्री : नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं है। जो याद रहता है उसी में हमारी रमणता रहती है। रमणता के बिना याद नहीं आ सकता। पकोड़े याद आया करें तो उनमें रमणता होगी तभी पकोड़े याद आएँगे। जलेबी याद आती रहे तो जलेबी में रमणता होगी तो याद आएगी और सुबह सब से पहले चाय याद आती है, तो चाय में रमणता है। सारे कार्य करते हैं लेकिन रमणता चाय में है।

प्रश्नकर्ता : चाय की याद आती है, चाय में वह रमणता किसकी है?

दादाश्री : वह तो अहंकार की है। व्यवहार आत्मा का (खुद का) स्वभाव रमणता करने का है। आइदर हियर ओर देयर। या तो संसार में या फिर आत्मा में। यहाँ रमणता नहीं होगी तो वहाँ पर रमणता है ही और वहाँ रमणता नहीं है तो यहाँ पर है ही, 'आइदर वन' (दोनों में से एक जगह पर)!

प्रश्नकर्ता : यानी कि आप जो कहते हैं न, वह गीता के दूसरे अध्याय में है कि, 'जब तक ब्रह्म के दर्शन नहीं हो जाते तब तक संसार के प्रति यह जो रुचि है वह कम नहीं होगी, वह जाएगी नहीं।'

दादाश्री : कम कैसे हो पाएगी वह? यह रुचि क्या कोई ऐसी-वैसी रुचि है? जलेबी खा ली तो खाने में हर्ज नहीं है लेकिन अगली बार याद करने (पकड़ने) में हर्ज है। पकड़ते हैं, फिर वह हमें पकड़ती है। देखो न, चाय ने कैसा पकड़ा है लोगों को! 'साढ़े आठ बज गए, मेरा सिर दु:ख गया है', कहेगा। 'अरे भाई, बैठ न सीधा। रोज़ चाय सात बजे मिलती है और एक दिन साढ़े आठ हो गए तो क्या बिगड़ गया?' लेकिन सीधा नहीं रहता क्योंकि वह चाय की रमणता में ही रहता है।

रमणता कॉज़ है और ध्यान इफेक्ट है

प्रश्नकर्ता : दादा, ध्यान और रमणता दोनों एक ही चीज़ हैं?

दादाश्री : ध्यान तो परिणाम है। ध्यान में तो एक प्रकार का आनंद लूटना होता है। जबकि यह रमणता तो कार्यकारी चीज़ है। जिसमें रमणता की उसका ध्यान उत्पन्न होता है इसलिए आनंद उत्पन्न होता ही है, नियम से। ऐसे में दादा में रमणता हुई तो वैसा ध्यान उत्पन्न होगा ही। तो उसमें आनंद महसूस होगा।

लगातार उन्हीं विचारों में रमणता करें तो उसे कहते हैं कि ध्यान रूप हो गया। वह ध्यान फिर उसके लिए ध्येय स्वरूप बन जाता है। उसके बाद अपना नहीं चलता।

स्वरूप-स्वभाव में रहना ही है स्वरमणता

प्रश्नकर्ता : स्वरमणता व पररमणता दो शब्द आते हैं तो स्वरमणता क्या है?

दादाश्री : आत्मा की रमणता। 'मैं आत्मा हूँ', और ये मेरे गुणधर्म हैं, ऐसा चिंतवन होना, अर्थात् स्वरूप और स्वभाव में रहना, वह स्वरमणता है।

आत्मा का *लक्ष* रहा करे निरंतर, एक क्षण के लिए भी रुके बिना, तब स्वरमणता कहलाती है। सिर्फ खुद का स्वरूप ही स्वरमणता

है। स्वरमणता अर्थात् परमात्मा में रमणता हुई और पररमणता अर्थात् इस *पुद्गल,* विनाशी में रमणता। इस विनाशी की रमणता संसार है और अविनाशी स्वरूप की रमणता मुक्ति है।

विनाशी की रमणता रिलेटिव रमणता है। स्वरमणता यानी रियल की रमणता। रियल की रमणता हमेशा रहती है और रिलेटिव की रमणता टेम्परेरी एडजस्टमेन्ट है।

संसारी अवस्थाओं में तन्मयाकार, वह है पुद्गल रमणता

प्रश्नकर्ता : संसार की रमणता के बारे में और अधिक समझाएँगे?

दादाश्री : इस संसार में लोगों को देहाध्यास की रमणता रहती है, और जब वे खूब आनंद में होते हैं उस समय, 'ऐसा कर दूँ और वैसा कर दूँ', ऐसी रमणता को *पुद्गल* रमणता कहते हैं। उससे संसार बढ़ता जाता है। जबकि ज्ञाता-द्रष्टा रहना आत्मा की रमणता है। यह आत्मा की रमणता मुक्ति देती है।

यह पौद्गलिक रमणता वाला जगत् है! अवस्थाओं में तन्मयाकार रहने को कहते हैं संसार। अवस्थाओं में तन्मयाकार अर्थात् *पुद्गल* रमणता। 'मैं चंदूभाई हूँ, मैं वकील हूँ, इसका मामा हूँ, इसका ससुर हूँ, इसका फूफा हूँ', दिन भर! 'व्यापार में ऐसे फायदा है, ऐसे नुकसान है', ऐसा जो बोलते रहते हैं, वह सारी *पुद्गल* रमणता है। जैसे संसारी लोग गाते हैं वैसा ही गाना गाते हैं, 'ऐसे कमाया और वैसे गया और यह नुकसान हो गया और फलाना है', और तूफान मचा देते हैं! 'सुबह जल्दी उठने की आदत है मुझे। सुबह उठते ही बेड टी पीनी पड़ती है। फिर वह वाली टी...' ऐसा सब गाता रहता है तब समझना कि यह *पुद्गल* रमणता है। जो अवस्था आती है उसी में रमणता। नींद की अवस्था में रमणता, स्वप्न अवस्था में रमणता, जाग्रत में चाय पीने बैठा तो उसमें तन्मयाकार, काम पर गया तो काम में तन्मयाकार। इस तरह तो फॉरेन वाले तन्मयाकार रहते हैं क्योंकि सहज प्रकृति वाले हैं। ये तो तन्मयाकार भी नहीं रहते। ये तो जब घर पर होते हैं तब व्यापार

(याद आता है), व्यापार में तन्मयाकार रहते हैं। खाना खाते समय चित्त में तो व्यापार में तन्मयाकार रहते हैं। इतनी अपनी आड़ाई है! यदि स्वरूप में तन्मयाकार रहे तो उसका मोक्ष (हो जाता है)।

स्वरूप का ज्ञान मिले और स्वरूप में रमणता की तो वह खुद ही भगवान है। पहले तो पोंक (व्यंजन) खाने गया वहाँ भी रमणता। रिश्तेदार रो रहे हों तो वहाँ रोने में भी रमणता। बाल कटवाने जाए तो बाल कटवाने में भी रमणता। जो भी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, उन सभी में रमणता।

पौद्‌गलिक रमणता से उपजे उपाधि

प्रश्नकर्ता : पौद्‌गलिक रमणता का फल क्या है?

दादाश्री : *पुद्‌गल* रमणता है इसलिए उस रमणता में कड़वा-मीठा लगता रहता है। कभी मीठा लगता है, थोड़ी देर में कड़वा लगता है। बेस्वाद स्वाद आता रहता है। शादी करने जाए तो शादी में बेस्वाद स्वाद होता है, वास्तव में स्वाद नहीं होता तो फिर कोई मरणासन्न हो तब क्या वास्तव में स्वाद आता है बेचारे को? वह तो, जिसे कल्पांत हो वे लोग ही जानते हैं, जगत् कैसे कल्पांत में से गुज़र रहा है!

अत: अभी इस आत्मा की रमणता दूसरी चीज़ों में है। खुद की रमणता को भूल गया है उसी वजह से यह सारी परेशानी है। *उपाधि* में रमणता की तो *उपाधि* (परेशानी) उत्पन्न हो गई। अब खुद में रमणता करे तो निरा सुख, सुख और सुख ही है।

अनादिकाल से अभ्यास हो गया है। या तो देह में रमणता करता है या बाज़ार में रमणता करता है या फिर धर्म की पुस्तकों में रमणता करता है।

शास्त्र-स्वाध्याय, वे सभी पौद्‌गलिक रमणता

प्रश्नकर्ता : धर्म की पुस्तकें तो आत्मरमणता में आती हैं या वह भी संसारी रमणता है?

दादाश्री : आत्मा के अलावा और कहीं भी आत्मरमणा नहीं है। यह सारी *पुद्गल* की ही रमणता है। शास्त्र पढ़ता है, स्वाध्याय करता है, तो शास्त्र भी *पुद्गल* हैं और स्वाध्याय भी *पुद्गल* है, करने वाला भी *पुद्गल* है। यानी कि पौद्गलिक खिलौनों से खेलता रहता है पूरा जगत्, और उसी से *उपाधि* है। आकुल और व्याकुल रहा करता है।

पूरे जगत् के लोग जो कुछ भी करते हैं वह सारा ही संसार है। चाहे कुछ भी कर रहे हों फिर भी संसार ही है। एक बार भी संसार से बाहर नहीं जाते। उसे पररमणता कहा जाता है।

स्वरूप से अनजान व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह सारी ही संसार की रमणता है। फिर चाहे वह कुछ भी करता हो, तप-त्याग-जप-योग करता हो, वह सारी ही संसार रमणता है।

प्रश्नकर्ता : यदि क्रमिक मार्ग के ये सारे साधन *पुद्गल* ही हैं तो आत्मा किस प्रकार से प्राप्त होता है?

दादाश्री : सारे साधन तो *पुद्गल* हैं, लेकिन वहाँ *पुद्गल* के साधन से आत्मा प्राप्त करना है। वे सारे शास्त्र उसे (आत्म) मार्ग पर ले जाने के साधन हैं इसलिए हम उन्हें निकाल नहीं देते, लेकिन है तो *पुद्गल* रमणता। जब तक आत्मा में रमणता नहीं होगी तब तक खिलौनों में रमणता है। फिर भी इसका अर्थ हमें ऐसा नहीं लगाना है कि छोड़ देना है। वह भी मार्ग है।

पुस्तकें भौतिक हैं लेकिन ज़रूरत है। जब तक फर्स्ट स्टैन्डर्ड वाले को आगे बढ़ना है, सेकन्ड स्टैन्डर्ड और थर्ड स्टैन्डर्ड और इन सारे स्टैन्डर्ड में जाने के लिए, इन सभी की ज़रूरत है लेकिन आखिर में आत्मा के लिए किसी भी चीज़ की ज़रूरत नहीं है।

उनसे (भगवान से) पूछें कि क्या यह आत्मरमणता है? तो कहेंगे, नहीं भाई, आत्मरमणता तो आत्मा प्राप्त हुए बिना नहीं हो सकती।

आत्मरमणता के साधन भी मोह, लेकिन ये हैं प्रशस्त मोह

भगवान ने आत्मरमणता के अलावा जो कुछ भी किया जाता है, उसे मोह कहा है। फिर चाहे कुछ भी करो। उस मोह में से इस मोह में आ गया और इस मोह में से उस मोह में गया। जब तक मोह में से बाहर नहीं निकलता तब तक उसका कुछ नहीं हो सकता। वीतरागों की बात कितनी समझदारी वाली है। नहीं?

आत्मरमणता के अलावा बाकी सब मोह है। आत्मरमणता के साधन भी मोह हैं। वह मोह कैसा है? प्रशस्त मोह है।

वह मोह भी प्रशस्त है, वे साधन आपको साध्य फल देंगे लेकिन ऐसे साधन मिलने भी मुश्किल हैं। सच्चे साधन हैं ही कहाँ अभी? यानी कि अभी हिन्दुस्तान के सभी धर्मों की दशा ऐसी हो गई है।

साधन हैं पौद्‌गलिक रमणता, उनमें नहीं है आत्मरमणता

शुद्धात्मा की रमणता ही मुख्य चीज़ है, तब तक इसे *पुद्‌गल* की रमणता कहा जाएगा। यह सारा *पुद्‌गल* ही कहा जाएगा न! जिस भी रूप में कहो, इस रूप में कहो या उस रूप में कहो लेकिन हर तरह से *पुद्‌गल* ही हैं। जितने भी साधन मार्ग पर हैं, वे सब पौद्‌गलिक रमणता में हैं!

पुद्‌गल रमणता को ही संसार कहते हैं। उससे कुछ नहीं हो सकेगा। तू चाहे कोई भी है, उससे भगवान को क्या लेना-देना? भगवान से पूछा जाए कि, 'रमणता कौन सी है?' तब वे कहेंगे, '*पुद्‌गल* रमणता।' तब वह कहेगा, 'साहब, सब शास्त्रों के जानकार हैं।' (तो भगवान कहेंगे) 'उसमें हमें हर्ज नहीं है। वह जो जाना है उसका फल मिलेगा लेकिन रमणता कौन सी है?' तो कहते हैं, '*पुद्‌गल* रमणता।'

'मैं चंदूभाई हूँ और यह सब मेरा है, इसका पति और इसका बाप और इसका मामा।' शास्त्र भी *पुद्‌गल* कहलाते हैं। साधु महाराज जिन शास्त्रों से खेलते रहे हैं, वे भी *पुद्‌गल* खिलौने ही कहे जाएँगे, तब तक कभी भी आत्मरमणता उत्पन्न नहीं हो सकती।

पुद्गल से विराम पाने को ही विरति कहते हैं। पूरा जगत् क्रियाओं में ही पड़ा हुआ है लेकिन मात्र दृष्टि की ही ज़रूरत है। सभी पररमणता में ही हैं। कोई भी स्वरमणता में नहीं है। शास्त्रों से खेलते हैं, शिष्यों से खेलते हैं, फोटो से खेलते हैं, यह सारी संसार रमणता ही है। आत्मरमणता एक सेकन्ड के लिए भी चख लेगा तो छुटकारा हो जाएगा। ज्ञानी के अलावा कोई भी आत्मरमणता में ला ही नहीं सकता।

आत्म प्राप्ति होने तक खिलौनों में रमणता, चित्त स्थिरता के लिए

प्रश्नकर्ता : दादा, और अधिक समझाइए।

दादाश्री : भगवान ने बताया है कि दो प्रकार की रमणता हैं। एक है 'शुद्ध चेतन' में रमणता, इसे परमात्म रमणता कहते हैं और नहीं तो दूसरी है '*पुद्गल*' में रमणता, उसे खिलौनों में रमणता कहते हैं। खिलौनों से खेलते हैं, ऐसा कहा जाता है। खिलौने किसे कहते हैं? जिनके खो जाने पर द्वेष हो और मिलने पर राग हो!

जब तक स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है और स्वरूप में रमणता नहीं हुई है तब तक पूरा जगत् खिलौनों की रमणता में मशगूल है।

क्योंकि, तब तक चित्त को लगाएँ किसमें? जब तक स्वरूप का भान नहीं हुआ तब तक चित्त को किसमें लगाएँ? या तो अंदर लगाएँ, लेकिन अंदर के 'स्वरूप का भान' नहीं है, इसलिए तब तक खुद बाह्य खिलौनों से खेलता है, वर्ना चित्त भटकता रहेगा। जब तक उन खिलौनों से खेलेगा तब तक तो चित्त स्थिर रहेगा!

अब, वह तो जहाँ पर, दूसरी जगह पर रमणता है उसके आधार पर जी पाते हैं। यदि रमणता किसी भी जगह पर, एक परमाणु मात्र में पौद्गलिक रमणता न हो, उसे आत्मा प्राप्त होगा ही।

खिलौनों में रमणता तो इन्टरेस्ट और डिसइन्टरेस्ट उत्पन्न करती है, आत्मरमणता में वैसा नहीं होता।

जो खिलौनों से खेलते हैं वे अवस्था में मुकाम करते हैं और जो आत्मा में रमणता करते हैं वे आत्मा में मुकाम करते हैं। अवस्था में मुकाम करने पर अस्वस्थ रहता है, आकुल–व्याकुल रहता है और आत्मा में रमणता करने पर स्वस्थ, निराकुल रहता है!

ये सब जिन नाशवंत खिलौनों से खेलते हैं, उनका नाश हो जाना है। पूरा वर्ल्ड वस्तु में रमणता नहीं करता, फेज़ेज़ में रमणता करता है।

हम (दादाश्री) परमात्मा के साथ खेलते हैं। जो चैतन्य में रमणता नहीं करते वे सभी खिलौनों से खेलते हैं। हम भगवान के साथ खेलते हैं और भगवान हमारे साथ खेलते हैं। (पौद्गलिक) खिलौने नाशवंत हैं। हम अविनाशी खिलौनों से खेलते हैं, अमर पद में ही रमणता।

स्वभाव प्राप्ति के बाद हो सकती है आत्मरमणता

जब तक किंचित्मात्र भी पौद्गलिक रमणता है तब तक आत्मा प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मा का आभास जैसा होता है लेकिन तथारूप नहीं हो सकता। भगवान ने जैसा तथारूप कहा है, वैसा नहीं हो सकता। वह तो अचल आत्मा है! यह चंचल आत्मा है।

आत्मा में रमणता उत्पन्न हो जाए तब समझना कि अपना मोक्ष हो गया।

पुद्गल में रमणता करे तो *पुद्गल* सार और आत्मा में रमणता करे तो आत्मसार।

जिसकी पौद्गलिक रमणता बंद हो गई हो और जिसकी आत्मरमणता शुरू हो गई हो, वह संन्यासी है।

आत्मा का स्वाद चखने के बाद में आत्मरमणता होती है। पहले स्वाद आना चाहिए, इसके बिना रमणता उत्पन्न नहीं हो सकती न! जब तक आत्मा का स्वभाव उत्पन्न नहीं होता, चखता नहीं है, तब तक प्रकृति ही रचता रहता है। स्वभाव को चखने के बाद में खुद में ही रमणता करता है।

आत्मसुख चखने पर होती है स्वरमणता

'जगत् की विस्मृति रहे', वही सब से अंतिम साधन है। अब यों ही तो विस्मृति नहीं रह सकती। किसी में स्मृति दाखिल हुए बिना जगत् विस्मृत नहीं रह सकता। यानी कि सच्ची आराधना उत्पन्न हुए बिना झूठी नहीं छूट सकती।

अत: जब आत्मा के खुद के स्वरूप की आराधना शुरू होती है, रमणता शुरू होती है, तभी जगत् की विस्मृति रहती है। जब तक यह (संसारी) रमणता चलती है तब तक आत्मा की विस्मृति रहती है। आत्मा हाथ में आए बगैर आत्मा की रमणता उत्पन्न नहीं हो सकती, तब तक सब पौद्‌गलिक रमणता है।

वह जब यहाँ से कम होती है तब दूसरी तरफ चली जाती है। उस तरफ कम होगी तब कहीं और चली जाएगी। लेकिन इधर से उधर इस संसार में ही रमणता है उसकी। जब वह आत्मा का सुख चखता है तभी से उसकी सारी आसक्तियाँ फीकी पड़ती जाती हैं और आत्मरमणता में आता है। इसकी यह जो आसक्ति, संसार की रमणता में थी उसके बजाय जब आत्मा की रमणता चखता है, तभी से रमणता उत्पन्न होती है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा *लक्ष* बैठ जाता है। इस रमणता को ही स्वाद चखना कहा जाता है। चखा है इसलिए रमणता। इससे बेहतर है वह स्वाद। उससे संसार की रमणता बंद हो जाती है और यह रमणता शुरू हो जाती है। इसलिए *लक्ष* बैठ जाता है। वर्ना *लक्ष* नहीं बैठ सकता खुद को! जितना चखेगा उतना खुद को भान होगा कि यह उच्च प्रकार का है।

परिग्रह बाधक नहीं हैं स्वरमणता में लेकिन नहीं आ पाती अंतिम दशा

प्रश्नकर्ता : ऐसी आत्मरमणता उत्पन्न होने के बाद में मोक्ष में जाने के लिए संसार के परिग्रह कितने बाधक हैं?

दादाश्री : जब तक आत्मा में रमणता नहीं हो जाती तब तक

मोक्ष नहीं है। बाकी, परिग्रह बाधक नहीं हैं। परिग्रह चाहे कितने भी हों लेकिन यदि वह खुद आत्मा की रमणता में रहे तो मोक्ष ही है। ऐसा एक तरफा नहीं बोल सकते कि अपरिग्रह से ही मोक्ष है। तुझे यदि स्वरमणता प्राप्त हो चुकी है तो कर न तेरह सौ रानियों से शादी, वे बाधक नहीं हैं! हमें कोई हर्ज नहीं है, तुझ में शक्ति होनी चाहिए। यदि तुझे स्वरमणता प्राप्त हो गई है तो तुझे क्या दिक्कत है? स्वरमणता उत्पन्न होने के बाद किसी भी तरह की रुकावट स्पर्श नहीं करती।

प्रश्नकर्ता : आप कहते हैं कि आपके ज्ञान द्वारा परिग्रहों के बीच भी अपरिग्रही बन जाते हैं तो क्या ऐसा संभव है कि सारे परिग्रहों के बीच भी अंतिम स्थिति की प्राप्ति हो जाए?

दादाश्री : ऐसा है कि अपरिग्रही किस आधार पर है? 'अक्रम विज्ञान' के आधार पर, लेकिन व्यवहार से अपरिग्रही नहीं है। अत: जब तक 'अपरिग्रही दशा' नहीं आ जाती तब तक अंतिम 'वस्तु' हाथ में नहीं आती।

आत्मरमणता तब अद्वैत, संसारी कार्य तब द्वैत

प्रश्नकर्ता : वेदांत में द्वैत-अद्वैत की बात आती है, द्वैत अर्थात् पररमणता और अद्वैत अर्थात् स्वरमणता, ऐसा समझना है?

दादाश्री : हाँ, लेकिन यह द्वैत और अद्वैत दोनों द्वंद्व हैं। जब आत्मा की रमणता में रहता है तब अद्वैत और जब वापस यहाँ सांसारिक कार्य में आ जाता है तब द्वैत।

प्रश्नकर्ता : हाँ, द्वैताद्वैतभाव यानी द्वैत के आधार पर अद्वैत और अद्वैत के आधार पर द्वैत लेकिन जो इन द्वैत और अद्वैत से परे...!

दादाश्री : जो द्वैत और अद्वैत से परे है, वह परब्रह्म! यानी कि यह जो अद्वैत है, यह द्वैत के आधार पर रहा हुआ है। लोगों ने ऐसा कहा है कि शुद्धाद्वैत और विशिष्टाद्वैत। अरे भाई, सिर्फ अकेले नहीं बैठा सकते। जब तक देह है तब तक जितने समय तक आत्मरमणता

में रहा, उतने समय तक अद्वैत है और वापस इस देह में... यों काम करने निकलना पड़ा, वह द्वैत। जब यह द्वैताद्वैतभाव छूट जाए, तब परब्रह्म। तब तक ब्रह्म स्वरूप है, द्वैताद्वैतभाव।

जिस समय उपयोग आत्मा में हो उस क्षण आपकी अद्वैत स्थिति है और फिर आत्मरमणता में से निकलकर इस सांसारिक कार्यों में घुसना पड़ता है, तब ऐसे में द्वैत स्थिति है। द्वैताद्वैत है आत्मा! फिर निर्वाण होने के बाद तो द्वैताद्वैत भी नहीं रहता, कोई विशेषण ही नहीं रहता।

स्वरूप रमणता सुगम ज्ञानी कृपा से

प्रश्नकर्ता : भगवान महावीर के बारे में सुना है कि उपदेश देते हुए या कार्य करते हुए भी उन्हें अखंड स्वरूप रमणता रहती थी!

दादाश्री : हाँ, लेकिन वह भी केवलज्ञान होने के बाद में, केवलज्ञान होने से पहले नहीं। सिर्फ क्रमिक मार्ग में ऐसा नहीं हो सकता। केवलज्ञान होने के बाद हो सकता है। यह अक्रम विज्ञान है, इसलिए इसमें हो सकता है। चौबीसों घंटे रमणता रह सकती है।

यहाँ भेदविज्ञानी की कृपा से आत्मा प्राप्त हो जाता है, तब फिर उसकी रमणता उत्पन्न होती है और जब रमणता उत्पन्न होती है तब वह उसी रूप होता जाता है।

'ज्ञानी पुरुष' आपको अवस्थाओं की रमणता में से उठाकर आत्मरमणता में बैठा देते हैं। फिर इन अनंत जन्मों की अवस्थाओं की रमणताओं का अंत आता है और निरंतर हमेशा के लिए आत्मरमणता उत्पन्न हो जाती है।

एक बार 'ज्ञानी पुरुष' से भेंट हो गई और तार जुड़ गया, आत्मा प्राप्त हो गया, 'स्वरूप की रमणता' में आ गया उसके बाद राग-द्वेष मिट जाते हैं और हो जाता है वीतराग! वर्ना तब तक प्रकृति में और सिर्फ प्रकृति में ही रमणता रहती है! प्रकृति का पारायण खत्म हो गया, तो हो गया वीतराग!

अभी तक पूरा जगत् ऐसा मानता है कि स्वभाव रमणता तो अत्यंत कठिन चीज़ है। बात भी सही है, लेकिन ज्ञानी पुरुष हों और वे ऐसे (सिर पर हाथ रखकर कृपा) करें तो हो जाता है। ज्ञानी पुरुष मोक्षदाता कहलाते हैं।

प्रश्नकर्ता : स्वभाव रमणता का टिकना तो बहुत मुश्किल है न?

दादाश्री : मुश्किल, आपकी भाषा में। वस्तु (आत्मा) स्वभाव में आ जाता है, उसे कुछ करना नहीं होता। ये सारे महात्मा स्वभाव रमणता करते हैं। आप कहते हो कि मुश्किल है। मुश्किल वाला हो तो ये सब कैसे कर पाएँगे?

प्रश्नकर्ता : स्वभाव में आने के बाद में फिर मुश्किल नहीं है लेकिन स्वभाव में आना ही मुश्किल है और उस स्वभाव में ले आते हैं ज्ञानी!

दादाश्री : हाँ, शुरुआत हो जाती है।

आज्ञा रूपी प्रोटेक्शन, करता है स्थिर स्वरमणता में

आत्मा की रमणता उत्पन्न होने के बाद कोई भी काम नहीं रहता। हम आपको आत्मा देते हैं, आपको उसकी रमणता उत्पन्न नहीं करनी पड़ती। हम अंदर ऐसा रख देते हैं कि आप में रमणता उत्पन्न हो जाती है, अपने आप ही। आपको कुछ करना नहीं है, सहज है यह। यदि आपको कुछ भी करना बाकी रहे तो ऐसा निश्चित हो जाएगा कि ज्ञानी पुरुष नहीं मिले हैं। ज्ञानी पुरुष अर्थात् करने के लिए कुछ भी बाकी नहीं रखते। लिफ्ट में बैठाकर मोक्ष में ले जाते हैं और फिर ज्ञानी पुरुष ही चलाते हैं। हमें तो उनकी आज्ञापूर्वक बैठे रहना है। यह स्वरमणता होने के बाद में क्या धर्म करना है? तो उन्होंने जो आज्ञाएँ दी होती हैं, बस उन आज्ञाओं में रहना। आज्ञा ही प्रोटेक्शन है। स्वरमणता प्राप्त हुई है उसका प्रोटेक्शन क्या है? तो कहते हैं, आज्ञा! अतः हम पाँच आज्ञा देते हैं।

एक बार आत्मा जानने के बाद में जब इन पाँच आज्ञाओं का

पालन करता है, उस क्षण आत्मरमणता में आना सीख जाता है। वह रमणता फिर धीरे-धीरे स्थिर होती जाती है और यह *पुद्गल* रमणता बंद होती जाती है। फिर जो इस *पुद्गल* के रमण से मुक्त हुआ, उसे निरंतर मुक्त कहा जाएगा, वह 'परमानंद' दशा है। पर-रमण से मुक्त हुआ। मुक्त ही है, यहाँ बैठे-बैठे भी मुक्त ही है।

अक्रम ज्ञान मिटाता है परभाव-पररमणता

प्रश्नकर्ता : आपके अक्रम ज्ञान द्वारा जो आत्मरमणता शुरू हो जाती है उस ज्ञान के बारे में बताएँगे?

दादाश्री : जो ज्ञान अनात्मा के साथ एकाकार नहीं होने देता, परभाव में, पररमणता में एकाकार नहीं होने देता, वह ज्ञान है और वही आत्मा है। होम डिपार्टमेन्ट में ही रखता है, फॉरेन में नहीं जाने देता।

ज्ञान खुद ही मुक्ति है, मोक्ष में रखता है, बंधन नहीं होने देता।

ज्ञान मिलने के बाद 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा भाव उत्पन्न होने के बाद ये सारे कॉज़ेज़ बंद हो गए। भोक्तापन बंद हो गया और खुद के स्वभाव का, स्वरूप का भोक्ता बन गया। पूरा जगत् पररमणता में है, *पुद्गल* भोक्ता में है और स्वरूप वाले स्वरमणता में, स्वरूप के भोक्ता हैं। स्वरूप का भोक्ता हो गया इसलिए कुछ खराब घुसेगा नहीं न! स्वरमणता उत्पन्न हो गई, वही मोक्ष है।

यह जो जगत् है उसे सत्य मानना और उसी में रमणता करना, वह अशुद्ध चित्त है, और इस जगत् का जो ज्ञान-दर्शन है वह वास्तविक नहीं है ऐसा मानने और वास्तविक वस्तु में रमणता रखने को कहते हैं शुद्ध चित्त। शुद्ध चित्त ही शुद्धात्मा है।

अत: वीतरागों ने कहा है, अनंत परमाणुओं में से जब चित्त स्वरूप में आ जाएगा तब हल आएगा। यानी रमणता किसमें होनी चाहिए? स्वरूप में। हम आपसे बात करते हुए स्वरूप रमणता में रहते हैं। सोते, खाते-पीते, चलते हुए, स्वरूप रमणता में ही रहते हैं!

खुद स्व की रमणता में, वही है भक्ति अक्रम में

प्रश्नकर्ता : इस अक्रमिक मार्ग में भक्ति का स्थान कहाँ आता है?

दादाश्री : अक्रमिक मार्ग में खुद का आत्मा जानने के बाद में, खुद को आत्मस्वरूप का भान उत्पन्न होने के बाद में खुद के स्वरूप की ही भक्ति रहती है, जिसे रमणता कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : तो स्वरूप की रमणता ही स्वरूप की भक्ति है?

दादाश्री : हाँ, यदि भक्ति शब्द कहना हो तो स्वरूप की भक्ति कह सकते हैं, वर्ना खुद को खुद की ही रमणता है। पुरुष होने के बाद में अन्य कोई अवलंबन नहीं रहा न!

प्रश्नकर्ता : पुरुष होने के बाद में भक्ति का स्वरूप कैसा होता है?

दादाश्री : पुरुष होने के बाद में खुद को खुद की ही रमणता है। दूसरी कोई भी रमणता या भक्ति है ही नहीं। अतः खुद के स्वरूप की रमणता या फिर भक्ति कहो, वह खुद के स्वरूप की ही है।

पररमणताओं में उत्तम, ज्ञानी पुरुष की कीर्तन भक्ति

रमणता को ही भक्ति कहते हैं। अज्ञानता में *पुद्गल* रमणता है। अरे, आम देखकर अंदर मीठा लगता है। उस रमणता को देखो न, कैसा मज़ा आता है! चित्त चिपक जाता है वहाँ पर।

यह सारी पररमणता कहलाती है। कब तक है पररमणता? जब तक आत्मज्ञान नहीं हो जाता तब तक स्वरमणता उत्पन्न नहीं हो सकती और तब तक भगवान ने उसे पररमणता कहा है। पररमणता में सर्वोत्तम रमणता कौन सी है? तो कहते हैं, ज्ञानी पुरुष की कीर्तन भक्ति क्योंकि अपना ध्येय, *लक्ष* मिल चुका है। वे ज्ञानी पुरुष, वे ध्येय स्वरूप हैं। जिस जगह पर वे पहुँचे हैं उस जगह पर हमें पहुँचना है, अतः उसे ध्येय का कीर्तन कहा जाएगा। उससे हम ध्येय की तरफ रहते हैं।

बाकी, शास्त्र तो अनंत जन्मों से हैं। शास्त्र मार्गदर्शन देते हैं लेकिन शास्त्र मोक्ष नहीं करवाते। मोक्ष के लिए तो ज्ञानी पुरुष की कीर्तन भक्ति है, वह मोक्षमार्ग पर ले आती है और हमें ज्ञानी पुरुष से मिलवा देती है।

जितनी नज़दीकी ज्ञानी पुरुष की भक्ति, उतना ही वह नज़दीक खिंच जाता है। उसे नज़दीकी भक्ति कहते हैं जबकि कुछ लोगों की भक्ति बहुत लंबी भक्ति होती है। लंबी यानी दस मील दूर से, कई लोगों की दो मील दूर से। उसके शब्द अलग ही दिखाई देते हैं हमें। शब्दों पर से पहचाना जा सकता है कि यह कितने मील दूर से भक्ति कर रहा है और अंत में आत्मा को जानना है।

आत्मा जानने के बाद में अन्य भक्ति करने को रही ही नहीं न! आत्मा जानने के बाद में स्वरमणता ही करनी है। यह भक्ति पररमणता है। यदि ज्ञानी पुरुष से आत्मा जान लिया तो स्वरमणता उत्पन्न होगी। इसलिए फिर स्व की रमणता में ही रहना चाहिए।

ज्ञानी भक्ति है 60 प्रतिशत और आत्मलक्ष है 100 प्रतिशत रमणता

फिर भी इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद दादा याद रहा करें न, तो वह भी आत्मरमणता कहलाती है।

प्रश्नकर्ता : दादा, यह समझ में नहीं आया। ज्ञान नहीं मिला हो तो दादा की कीर्तन भक्ति पररमणता कहलाती है और ज्ञान मिला हो तो वही वस्तु स्वरमणता कहलाती है?

दादाश्री : वह सब स्वरमणता में आता है। ज्ञानी पुरुष खुद का ही प्रकट शुद्धात्मा हैं। अत: उनके लिए जो कीर्तन भक्ति होती है, वह सब स्वरमणता में ही आती है लेकिन वह रमणता साठ प्रतिशत फल देती है। साठ प्रतिशत रमणता तो बहुत बड़ी कहलाएगी। साठ में से वह सौ प्रतिशत हो जाएगी।

क्योंकि ज्ञानी पुरुष, वे खुद का ही आत्मा हैं। अतः मूल आत्मा को समझने में तो अभी देर लगेगी लेकिन अगर ज्ञानी पुरुष की रमणता करेंगे न... इस प्रकार आँखों के सामने दिखाई दें चलते-फिरते, फिर उससे ज़्यादा और क्या चाहिए?

फिर, दादा याद रहें, ये पद गाते रहोगे न, तो साठ प्रतिशत रमणता रहेगी। सिर्फ पद ही गाते रहो घंटे-दो घंटे और फिर जुबानी हो जाएँगे तो बैठे-बैठे भी वे (पद) चलते रहेंगे।

फिर भी सही तरह से दादा याद आएँ तो उसे निजस्वरूप का साधन कहा जाएगा, निजस्वरूप नहीं कहा जाएगा और आपको शुद्धात्मा का *लक्ष* रहे तो उसे निजस्वरूप की रमणता कहा जाएगा।

प्रकृति को निहारना ही है स्वरूप भक्ति व स्वरमणता

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि स्वरूप रमणता ही स्वरूप भक्ति है, तो अब ज्ञान मिलने के बाद में हमें ऐसी भक्ति किस प्रकार से करनी है?

दादाश्री : चंदूभाई जो भी करे उस प्रकृति को निहारना, वह स्वरूप भक्ति है। प्रकृति को निहारने में क्या करना होता है? जो निहारता है उसके लिए प्रकृति रिस्पॉन्सिबल नहीं है। जो नहीं निहारते उनके लिए रिस्पॉन्सिबल है।

कैसा आत्मा प्राप्त हुआ है! ओहोहो! जो प्रकृति को निहारता है। खुद प्रकृति रूप में रहकर भटका था, वह खुद की प्रकृति को निहारता है। अब क्या? जो ज्ञाता थी वही ज्ञेय बन गई, जो द्रष्टा थी वह दृश्य बन गई।

प्रश्नकर्ता : हम जो विधियाँ बोलते हैं, नमस्कार विधि बोलते हैं, चरणविधि बोलते हैं, वह स्व की भक्ति कहलाती है या हम प्रकृति को देखते हैं वह?

दादाश्री : नहीं-नहीं, ये जो विधियाँ बोलते हैं वे तो चंदूभाई

बोलते हैं। चंदूभाई छूटने (मुक्त होने) के लिए बोलते हैं लेकिन उसे आप जानो कि चंदूभाई क्या बोले, कहाँ चंदूभाई की कमी रह गई और भूल कहाँ पर हुई। जो यह सब जानता है, वह आप हो। आप और चंदूभाई, दोनों साथ में ही हो लेकिन दोनों का व्यापार अलग है।

प्रश्नकर्ता : वह तो अलग ही है।

दादाश्री : हाँ! बस-बस। दोनों के व्यापार को एक कर दोगे तो मार पड़ेगी। प्रकृति को निहारना, उसे स्वरूप भक्ति या स्वरमणता, जो भी कहो वह।

प्रकृति को निहारना, वह स्वरमणता है तो प्रकृति के अंदर क्या-क्या आया? तब कहते हैं, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, इन्द्रियाँ, यह सब प्रकृति में आ गया। कोई चंदूभाई से कहे, 'चंदूभाई, आप में अक्ल नहीं है। कॉन्ट्रैक्ट का काम ठीक से नहीं करते हो।' तब यदि चेहरा उतर जाए और उसे वह खुद निहारे, तो बस हो गया। आपको खुद को पता चलेगा कि चेहरा उतर गया। उसमें कोई दिक्कत नहीं है लेकिन उन लोगों को दिक्कत है। चेहरा उतर जाए तो आपको दिक्कत नहीं है, लेकिन उसे देखो।

सारे व्यवहार करते हुए, रमणता आत्मा में ही

प्रश्नकर्ता : आपने जो ज्ञान प्राप्त किया है वह हमें क्यों प्रकाश में नहीं आता?

दादाश्री : आ गया है फिर भी ऐसा कह रहे हो?

प्रश्नकर्ता : फिर भी आपके पास अलौकिक वस्तु है।

दादाश्री : हाँ, अलौकिक वस्तु है इसीलिए तो आपका दीप जला। आपका दीप जलने से आपको लाभ हुआ। अब यह दीप जला है तो जिस दीप से यह प्राप्ति हुई है वैसी ही शक्ति आपको प्राप्त होती रहेगी धीरे-धीरे।

बाकी, आप दिन भर आत्मा में ही रमणता करते हो और आत्मा

आप में रमणता करता है। बोलो, अब आप में और आत्मा में फर्क क्या रहा?

प्रश्नकर्ता : दादा, यह ज़रा ज़्यादा समझाएँगे?

दादाश्री : पहले आप वकालत में ही रमणता करते थे, दिन भर। यह कानून, वह कानून, दिन भर उसी में रमणता करते थे, खाते-पीते हुए हर समय और अब दिन भर आत्मा में ही रमणता करते हो। बाहर, खाते-करते हो, सभी कुछ करते हो लेकिन रमणता वहीं पर, बाकी सब अलग। भगवान ने क्या कहा है कि अपनी रमणता में आने के बाद जो रमणता आपकी नहीं है उससे दूर रहो, आपका इतना भाव रहना चाहिए।

ज्ञान मिलते ही अहंकार मुड़ा आत्मरमणता की ओर

जिसने आत्मरमणता की उसका कल्याण हो गया। आप में आत्मरमणता उत्पन्न हो गई है निरंतर। एक क्षण के लिए भी कम नहीं हो, ऐसी। आप भूल जाओ लेकिन रमणता (आपको) भूलेगी क्या? आप भूल जाओगे तो आपकी चित्तवृत्ति बासुंदी में चली जाएगी। लेकिन वह रमणता (आपको) नहीं भूलेगी न!

आत्मा की रमणता ठीक से रहती है न?

प्रश्नकर्ता : हाँ, दादा।

दादाश्री : अब शरीर, शरीर का धर्म निभाएगा। शरीर कहीं आत्मरमणता नहीं करेगा। मन, मन का धर्म निभाएगा, बुद्धि अपना धर्म निभाएगी और अहंकार आत्मरमणता करेगा। वह, जो पहले संसार का अहंकार करता था, उसके बजाय अब आत्मा की तरफ मुड़ा। अतः आत्मरमणता उत्पन्न हुई, जो कि निरंतर रहती है।

हमें अब आत्मयोग में ही रहना चाहिए। जब तक देह का योग है तब तक भौतिक है सारा। देह तो है अपने पास लेकिन देह में रमणता नहीं करनी है, आत्मा में रमणता करनी है। देह में रहकर लोग

सभी प्रकार की रमणता करते हैं। कोई व्यक्ति दान देने की रमणता करता रहता है और कोई व्यक्ति जेब काट लेने की रमणता में घूमता है। उसी तरह से यह है आत्मा की रमणता जहाँ किसी भी प्रकार का रूपी पदार्थ नहीं है। आत्मा अरूपी है।

ज्ञानी पुरुष मिल जाएँ तो वे स्वरमणता देते हैं। खुद का स्व का शुरू हो गया उसके बाद यदि रमणता चूकेगा तो उसे निर्बलता कहा जाएगा। खुद की रमणता शुरू होने के बाद में, स्वरमणता उत्पन्न होने के बाद में कमज़ोर पड़ेगा तो उसे भूल कहा जाएगा।

'चंदू' ज्ञेय है, 'मैं' उसका ज्ञाता; यह है चेतन की रमणता

प्रश्नकर्ता : मुझे शास्त्र पढ़ने की बड़ी गांठ है।

दादाश्री : नहीं, वह तो चंदू को है, तुझे नहीं है न? कितने ही शास्त्र पढ़ लेने की आदत?

प्रश्नकर्ता : हाँ, सभी शास्त्र पढ़ता हूँ।

दादाश्री : वे सभी खिलौने हैं, और 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ज्ञाता-द्रष्टा, 'चंदूभाई क्या कर रहे हैं उसे देखता रहूँ', उसे आत्मरमणता कहते हैं। 'आत्मा के साथ खेला', ऐसा कहते हैं। आत्मा के साथ खेलने का मार्ग है अपना। इन खिलौनों से खेलना... ऐसे तो पूरा जगत् खेलता ही है लेकिन चेतन जैसा आत्मा, ये परमात्मा खुद उनके साथ खेलते हैं। इसे आत्मरमणता कहते हैं। इस शरीर में रमणता, भौतिक चीज़ों में रमणता, जड़ चीज़ों में रमणता और यह चेतन में रमणता।

ज्ञान से पहले और बाद में रमणता करने वाला वही का वही

प्रश्नकर्ता : जो रमणता करता है वह कौन है?

दादाश्री : जो मुक्त हुआ था, जो और चीज़ों में रमणता करता था, वही अब आत्मा में रमणता करता है।

रमणता करने वाला एक ही है। जो वकालत में रमणता कर रहा

था, वही इसमें रमणता करता है। जब वकालत में कर रहा था तब अहंकार माना जाता था। अब इसमें रमणता करता है तब 'मैं' माना जाता है और आत्मा में रमणता करने से 'खुद' विलय होकर उसमें विलीन हो जाएगा।

आत्मा की रमणता शुरू हो गई इसलिए पररमणता बंद हो गई। शरीर भले ही रहा। शरीर, शरीर के धर्म में है; मन, मन के धर्म में है। बुद्धि, बुद्धि के धर्म में है; आत्मा, आत्मा के धर्म में है। फिर दिक्कत क्या है? अतः आपसे कहते हैं न, काम-काज करना, कोई दिक्कत नहीं है।

पुद्गल ही भोजन, *पुद्गल* ही पेय और *पुद्गल* रमणता, जगत् में सभी में ये तीनों ही चीज़ें हैं। इनके अनेक नाम दिए गए हैं। खाने-पीने की चीज़ें 'लिमिटेड' हैं लेकिन रमणता 'अन्लिमिटेड' हैं। पूरा जगत् *पुद्गल* से खेलता (रमणता करता) है!

जबकि अपने लिए तो यहाँ सब आत्मरमणता वाला! *पुद्गल* खाना भी नहीं, पीना भी नहीं और रमणता भी नहीं। (निरंतर) आत्मरमणता। भोजन भी आत्मा का, पेय भी आत्मा का और रमणता भी आत्मा की।

प्रतिक्षण जाग्रत रह सके, ऐसा आत्मा हाथ में दिया है, इसमें आपकी रमणता है। आप परफेक्ट धर्म में हो।

आराधना करने जैसा, रमणता करने जैसा तो सिर्फ यह 'रियल' ही है! 'शुद्धात्मा' की रमणता अर्थात् निरंतर 'शुद्धात्मा' का ध्यान रहना! अब स्वरमणता करनी है, और कुछ भी नहीं करना है।

स्वरमणता है शुद्ध उपयोग, वही है शुद्ध निश्चय

प्रश्नकर्ता : शुद्ध उपयोग के समय आत्मरमणता ही होती है न दादा?

दादाश्री : हाँ! शुद्ध उपयोग को आत्मरमणता कहते हैं। सामने

वाले को शुद्ध देखा जाए, गधे को, कुत्ते को, गाय को, भैंस को, पेड़ को, सभी को शुद्ध देखा जाए तो उसे शुद्ध उपयोग कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : सही है दादा! शुद्ध उपयोग ही आत्मरमणता है।

दादाश्री : *पुद्गल* रमणता परउपयोग है और स्वरमणता स्वउपयोग, स्वरमणता शुद्ध उपयोग है। आत्मा देखने को शुद्ध उपयोग कहा जाएगा। ज्ञानी द्वारा दिए गए, दिखाए गए आत्मा को देखो तो वह शुद्ध उपयोग है।

जितना शुद्ध उपयोग, उसे कहते हैं शुद्ध निश्चय, वही शुद्ध आत्मरमणता और तभी शुद्ध व्यवहार रहता है। जितना शुद्ध निश्चय होगा उतनी ही व्यवहार शुद्धता रहेगी। निश्चय एक तरफ कच्चा, अशुद्ध हो जाए तो उतनी व्यवहार अशुद्धता।

हमें तो अब सब साफ करके स्व-उपयोग में रहकर और मोक्ष में जाना है। स्वरमणता, आत्मरमणता, स्व-उपयोग, जो कहो वह, उसमें रहकर!

प्रश्नकर्ता : दादा, लेकिन पहले तो आत्मरमणता, स्व-उपयोग, आत्मा, इन सारी बातों में कोई रुचि नहीं थी और आज तो जब ये बातें सुनते हैं तो इससे आनंद छलक जाता है।

दादाश्री : पहले की वह बात तो किसके घर की बात थी? बड़े लोग हैं, वे श्रीखंड और बासुंदी, ऐसा सब खा रहे हों, और यहाँ हम उसकी बात करें तो उससे कहीं हमारा मुँह थोड़े ही मीठा हो जाता है?

प्रश्नकर्ता : नहीं होता।

दादाश्री : वे सारी बातें बुद्धि को बढ़ाने वाली हैं। उससे दखल में पड़ा। इसमें तो मूल मार्ग पर आ गए, वस्तु हाथ में आ गई। स्व-उपयोग हाथ में आ गया, आत्मरमणता हाथ में आ गई और पररमणता टली। *पुद्गल* में जो रमणता थी वह टल गई।

स्वरमणता में रहे तब बाहर व्यवस्थित ही है

प्रश्नकर्ता : मन में ऐसा बैठ गया है कि शुद्धात्मा का जो *लक्ष* हुआ है उससे पहले तो आत्मा और देह की भिन्नता के बारे में पता नहीं था। अब आत्मा के प्रदेशों में यह जो *पुद्गल* भरा हुआ है, वह व्यवस्थित के अनुसार बाहर निकलेगा न?

दादाश्री : व्यवस्थित के अनुसार निकलता है। उसमें हमारी रमणता नहीं है।

प्रश्नकर्ता : हम खुद, अपने आप में रहें और जब उसका काल परिपक्व होगा तब व्यवस्थित कहा जाएगा न?

दादाश्री : खुद में रहें तो बाहर व्यवस्थित ही है। आपको यदि खुद में रहना आ जाए और आपका वैसा पुरुषार्थ हो तो बाहर व्यवस्थित ही है। यह तो बाहर बिगाड़ते हो। खुद में नहीं रहने के कारण बिगाड़ते हो बाहर, अव्यवस्थित करते हो।

व्यवस्थित मनुष्य को फिसला दे तब भी स्टेप बाई स्टेप फिसलाता है जबकि मनुष्य अव्यवस्थित करता है, खुद छलाँग लगाता है। यानी व्यवस्थित इतनी अधिक हेल्प करता है और अहंकार इतना सब बिगाड़ देता है। अहंकार से ही तो यह जगत् ऐसा हो गया है। अहंकार, शुद्ध अहंकार होता तो ऐसा नहीं होता।

अभी हमने जिन्हें ज्ञान दिया है वे अगर स्वरमणता में रहेंगे तो बाहर व्यवस्थित ही रहेगा और यह ज्ञान ऐसा है कि रमणता में रहा जा सकता है। पाँच आज्ञा में रहें तो रमणता में हैं ही।

देखे–जाने वह स्वरमणता, वही है आत्मलीनता

प्रश्नकर्ता : बस, अब स्वरमणता में ही रहना है।

दादाश्री : खुद की रमणता किस प्रकार से होती है? देखे और जाने, और कुछ भी नहीं करना है उसमें।

यह लाइट हो तो उसकी रमणता में वह क्या करती है?

प्रश्नकर्ता : प्रकाश देती है।

दादाश्री : देखती और जानती है, खुद और कुछ भी नहीं करती न?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

दादाश्री : अभी यदि आपको दर्द हो रहा हो तो नीचे आएगी?

प्रश्नकर्ता : नहीं

दादाश्री : समझ में आया तुझे?

प्रश्नकर्ता : यानी कि आत्मा में ही लीनता?

दादाश्री : लीनता अर्थात् रमणता, बस। रमणता अर्थात् ज्ञाता-द्रष्टा, अन्य कोई रमणता ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : आत्मप्रतीति, आत्मज्ञान और आत्मलीनता ही।

दादाश्री : इसके बिना किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। आपको आत्मा की प्रतीति हो गई है। आत्मज्ञान हो रहा है। आत्मलीनता धीरे-धीरे होगी।

प्रश्नकर्ता : इसके लिए हम जिन शब्दों का उपयोग करते हैं वे हैं प्रतीति, *लक्ष* और अनुभव।

दादाश्री : हाँ, तो यह जो अनुभव है उसे आत्मलीनता कहते हैं और *लक्ष* को जागृति कहते हैं और दर्शन को प्रतीति।

नापसंद में रमणता के ज्ञाता, वही स्वरमणता

(इस स्वरूप की ज्ञान प्राप्ति के बाद) मोक्ष तो हो ही गया है लेकिन अब जो रमणता हो जाती है वह दो प्रकार की है।

(1) 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा जानते हो और जो नापसंद हो ऐसी

रमणता करनी पड़ती है। बाहर जाना अच्छा नहीं लगता लेकिन पहले हस्ताक्षर कर दिए हैं इसलिए उस रमणता में रहना पड़ता है।

(2) दूसरी है स्वरूप की रमणता।

अन्य लोग पहले प्रकार की रमणता में तन्मयाकार हो जाते हैं। जबकि हमें भी (पहले प्रकार की) रमणता आती ज़रूर है लेकिन हम उसके ज्ञाता-द्रष्टा रहते हैं। उसमें हम तन्मयाकार नहीं हो जाते।

प्रश्नकर्ता : हाँ, सही है। चंदू को देखते रहते हैं।

दादाश्री : चंदू जो करता है वह ज्ञेय है और आप ज्ञाता हो। आप ज्ञाता हो वह स्वरमणता है। ज्ञेय को देखना ही स्वरमणता है।

नहीं है अब प्रमाद रूपी पररमणता, ज्ञान के बाद

प्रश्नकर्ता : महात्माओं को अब प्रमाद कितने अंश तक बाधक है?

दादाश्री : महात्माओं को कोई प्रमाद रहता ही नहीं। प्रमाद शब्द, जब तक अहंकार है तभी तक है।

प्रश्नकर्ता : तो प्रमाद का अर्थ क्या है?

दादाश्री : प्रमाद अर्थात् पर में वृत्ति रखना, पररमणता।

प्रश्नकर्ता : तो महात्माओं को उस पररमणता का कितना जोखिम है?

दादाश्री : हम आपसे ऐसा नहीं कह सकते कि पररमणता है क्योंकि हमारे ज्ञान देने के बाद प्रमाद रहता ही नहीं। सिर्फ हमारी आज्ञा का पालन करे न, तो उसे कुछ भी नहीं रहता।

प्रश्नकर्ता : आज्ञा में निरंतर रहे तब फिर नहीं रहता, पहली बात यह है!

दादाश्री : निरंतर, सत्तर प्रतिशत, और सहज हो जाने के बाद कुछ भी नहीं करना होता, आज्ञा का पालन भी नहीं करना होता। सहज होने के बाद आज्ञा का अपने आप ही पालन होता रहता है।

प्रश्नकर्ता : भगवान महावीर ने गौतम स्वामी से कहा था कि एक समय भी प्रमाद मत करना लेकिन गौतम स्वामी को वह समकित तो हो गया था न!

दादाश्री : क्रमिक मार्ग में जब तक केवलज्ञान नहीं हो जाता तब तक अहंकार रहता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, हमें भी कहाँ केवलज्ञान हुआ है?

दादाश्री : (आपको) केवलज्ञान ही दिया है इसलिए अहंकार चला गया है। कर्तापद का अहंकार चला गया है और भोक्तापद का रहा। आप कसौटी में से निकल गए हो!

ज्ञानी की अप्रमत्त दशा, लेकिन नहीं है वह पूर्णत्व

प्रश्नकर्ता : यह जो अप्रमत्त दशा कहते हैं, वह इसी को कहते हैं?

दादाश्री : नहीं, नहीं, नहीं। अप्रमत्त तो इससे बहुत आगे है?

कम्प्लीट स्वरमणता में ज़रा सा बाकी रहे तब अप्रमत्त कहते हैं। हम अप्रमत्त कहे जाएँगे, थोड़ा बाकी है। स्वरमणता है न, इसलिए अप्रमत्त कहा जाएगा। यानी कि उस क्षण हम जाग्रत होते हैं।

प्रमत्त का अर्थ प्रमाद नहीं है। लोगों ने यह जो प्रमत्त लिखा है न, उसका अर्थ प्रमाद नहीं है। लोग कहते हैं न, कि 'यह प्रमादी है', वह प्रमाद नहीं है। प्रमत्त अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ में रहना, उसे कहते हैं प्रमत्त और अप्रमत्त अर्थात् कषायों से बाहर निकलना, वह अप्रमत्त।

'मेरा स्वरूप नहीं है' कहते ही, छूट जाती है पौद्गलिक रमणता

प्रश्नकर्ता : ज्ञान लेने के बाद हमें पौद्गलिक रमणता निकालनी होती है या ऑटोमैटिक चली जाती है?

दादाश्री : चली ही जाती है। जिस प्रकार जलेबी खाने के बाद चाय के प्रति अभाव होता ही रहता है। उसमें मज़ा नहीं आता, उसे

इन्टरेस्ट नहीं रहता, अपने आप छूट जाती है। लेकिन एक नियम ऐसा है कि अगर बीड़ी छूट जाए तो हमें कहना है कि, 'बीड़ी से हमारा संबंध हमेशा के लिए खत्म।' इतना शब्द बोलना है क्योंकि जिस चीज़ की दुकान खुली हो न, उसमें उसके परमाणु घुस जाते हैं सारे। यानी कि बीड़ी पीना बंद हो जाए तब से बीड़ी की दुकान बंद, उस दुकान में घुसती ही नहीं न फिर!

प्रश्नकर्ता : यानी कि, 'हमारी बीड़ी हमेशा के लिए बंद', ऐसा बोलना है।

दादाश्री : और जो चीज़ नहीं खानी हो तो उसके लिए, 'मेरा स्वरूप नहीं है', ऐसा कहोगे तो वह सब छूट जाएगा। 'मेरा स्वरूप नहीं है', ऐसा कहने से सब छूट जाएगा।

सिद्ध स्तुति व पाँच आज्ञा से बढ़ती है आत्मरमणता

प्रश्नकर्ता : महात्माओं को 'निज वस्तु' में अधिक रमणता कैसे रह सकती है?

दादाश्री : रमणता तो दो-चार प्रकार से होती है। कोई और रमणता करना नहीं आए तो घंटे-दो घंटे 'मैं शुद्धात्मा हूँ', 'मैं शुद्धात्मा हूँ', बोलोगे तब भी चलेगा। ऐसा करते-करते रमणता आगे बढ़ेगी।

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने दो-चार प्रकार की आत्मरमणता बताई, उस बारे में ज़रा और समझाइए।

दादाश्री : ये कुछ लोग 'शुद्धात्मा, शुद्धात्मा' करते हैं। कुछ लोग लिखकर 'शुद्धात्मा' करते हैं, इसमें लिखकर करने से देह भी उसी रमणता में आ जाता है। देह और वाणी दोनों, तो मन तो उसमें रहता ही है और कुछ लोग यह बाहर का व्यवहार चल रहा हो फिर भी यदि वास्तव में मन से शुद्धात्मा की रमणता करे न, उसके गुणों की, तो वह सिद्ध स्तुति कहलाती है। वह बहुत काम निकाल देती है, बहुत फल देती है।

पहले स्थूल करोगे न, तो *पुद्गल* रमणता छूटने लगती है। ऐसे करते-करते सूक्ष्मता आती है और यदि उसके गुण ही बोलते रहो, और शुद्धात्मा के गुणों में रमणता करोगे, जैसे कि, 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', 'मैं अनंत दर्शन वाला हूँ', 'मैं अनंत सुख का धाम हूँ', 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ' बोलोगे, तो वास्तविक रस उत्पन्न हो जाएगा! उसे वास्तविक रमणता कहते हैं। वह तुरंत ही, 'ऑन द मोमेन्ट' फल देती है! खुद के सुख का अनुभव होता है।

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* के रस दबाने से आत्मा के रस उत्पन्न होते हैं?

दादाश्री : नहीं, दबाने का कोई अर्थ ही नहीं है। वे तो अपने आप ही फीके पड़ जाएँगे। एक-एक घंटे तक आत्मा के गुण बोलोगे तो तुरंत ही काफी कुछ फल देगा। यह तो नकद फल देने वाली चीज़ है, या फिर सभी में 'शुद्धात्मा' देखते-देखते जाओगे तब भी आनंद होगा, ऐसा है।

'मैं शुद्धात्मा हूँ', निरंतर ऐसा *लक्ष* में रहे व औरों को शुद्ध देखा जाए तो उसे शुद्ध रमणता कहते हैं। वह रमणता आत्मा की रमणता है। फिर दूसरी है, समभाव से *निकाल* करते समय आत्मा की रमणता। समभाव से *निकाल* करते हो तो वह आत्मा की रमणता है। फिर पाँचवाँ पद है, शुद्धात्मा का खाता यानी कि यहाँ पर आए, यह आत्मा रमणता। अर्थात् अपने लिए पाँचों ही आज्ञाएँ आत्मरमणता हैं।

पौद्गलिक क्रिया को देखना और जानना, वह है स्वरमणता

प्रश्नकर्ता : आपने पहले कहा कि आत्मा की रमणता अर्थात् *पुद्गल* की सभी क्रियाओं को देखना व जानना, और बाद में फिर ऐसा भी कहा कि आत्मा के गुणों को याद करना, तो इन दोनों में क्या अंतर है?

दादाश्री : देखना व जानना... और वही है आत्मरमणता। ये जो पौद्गलिक क्रियाएँ होती हैं आपकी, चंदूभाई जो भी करते हैं उसे

देखना व जानना और हर प्रकार से गहराई में उतरना, सूक्ष्म से सूक्ष्म बात में, वह है आत्मरमणता। गुणों को याद करना वह आत्मा का, खुद का निश्चयबल बढ़ाने के लिए है, जागृति बढ़ाने के लिए है, संपूर्ण दशा के लिए है।

आत्मा के गुणों को याद करने से आत्मा की दृढ़ता व निश्चयबल बढ़ते हैं। अत: गुणों को याद करना। खुद अपनी पूर्णाहुति करते हैं, गुण याद करके, और पौद्गलिक क्रियाओं को देखना और जानना तो पूर्णाहुति होने के बाद ही आ सके, ऐसा है। ये दोनों अलग चीज़ें हैं।

गर्मी से बहुत परेशान हो, तब ठंडी हवा आए तो खुश होता है। अरे, ज्ञान लिया है और खुश क्यों होता है? यह *पुद्गल* सुख चख रहा है? हमें *पुद्गल* सुख नहीं चखना चाहिए, फिर भी चख लेता है। अनादि से अभ्यास है न! फिर हम उसे समझाते हैं कि इसमें तन्मयाकार मत हो जाना। फिर भी वैसा एकदम से नहीं हो जाता, देर लगती है, धीरे-धीरे होता है। वर्ना आराम से वहीं पर रुक जाता है और इस प्रकार *पुद्गल* का सुख भोग लेता है, रमणता करता है, उस क्षण वह आत्मरमणता चूक जाता है। निरंतर रह सके, ऐसी आत्मरमणता दी है फिर भी देखो, *पुद्गल* में रमणता करता है न? गर्मी में से आया हो और एकदम से हवा लगे तब चैन की सांस लेता है तो किसमें रमणता की? *पुद्गल* में। ऐसा करता है या नहीं करता?

फिर भी इसके लिए परेशान होने जैसा नहीं है। आप ऐसे पद पर बैठे हो कि इतने छोटे से नुकसान का कोई हिसाब ही नहीं है। पाँच लाख कमाया हुआ हो और उसके सौ रुपये खो जाएँ तो उसका हिसाब नहीं है।

एक पुद्गल को देखना ही है आत्मरमणता

प्रश्नकर्ता : आत्मरमणता में भगवान सतत कैसे रहते थे?

दादाश्री : महावीर भगवान सिर्फ एक ही *पुद्गल* को देखते रहते थे। जो खुद का *पुद्गल* था न, उसमें अंदर क्या हो रहा है,

मानसिक क्रिया, अन्य क्रियाएँ, और क्या-क्या हो रहा है, उसे देखते रहते थे। अन्य कुछ भी नहीं देखते थे। वही सब बहुत होता है।

प्रश्नकर्ता : एक *पुद्गल* को देखते थे, यानी भगवान महावीर आत्मा में रमणता करते थे या *पुद्गल* को देखते थे?

दादाश्री : *पुद्गल* को देखना और जानना, इसी को आत्मरमणता कहते हैं। भगवान महावीर क्या करते थे? एक ही *पुद्गल* में दृष्टि स्थिर करके रहे थे, तब फिर केवलज्ञान उपजा था।

केवलदर्शन होने से पहले ग्यारहवें गुणस्थानक में *पुद्गल* रमणा करते हैं और केवलज्ञान होने के बाद निरंतर स्वरूप की रमणता में रहते हैं। *पुद्गल, पुद्गल* में रमणता करता है और स्वरूप, स्वरूप में रमणता करता है।

अपनाओ तरीका भगवान महावीर का

प्रश्नकर्ता : भगवान महावीर खुद के एक *पुद्गल* को ही देखते थे, इस पर से क्या कहना चाहते हैं, दादा?

दादाश्री : भगवान महावीर तो बस, सिर्फ खुद के ही *पुद्गल* को देखते रहते थे। वह तो उन्हें दिखाई ही देता था निरंतर। एक ही *पुद्गल* में दृष्टि रखते थे। एक ही *पुद्गल,* अन्य कुछ नहीं।

अर्थात्, भगवान महावीर यही देखते थे कि *पुद्गल* क्या करता है। बुद्धि क्या करती है, मन-चित्त क्या करता है, यही देखते थे। एक ही *पुद्गल,* अन्य कुछ नहीं। अन्य किसी दखल में पड़ते ही नहीं थे। हम सभी प्रयत्न करते हैं लेकिन कुछ देर रहकर वापस वह हट जाता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, हम प्रयत्न करते हैं, कुछ देर रहता है लेकिन फिर हट जाता है।

दादाश्री : क्योंकि बाहर का अभ्यास ज़्यादा है न! उनका तो बिल्कुल ही जुदापन का अभ्यास। *पुद्गल* की कोई ऐसी-वैसी चीज़

होती थी तब उसका निरीक्षण करते थे कि वह क्या-क्या करता है। वह सब पता चलता था, ऐसा था।

प्रश्नकर्ता : लेकिन खुद के एक ही *पुद्गल* का, बाहर कोई दखल नहीं।

दादाश्री : नहीं तो और क्या? एक *पुद्गल* को देख पाएँ तो बहुत हो गया। वर्ना बाहर दखल हो ही जाएगा, वे ऐसा कहना चाहते हैं। यही हम कहते हैं कि आप देखने का अभ्यास करो लेकिन हो नहीं पाता। कुछ देर रहता है, फिर भूल जाता है। कितनी ही देर तक बाहर का सब देखता रहता है!

प्रश्नकर्ता : वह स्टेज आएगी तो सही न?

दादाश्री : प्रयत्न वही रहता है लेकिन हो नहीं पाता न! रह नहीं पाता न, जाता है और आता है, जाता है और आता है। इतना समझकर रखना है कि एक ही *पुद्गल* को देखना है।

एक *पुद्गल* का जो स्वभाव है वही सर्व *पुद्गलों* का स्वभाव है। स्वभाव एक ही तरह का है। यानी मैंने आपको भगवान का तरीका बताया है। उस प्रकार से चलो अब। चंदूभाई के मन-बुद्धि-चित्त क्या करते हैं, चंदूभाई क्या-क्या कर रहे हैं, इन सब का निरंतर ऑब्जर्वेशन करना (देखना) ही कम्प्लीट शुद्धात्मा है।

प्रश्नकर्ता : मान लीजिए, मैंने इस प्रकार से उपयोग सेट किया कि मुझे देखना है कि मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार क्या करते हैं, लेकिन कोई हमें कुछ और पूछने लगे, 'भाई, कितने बजे हैं?' ऐसा व्यवहारिक है या दूसरा कुछ है, तब तो हमें बोलना ही पड़ेगा न, न चाहते हुए भी?

दादाश्री : हाँ, लेकिन वे तो एक *पुद्गल* को देखते थे।

प्रश्नकर्ता : मान लीजिए कि भगवान महावीर एक *पुद्गल* को देखते हैं और उस समय गौतम स्वामी उनसे प्रश्न पूछें तो उसका जवाब मिलेगा न?

दादाश्री : तब भी वे एक ही *पुद्गल* को देख रहे होते, उसमें कहाँ परेशानी है?

प्रश्नकर्ता : तो वह जवाब बाहर का भाग देगा न?

दादाश्री : भगवान महावीर तो जवाब नहीं देते। उस क्षण जो बाहर वाला भाग था वही जवाब देता है। उस क्षण वही (भाग) है।

प्रश्नकर्ता : ठीक है लेकिन बाहर वाला भाग हम किसे कहते हैं? एक *पुद्गल* और उसके अलावा का भाग?

दादाश्री : देखने वाले के लिए बाहर वाला भाग है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : देखने वाले के लिए बाहर वाला भाग नहीं है?

दादाश्री : हंअ। जो देखने और जानने वाला है, उसमें (विभाव रूपी) बाहर वाला भाग नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : तो उसमें सिर्फ देखना और जानना ही आता है, एक *पुद्गल* को देखने में।

दादाश्री : उसमें इतना ही जानना है कि तू यह जो बोल रहा है न, उसे जो देखता और जानता है उसी को ज्ञान कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, ऐसा कब रह पाएगा?

दादाश्री : आप तो इसी प्रयत्न में रहते हो न! अंत में यह करना है, ऐसा सब तो रहता है न?

प्रश्नकर्ता : सही है। अंत में ऐसा *लक्ष* में रहना चाहिए कि यह करना है।

दादाश्री : रहता ही है सभी को, शब्द नहीं समझे फिर भी इसी तरह से तो बोलते हैं। अंत में आत्मरमणता, स्वरमणता, सबकुछ एक ही है। स्वरमणता अर्थात् वही, वह भगवान महावीर की तरह एक *पुद्गल* को ही देखता है।

प्रश्नकर्ता : आपको भी ऐसा ही रहता है न दादा?

दादाश्री : हमारा थोड़ा कच्चा रहता है न! हो और न भी हो, वह ज़रा कच्चा रह जाता है। यह जो तू बोल रहा है न, वह पररमणता में बोल रहा है। दिन भर पररमणता में रहते हो आप। निश्चय से स्वरमणता में लेकिन आपका निश्चय व्यवहार में ही बरतता है।

प्रश्नकर्ता : दिन भर?

दादाश्री : वह तो ऐसा ही है। (फिर भी) यह तो बहुत उच्च पद कहा जाता है।

स्वरमणता की प्राप्ति, निर्ग्रंथ हो जाने पर

अब, यह पूरा जगत् 'ज्ञेय' स्वरूपी है और आप 'ज्ञाता' हो। आपका 'ज्ञायक' स्वभाव उत्पन्न हुआ है। फिर अब बाकी क्या रहा? 'ज्ञायक' स्वभाव उत्पन्न होने के बाद में 'ज्ञेय' को देखते ही रहना है। ज्ञायक स्वभाव ही स्वरमणता है। एक ही भाव में, ज्ञाता-द्रष्टाभाव में ही रहना है।

प्रश्नकर्ता : अभी तो कठिन है वह।

दादाश्री : अभी वैसा नहीं रह पाएगा न! अभी बाहर देखना पड़ता है आपको। लेकिन यदि वह बिना अटैचमेन्ट के होगा तो उसे ज्ञाता-द्रष्टा कहा जाएगा और अटैचमेन्ट सहित होगा तो उसे इन्द्रिय ज्ञान कहा जाएगा।

प्रश्नकर्ता : तन्मय हो जाए तब वह इन्द्रिय ज्ञान है?

दादाश्री : नहीं। तन्मय हो जाए फिर भी अटैचमेन्ट सहित हो तो इन्द्रिय ज्ञान कहा जाएगा। अटैचमेन्ट नहीं है तब फिर वह कहीं पर तन्मय हो गया है लेकिन इस तरह तन्मय होने को सचमुच में तन्मय होना नहीं कहा जाएगा। उसे फिर से यह कभी अलग तो करना ही होगा। सतत ही रहना चाहिए। जहाँ तन्मय हो जाते हैं वहाँ कोई ग्रंथि

है। वह ग्रंथि छूट जानी चाहिए। अब समझ जाना चाहिए कि तन्मय हो जाते हैं तो ग्रंथि है अपने में।

निर्ग्रंथ हो जाने के बाद ही स्वरमणता, निज मस्ती प्राप्त होती है।

प्रकृति को निहारना ही है रियल पुरुषार्थ

प्रश्नकर्ता : पहले आपने एक वाक्य कहा था कि, 'तू विकल्प मत करना लेकिन यदि विकल्प हो जाए तो विकल्प और विकल्पी, दोनों को देखना तो मुक्त हो जाएगा।'

दादाश्री : देखना, सही है। वही स्वरमणता है!

'प्रकृति' पराधीन है, आत्माधीन नहीं है। जो 'प्रकृति' को पहचान जाए वह परमात्मा बनता है। 'पुरुष' को पहचानने पर 'प्रकृति' पहचानी जा सकती है। ज्ञान होने के बाद में पुरुष हो जाते हैं। पुरुष हो गया इसलिए पुरुषार्थ शुरू हुआ और पुरुष का पुरुषार्थ क्या होता है? तो कहते हैं कि यह जो प्रकृति है, उसे निहारता ही रहे। प्रकृति को निहारना ही स्वरमणता है।

स्वरमणता केवल चारित्र हो जाने तक ही

हमें ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में आना है। उसे चारित्र कहते हैं। जितना अखंड ज्ञान-दर्शन होगा उतना ही चारित्र उत्पन्न हो जाएगा।

चारित्र अर्थात् रमणता। द्रष्टाभाव में रहना वह। ज्ञाता-द्रष्टा में रहना और उसमें रमणता होना, वह है चारित्र।

आत्मा की रमणता अर्थात् 'मैं शुद्धात्मा हूँ' का *लक्ष* यहाँ से लेकर अंत में 'शुद्ध चारित्र' में बरते, वहाँ तक।

प्रश्नकर्ता : क्या स्वभाव रमणता ही यथाख्यात चारित्र है?

दादाश्री : हाँ, उसे यथाख्यात कहते हैं। उससे आगे का चारित्र केवल चारित्र कहलाता है। जब यह पूर्ण हो जाएगा तब केवल चारित्र कहलाएगा।

फिर वीतराग चारित्र में ही, उनकी रमणता उसी में रहा करती है, वह है भगवान महावीर का चारित्र।

आत्मा की पूर्ण दशा उत्पन्न होने तक यह रमणता रहती है। आत्मा की रमणता कब तक? खुद की पूर्ण दशा उत्पन्न हो जाए तब फिर रमणता रहेगी ही नहीं न! खुद, खुद (पूर्ण स्वरूप, परमात्मा) ही हो गया न! अतः वह आत्मा की पूर्ण दशा है।

स्वरमणता, पूर्ण दशा होने के लिए ही

प्रश्नकर्ता : आत्मा में रमणता हो जाएगी न? खुद की पूर्ण दशा हो जाएगी न?

दादाश्री : हो ही जानी है! वे जिस रास्ते पर चले हैं, वह गाँव तो आएगा ही न, भाई। अब फिर दिशा ऐसे बदल नहीं जाएगी। मेन लाइन पर आने के बाद में कोई दिक्कत नहीं है न!

यही, उसी की लाइन है यह। यही उसका स्वभाव है। कुछ करना भी नहीं है, उसका स्वभाव ही करेगा। स्वभाव में ही रमणता, उसी को आत्मरमणता कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : फिर 'खुद', 'खुद' ही हो गया!

दादाश्री : 'खुद' जो था वह मूल 'खुद' ही हो गया। अतः रमणता की दशा खत्म हो गई!

हमारे ज्ञानी महात्माओं में स्वरमणता और निज मस्ती... ये निज मस्ती में रहने के लिए स्वरमणता में ही रहते हैं।

❖❖❖❖❖

[10]
स्वक्षेत्र-क्षेत्रज्ञ

[10.1]
स्वक्षेत्र-परक्षेत्र

'आत्मा' स्वक्षेत्र, 'मन-वचन-काया' परक्षेत्र

प्रश्नकर्ता : स्वक्षेत्र और परक्षेत्र के बारे में ज़रा समझाकर बताइए न, दादा।

दादाश्री : आत्मा से बाहर रहे तो वह है परक्षेत्र। 'मन-वचन-काया' परक्षेत्र में है, 'मैं' स्वक्षेत्र में है। दोनों के क्षेत्र अलग ही हैं। स्वक्षेत्र का अस्तित्व अविनाशी है, परक्षेत्र का अस्तित्व विनाशी है। परक्षेत्र में बैठे हैं इसलिए भ्रांति बरतती है, स्वक्षेत्र में आने से भ्रांति टूट जाती है।

जब तक अज्ञान है तब तक परक्षेत्र का ही स्वरूप है। यों तो इस जगत् में, देह में रहो या संसार में, सबकुछ परक्षेत्र ही है और अगर आत्मा में आ गया तो वह स्वक्षेत्र। यह आरोपित भाव परक्षेत्र है। आरोपित भाव, 'मैं चंदूलाल हूँ', ऐसा बोलता है, इसे परक्षेत्र कहते हैं।

खुद के स्वरूप में रहकर बोले, 'मैं हूँ', तो वह अहंकार नहीं है लेकिन जब परक्षेत्र में रहकर 'मैं' बोला जाए तो वह अहंकार है।

परक्षेत्र में निरंतर दुःख व भय, स्वक्षेत्र में निर्भय

आत्मा परक्षेत्र में गया तो सिर्फ दुःख ही रहा करता है, लेकिन गायों-भैंसों में आवरण हैं इसलिए दुःख नहीं होता। परक्षेत्र में भी जितने ज़्यादा आवरण उतना ही उसे दुःख का असर कम महसूस होता है।

मेरा एक भी समय ऐसा नहीं बीता है जब मुझे यह संसार दुःखदायी न लगा हो क्योंकि मैं एक्ज़ेक्टनेस ढूँढ रहा था न! खटमल आते तो मैं खटमलों को भी काटने देता था, यानी एक्ज़ेक्टनेस और खटमल को हटा दिया जाए तो संसार दुःखदायी लगेगा ही नहीं न! (संसार) दुःखदायी होने के बावजूद भी दुःखदायी नहीं लगता, वह कैसा मोह है? हर क्षण दुःखदायी, हर क्षण भय वाला, निरंतर भय! एक समय के लिए भी भय रहित नहीं है, ऐसा है यह जगत् क्योंकि परक्षेत्र में बैठा हुआ है और जहाँ स्वक्षेत्र है वहाँ पर कोई भय ही नहीं है।

'पर' की इन चार भूलों की वजह से अनंत भटकन

खुद के घर में किसी को डर लगता है क्या? नहीं लगता। वैसे ही आप अपने घर में बैठे ही नहीं हो। परक्षेत्र में बैठे हो, और फिर क्षेत्राकार हो गए। आत्मा संकोच-विकास होने के भाजन वाला है। तू क्षेत्रज्ञ और क्षेत्राकार हो गया है। क्या वह बड़ी भूल नहीं है? पराई चीज़ का तू स्वामी बन बैठा है लेकिन वह तेरे साथ नहीं रहती। पराई सत्ता को फिर आप अपनी सत्ता मानते हो। खुद ही सबकुछ कर रहा है, आपको ऐसा भान है और पराई चीज़ों के भोक्ता बन बैठे हो। इन चार भूलों की वजह से अनंत जन्मों से (चौरासी लाख योनियों में) भटक रहा है।

परसत्ता, परभोक्ता, परक्षेत्र, 'पर' के स्वामी बन बैठे हैं। 'स्व' के स्वामी बन जाएँ तो मृत्यु नहीं है, खुद ही परमात्मा है।

पूरा जगत् परक्षेत्र में बैठा हुआ है और सत्ता भी परसत्ता का

उपयोग करते हैं। 'स्व' को, स्वक्षेत्र को और स्वसत्ता को जानते ही नहीं हैं।

स्वक्षेत्र में स्वसत्ता व अनंत शक्ति, परक्षेत्र में परसत्ता व अशक्ति

स्वक्षेत्र को नहीं जानता इसलिए परक्षेत्र में निवास किया। यानी वास्तव में परक्षेत्र को खुद का क्षेत्र मान लिया गया और परक्रिया को, परसत्ता को खुद की सत्ता मान लिया गया, इसी को कहते हैं संसार। स्वक्षेत्र में आ जाए तो स्वसत्ता का उपयोग हो पाएगा। लोग पराई सत्ता को खुद की सत्ता मानकर भटक रहे हैं।

खुद की जगह पर आ जाएगा तो फिर हटेगा नहीं। खुद की जगह पर चला जाए तो खुद परमात्मा ही है।

दो तरह की शक्तियाँ हैं : खुद की यानी स्वक्षेत्र की और परक्षेत्र की। स्वक्षेत्र में ब्रह्मांड हिलाने की शक्ति है, जबकि परक्षेत्र में पापड़ तोड़ सकने की शक्ति भी नहीं है। उसे तो व्यवस्थित चलाता है। (खुद पापड़) तोड़ने का कर्ता नहीं है।

जब तक स्वक्षेत्र में है तब तक अमृत टपकता है, वर्ना निरंतर विष टपकता रहता है।

छूटा स्वामित्व परक्षेत्र का, मिला स्वक्षेत्र का

पूरा जगत् परक्षेत्र को स्वक्षेत्र मान बैठा है। यही मैं हूँ और यही मेरा क्षेत्र है। हम आपको ज्ञान देते हैं तब परक्षेत्र को समझने लगे हो कि परक्षेत्र में मैं-पन था, वह स्वक्षेत्र में रहना चाहिए लेकिन फिर आपको एकदम से ऐसा रह नहीं पाता न? ये *निकाल* करने हैं न सारे? हल लाने हैं न सारे? मेरे काफी कुछ हल आ चुके हैं।

(मेरा इस) शरीर में स्वक्षेत्र में ही मुकाम है। फिर ड्रामा भी चलता है दिन भर लेकिन अंदर खुद के क्षेत्र में ही मुकाम है।

स्व और पर के बीच संपूर्ण जाग्रत रहे और पर में नहीं घुसे,

वही अदीठ तप है। यह मार्ग तो स्व-पर वाला मार्ग है। बाहर तो स्व और पर का भान ही नहीं है न!

यहाँ स्व-पर का विवेक हुआ है। भेद पड़ गया है, यह स्वक्षेत्र और यह परक्षेत्र। तो यहाँ परक्षेत्र का स्वामित्व छुड़वाकर स्वक्षेत्र का स्वामित्व दे दिया जाता है।

स्वक्षेत्र में पुरुष पद पर होता है पुरुषार्थ व पराक्रम शुरू

अपना 'मैं' पहले परक्षेत्र और परसत्ता में था, अब वह 'मैं' स्वक्षेत्र में और स्वसत्ता में आ गया है। इसलिए पुरुषार्थ और पराक्रम की शुरुआत होगी।

बाकी, अब यदि कोई भी उलझन हो तो समझना कि हमने स्वक्षेत्र से बाहर परक्षेत्र में हाथ डाला है। तो तुरंत ही कह देना कि, 'यह मेरा स्वरूप नहीं है', कहते ही छूट जाएगा।

प्रश्नकर्ता : 'यह मेरा नहीं है', कहते ही छूट जाएगा।

दादाश्री : हाँ! 'मेरा नहीं है। मेरे स्वरूप में यह नहीं है और जिसमें है वह मेरा स्वरूप नहीं है। बनना और बिगड़ना मेरे स्वरूप में है ही नहीं। निरंतर परमानंदी है। जहाँ संसार का ज़रा भी... बिल्कुल दु:ख का अभाव बरतता है', यानी पुरुष होने के बाद का अपना ऐसा पुरुषार्थ होना चाहिए।

नहीं देना है दखल कोई, सिर्फ देखना है मन-बुद्धि और चित्त को

आप ज्ञाता-द्रष्टा यानी चंदूभाई का कैसा चल रहा है, यह आपको देखते रहना है और चंदूभाई का मन क्या कर रहा है, यह देखते रहना है। क्योंकि मन आपके ताबे में नहीं रहा, बुद्धि आपके ताबे में नहीं रही, चित्त आपके ताबे में नहीं रहा। सबकुछ इस तरफ आ गया है और आप अलग रह गए। अत: आपको आपके क्षेत्र में ही रहना है। अब क्षेत्र से बाहर नहीं निकल सकते। परक्षेत्र में थे, अब स्वक्षेत्र में

आ गए। अत: परक्षेत्र में दखल नहीं होना चाहिए। यानी कि चंदूभाई के मन को-बुद्धि को-चित्त को देखते रहना चाहिए कि ये सब क्या कर रहे हैं। खराब कर रहा है या गलत कर रहा है, ऐसा नहीं देखना (नोंध नहीं करना) है लेकिन हमें यही देखते रहना है कि वह क्या कर रहा है। अच्छा-बुरा है ही नहीं भगवान के यहाँ। अच्छा-बुरा तो समाज के हिसाब से है।

आत्मा के अलावा सभी चीज़ें सड़ी हुई हैं। सिर्फ आत्मा ही है जो नहीं सड़ता। उसे कुछ नहीं हो सकता, ऐसा है। तो हम आत्मस्वरूप हो गए तो काम हो जाएगा, वर्ना सब बेकार। आत्मस्वरूप होने की ज़रूरत है, और कुछ नहीं। यह शरीर कट जाए या चाहे कुछ भी हो, हमें देहस्वरूप नहीं होना है। परक्षेत्र में जाएँगे तो संसार कड़वा ज़हर जैसा लगेगा।

स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल-स्वभाव में आ जाएगा, तब होगी मुक्ति

प्रश्नकर्ता : द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव, इस बारे में विस्तार से समझाइए।

दादाश्री : आप जिस जगह पर बैठे हो वह क्षेत्र है, स्पेस। द्रव्य आप खुद हो लेकिन अज्ञानता में दोनों परद्रव्य, परक्षेत्र हैं।

अज्ञानता में जो इस *पुद्गल* को 'मैं हूँ', ऐसा कहता है, वह परद्रव्य है। खुद अपने आपको परद्रव्य मानता है। फिर परक्षेत्र, यह क्षेत्र तो *पुद्गल* का है जबकि खुद का क्षेत्र उससे अलग है। तो इस परक्षेत्र के लिए ऐसा कहता है कि यह मेरा क्षेत्र है। परभाव अर्थात् खुद का जो मूल स्वभाव है उससे अलग जो विभाव है, विशेष भाव है, उसमें खुद 'मैं हूँ' मानता है।

अत: अभी यहाँ जो भाव उत्पन्न हुआ न, यह *पुद्गल* भाव है, यह आत्मभाव नहीं है। और पर-काल, काल भी अलग। अभी पूछने में यह जो टाइम है, यह पर-काल कहलाता है।

अतः परभाव, परद्रव्य, परक्षेत्र और पर-काल सबकुछ पराया है, और स्वभाव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र और स्वकाल में आना है, तब मुक्ति होगी।

प्रश्नकर्ता : द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव, महात्माओं में किस प्रकार से बदल गए हैं?

दादाश्री : अब अपना क्या हुआ है? परद्रव्य स्वरूप थे, तो स्वद्रव्य स्वरूप हो गए। परक्षेत्र में थे, तो स्वक्षेत्र में आ गए। पर-काल में थे, तो स्वकाल में आ गए। स्वकाल कैसा है? सनातन है और पर-काल में विनाशी था और स्वभाव में आ गए, परभाव से छूट गए। वह जो *गलन* है उसमें तो कोई बदलाव नहीं होगा। वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, जिस भाव से *गलन* होना होगा, उसी अनुसार होता रहेगा। हो चुकी चीज़ है, उसमें कोई बदलाव नहीं हो सकता।

स्वक्षेत्र में रहना है, स्वद्रव्य में रहना है, स्वभाव में रहना है और स्वकाल में रहना है। स्वकाल अर्थात् मृत्यु ही न आए और पर-काल अर्थात् मृत्यु का कारण, इतना समझ गया तो हल आ जाएगा न, वर्ना हल किस प्रकार से आएगा?

स्वक्षेत्र-स्वद्रव्य-स्वभाव-स्वकाल, ये चारों खुद ही शुद्धात्मा हैं

प्रश्नकर्ता : ये द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, ये जो चारों हैं, इनमें आत्मा क्षेत्र में किस प्रकार से रहा हुआ है?

दादाश्री : अस्तित्व का जितना भाग अवकाश को रोकता है न, वह उसका क्षेत्र कहलाता है। अवकाश अर्थात् आकाश कहते हैं न, उतने भाग को क्षेत्र कहते हैं। वह क्षेत्र भी फिर बदलता रहता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और भव बदलते रहते हैं। भव तो ऐसा है कि एक जन्म मनुष्य का मिले तो मनुष्य जन्म पाँच, पचास, सौ साल तक भी रह सकता है लेकिन ये चार तो बदलते ही रहते हैं निरंतर।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का द्रव्य भी बदलता है?

दादाश्री : आत्मा का द्रव्य नहीं, आत्मा पर जो परद्रव्य लागू हुए हैं इस संसार भाव से, वे सारे बदलते रहते हैं। क्षेत्र बदलता रहता है, उसके आधार पर काल बदलता रहता है और उसके आधार पर भाव भी बदलते रहते हैं। अभी निर्भयभाव उत्पन्न हो रहे हैं। भय वाली जगह पर जाए तो भय उत्पन्न होगा। समय-समय पर बदलता ही रहता है, निरंतर। जीवमात्र के लिए बदलता ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : दादा, आप यह जो बात कर रहे हैं न, वह परक्षेत्र की है, मुझे स्वक्षेत्र के बारे में पूछना है। आत्मा स्वक्षेत्र में किस प्रकार से रहा हुआ है?

दादाश्री : वह तो ऐसा है न, कि खुद के स्वक्षेत्र-स्वद्रव्य-स्वभाव और स्वकाल, ये चारों भाव भी खुद ही है, यही शुद्धात्मा है, और कुछ है ही नहीं। यह तो, सिर्फ परक्षेत्र में से निकालने के लिए स्वक्षेत्र का वर्णन किया है। क्षेत्र अर्थात् खुद का जो अनंत प्रदेशी भाग है उस क्षेत्र को वास्तव में क्षेत्र नहीं कहते, लेकिन उसे समझाने के लिए ऐसे समझाया है। इसकी ज़रूरत नहीं है। हमें 'शुद्धात्मा', बस इतनी ही ज़रूरत है। बाकी इसमें बहुत गहरे नहीं उतरना है। इसमें काल भी नहीं होता। आत्मा पर काल लागू नहीं होता। आत्मा को भाव नहीं होता, स्वभाव ही होता है। खुद स्वभाव से ही ज्ञाता-द्रष्टा है लेकिन बाहर के इन चारों को समझाने के लिए वह स्व... यानी 'पर' में से 'स्व' में आओ।

बाकी, शुद्धात्मा ही है। सर्व प्रकार से स्वभाव यानी कि खुद का अन्य कोई स्वभाव है ही नहीं। ज्ञाता-द्रष्टा-परमानंदी ही उसका स्वभाव है अर्थात् खुद का निज स्वभाव है और वह भाव *पुद्गल* में नहीं है। जो भाव आत्मा का नहीं है उस भाव को परभाव कहा गया है। जो आत्मा का नहीं है फिर भी आत्मा का माना जाता है, वह परभाव, परक्षेत्र के अधीन है। जब तक परभाव को मान्य किया है तब तक वह परक्षेत्र कहलाता है। द्रव्य भी पूरा पर कहलाता है। अर्थात् स्व में ले जाने के लिए यह सारा हेतु समझाया है। शुद्धात्मा समझ में आ

गया तो हो गया, सारा काम हो गया। बाकी उसका कोई क्षेत्र-वेत्र नहीं होता। स्वक्षेत्र, यह तो वर्णन किया है सिर्फ शास्त्रकारों ने।

परभाव के जाने पर स्वक्षेत्र में रहकर, अंत में सिद्धक्षेत्र में स्थित

प्रश्नकर्ता : जब देखो तब आप वैसे के वैसे ही लगते हैं, कोई अंतर नहीं लगता। यह क्या है?

दादाश्री : यह कोई फूल है जो मुरझा जाए? यहाँ तो अंदर परमात्मा प्रकट होकर बैठे हैं! वर्ना जर्जरित हुए दिखेंगे! जहाँ परभाव का क्षय हो गया है, निरंतर स्वभाव जागृति रहती है, परभाव के प्रति जिसे किंचित्मात्र भी रुचि नहीं रही, एक अणु-परमाणु जितनी भी रुचि नहीं रही, फिर उन्हें और क्या चाहिए?

परभाव के क्षय से और भी आनंद अनुभव होता है। अत: आप उस क्षय की ओर दृष्टि रखना। परभाव जितना क्षय हुआ उतना ही स्वभाव में स्थित हुआ। बस, इतना ही समझने जैसा है, अन्य कुछ करने जैसा नहीं है। जब तक परभाव है तब तक परक्षेत्र है। परभाव जाने के बाद कुछ समय के लिए स्वक्षेत्र में रहकर और फिर सिद्धक्षेत्र में स्थित हो जाता है। स्वक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र का दरवाज़ा है!

❖❖❖❖❖

[10.2]
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ

विनाशी है क्षेत्र, अविनाशी है क्षेत्रज्ञ

प्रश्नकर्ता : गीता में कृष्ण भगवान ने क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और ज्ञाता और ज्ञान के बारे में बताया है, वह समझाइए।

दादाश्री : क्षेत्र अर्थात् इस शरीर में जो विनाशी भाग है वह क्षेत्र है और शरीर में जो अविनाशी भाग है वह क्षेत्रज्ञ है।

अविनाशी है वह क्षेत्रज्ञ है और वह खुद ही ज्ञाता है। ज्ञाता कब होता है कि जब ऐसा जाने कि यह विनाशी है और उसमें से मुक्त हो जाए, तब। देहाध्यास छूटने पर ज्ञाता होता है वह। वर्ना फिर अविनाशी तो है ही लेकिन उसमें ज्ञातापन नहीं रहता। अभी आप में ज्ञातापन नहीं है।

मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, ये सब क्षेत्र हैं, हम इनके क्षेत्रज्ञ हैं। यह शरीर क्षेत्र कहलाता है और खुद क्षेत्रज्ञ कहलाता है। इसमें क्षेत्रज्ञ यानी आत्मा ही, और उसे कुछ करना नहीं है, क्षेत्र को समझना है। जहाँ 'करना' होता है वहाँ पर भ्रांति उत्पन्न होती है और इसीलिए तो वहाँ पर सारे बंधन हैं। जो-जो नहीं बताया गया है वह करने से बंधन है।

खुद तो क्षेत्रज्ञ है लेकिन परक्षेत्र में मुकाम है और खुद की सत्ता क्या है, वह जानता नहीं है इसीलिए चिंता होती है।

क्षेत्रज्ञ शक्ति, खुद की ज़बरदस्त अनंत शक्ति है। खुद की शक्ति

स्वक्षेत्र में है। खुद की शक्ति क्षेत्रज्ञ है। वह क्षेत्रज्ञ शक्ति उत्पन्न हो गई तो काम हो जाएगा। संपूर्ण शक्ति क्षेत्रज्ञ है। बाकी यह सब भ्रांति है।

खुद के क्षेत्र में हो तो क्षेत्रज्ञ है, भगवान है और खुद के क्षेत्र में नहीं है और 'मैं चंदू हूँ', तो वह सब इगोइज़म है।

आत्मा क्षेत्रज्ञ, प्रकृति क्षेत्र

प्रश्नकर्ता : गीता के तेरहवें अध्याय में कहा गया है कि, 'क्षेत्रज्ञ्', 'क्षेत्रज्ञ् अभिचमावीद सर्व क्षेत्रे।' यानी कि इन सब क्षेत्रों को जानने वाला जो क्षेत्रज्ञ है वह मैं हूँ, हे अर्जुन! तू ऐसा जान, इसमें वे क्या कहना चाहते हैं?

दादाश्री : कृष्ण भगवान ने कहा था, आत्मा क्षेत्रज्ञ है और वही मैं हूँ और बाहर जो प्रकृति है वह क्षेत्र है। आत्मा के अलावा प्रकृति भाग क्षेत्र है और मैं क्षेत्रज्ञ हूँ। इस पूरे क्षेत्र को जानने वाला मैं हूँ, कहा है।

अर्जुन क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ समझता था। तो कहते हैं, तू यहाँ भूल कर रहा है, यानी कि यह क्षेत्र है और तू क्षेत्रज्ञ को जान। मैं 'क्षेत्रज्ञ' हूँ इसलिए तू मुझे जान और पहचान, ऐसा कहा।

तू क्षेत्रज्ञ है, और जो प्राकृत क्षेत्र है तू उसका क्षेत्रज्ञ है। प्राकृत पुरुष नहीं है। यदि तू स्वक्षेत्र में रहे तो तू क्षेत्रज्ञ है।

आत्मा क्षेत्रज्ञ है। खुद क्षेत्रज्ञ पुरुष परक्षेत्र में बैठा है इसलिए फिर वह जानने वाला नहीं रहा। इसलिए 'मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ', कहता है।

परक्षेत्र वाला नहीं है चेतन, क्षेत्रज्ञ है चेतन

प्रश्नकर्ता : कृष्ण भगवान ने अर्जुन से जो कहा, उसमें 'सर्वक्षेत्र' शब्द आता है, तो सर्वक्षेत्र अर्थात् जड़ क्षेत्र और चेतन क्षेत्र, ये दोनों कहे जाएँगे या एक ही?

दादाश्री : चेतन क्षेत्रज्ञ है यानी चेतन का क्षेत्र ही नहीं है। चेतन

क्षेत्रज्ञ है और क्षेत्रज्ञ के अलावा वह खुद कहीं भी नहीं है। क्षेत्र में नहीं है। क्षेत्र को जानता और देखता है। अत: क्षेत्र को जाने वह क्षेत्रज्ञ है और जो कभी भी क्षेत्र स्वरूप नहीं हो सकता, उसे कहते हैं क्षेत्रज्ञ!

अत: जानते ही रहना है निरंतर। इस क्षेत्र में क्या हो रहा है, उसे क्षेत्रज्ञ होकर यह सब जानना है।

पराई चीज़ के मालिक बनने से क्षेत्रज्ञ हो गया क्षेत्राकार

यह तो, लोगों की बुद्धि देहात्मबुद्धि है, वह आत्मबुद्धि हो जाएगी तो हल आएगा। आत्मा में आत्मबुद्धि नहीं है और देह में आत्मबुद्धि है, वह देहात्मबुद्धि है। पूरा जगत् देहात्मबुद्धि में ही है। अत: वह क्षेत्राकार है और आत्मा में आत्मबुद्धि रहे तो वह क्षेत्रज्ञ है।

आप क्षेत्रज्ञ हो, ज्ञानाकार हो लेकिन आप पराई चीज़ों के स्वामी बन बैठे हो। बुद्धि-चित्त-मन और अहंकार के स्वामी बन बैठे हो लेकिन स्व की पहचान हो जानी चाहिए तो हो जाएगा। (यह तो) पराई सत्ता में हो और 'मैंने किया, मैंने किया' करते हो।

पराई जायदाद, पराया घर हो, तो हमें उसमें जाकर बैठना चाहिए, रहना चाहिए? उस घर के हमें मालिक बनना चाहिए? नहीं बनना चाहिए। लेकिन यह तो पराई सत्ता और पराई चीज़ों को खुद की मान बैठा है और फिर क्षेत्राकार बनकर घूमता है। क्षेत्रज्ञ पुरुष क्षेत्राकार हो गया है।

स्वक्षेत्र में क्षेत्रज्ञ, लेकिन अज्ञान से हुआ क्षेत्राकार

प्रश्नकर्ता : क्षेत्राकार के बारे में ज़रा ज़्यादा समझाएँगे?

दादाश्री : इस शरीर में (आत्मा) आपका स्वक्षेत्र है। आपके स्वक्षेत्र में रहोगे तो आप क्षेत्रज्ञ हो और स्वक्षेत्र में नहीं रहोगे तो क्षेत्राकार बन जाओगे।

खुद के स्वक्षेत्र में आत्मा क्षेत्रज्ञ है और यदि पराये क्षेत्र में बैठे, अनात्म विभाग में तो क्षेत्राकार बन जाएँगे। ये परक्षेत्र में पैठे हुए हैं।

मन-वचन-काया के क्षेत्र में बैठा हुआ क्षेत्रज्ञ आत्मा उनका जानकार है। वह ज्ञानाकार रहना चाहिए लेकिन मन-वचन-काया का देहाकार, क्षेत्राकार बन गया है।

खुद क्षेत्रिय है और क्षेत्राकार बन गया है। खुद स्वक्षेत्र में रहकर सिर्फ जानते ही रहना है। जो क्रिया करता है वह क्षेत्राकार और जो देखता और जानता है वह क्षेत्रज्ञ! मूल रूप से क्षेत्रज्ञ है लेकिन अज्ञान के कारण क्षेत्राकार बन गया है। आत्मा ज्ञानाकार है, स्व-पर प्रकाशक है।

ब्रह्मांड का ऊपरी लेकिन क्षेत्राकार हो जाने से बन गया भिखारी

'मैं चंदूभाई हूँ', अतः मन-वचन-काया और नाम पर आरोपण करता है कि, 'मैं हूँ' इसलिए मरना पड़ता है। खुद स्थानभ्रष्ट हो गया। क्षेत्रज्ञ पुरुष क्षेत्राकार हो गया।

अतः मैं चंदूभाई हूँ, इनका ससुर लगता हूँ, इनका मामा लगता हूँ, इनका चाचा लगता हूँ, ये सब आरोपित भाव हैं, कल्पित भाव। खुद निर्विकल्प है जबकि यों कल्पनाओं का अंत नहीं है।

जहाँ पर खुद नहीं है वहाँ पर आरोपण किया, इसलिए संसार खड़ा हो गया है। अब खुद के स्वरूप का भान नहीं रहा, आत्मा के स्वरूप का, इसलिए फिर खुद क्षेत्राकार हो गया है। पूरी भ्रांति ही उत्पन्न हो गई है और फिर बोलता है 'मैं कर रहा हूँ'।

जिस प्रकार हाथी क्षेत्राकार होकर घूमता है उसी प्रकार पूरे जगत् के लोग क्षेत्राकार होकर घूमते हैं। उस क्षेत्राकार में तेरा मरण है।

परक्षेत्र में नहीं बैठे तो खुद ही क्षेत्रज्ञ है लेकिन परक्षेत्र में बैठ जाए तो वह क्षेत्राकार है। खुद क्षेत्रज्ञ है, पूरे ब्रह्मांड का *ऊपरी,* आज वह क्षेत्राकार बनकर भिखारी की तरह भटकता है। अंत में इसमें से भी दगा निकलेगा। तू तेरे मूल क्षेत्र में आ जा। ये सब टेम्परेरी में ही मगन हैं। टेम्परेरी अर्थात् अनित्य।

आत्मज्ञान से प्राप्त होता है क्षेत्रज्ञपद

मैं और मेरा, वह विकल्प-संकल्प है। वह निकल जाएगा तो हो जाएगा क्षेत्रज्ञ। ज्ञानी ज्ञान देते हैं तब क्षेत्रज्ञ बना देते हैं। वे आपके क्षेत्र और पराये क्षेत्र के बीच लाइन ऑफ डिमार्केशन डाल देते हैं व बताते हैं कि यह आपका क्षेत्र है और वह पराया क्षेत्र। अभी तक तो आप खुद के क्षेत्र में बैठे ही नहीं हो। अभी तक तो खुद के क्षेत्र को देखा ही नहीं है। अरे! कचरा भी नहीं निकाला है न!

प्रश्नकर्ता : आत्मा का संयोग हो जाए लेकिन आत्मा का वियोग नहीं हो, उसके लिए चाबी?

दादाश्री : आत्मा का वियोग हो सके, ऐसा नहीं है। किसी को करना हो तब भी नहीं हो सकता। एक बार उसे स्पर्श करने के बाद फिर से उसका वियोग हो सके, ऐसा नहीं है। जब तक स्पर्श नहीं किया है, जब तक हम उस क्षेत्र में नहीं गए हैं तब तक दु:ख है। उसे यदि एक बार स्पर्श हो गया स्वक्षेत्र का, फिर उसे दिक्कत नहीं आएगी लेकिन अभी वह स्पर्श ही नहीं हुआ है न!

हम ज्ञान देते हैं न, तब उसे स्पर्श करवाते हैं। फिर कोई दिक्कत नहीं आती। कृष्ण भगवान खुद ही उसमें प्रकट हो जाते हैं। फिर क्या? फिर तो जाते ही नहीं। वैष्णवों के लिए कृष्ण भगवान प्रकट हो जाते हैं और जैनों के लिए महावीर भगवान प्रकट हो जाते हैं।

इस ज्ञान के बाद में अपने अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन जैसे गुणों के माध्यम से हम सभी ने अपने क्षेत्र को जाना, इसलिए हम क्षेत्रज्ञ हो गए।

अब अपने अंदर दो भाग हैं, एक होम डिपार्टमेन्ट है और दूसरा फॉरेन डिपार्टमेन्ट है। होम डिपार्टमेन्ट स्वक्षेत्र है और परक्षेत्र में 'मैं चंदू हूँ', परक्षेत्रता। खुद के क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ है। (खुद) क्षेत्रज्ञ है और यह क्षेत्र है। अब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, दोनों में भेद हो गया। जो क्षेत्र है वह

फॉरेन डिपार्टमेन्ट है और स्वक्षेत्र है वह होम डिपार्टमेन्ट है। होम डिपार्टमेन्ट में निरंतर रहना है और फॉरेन में सुपरफ्लुअस रहना है।

हमने बँटवारा कर दिया है कि यह प्रकृति का भाग है, यह आपका भाग है। आप (अपने) इस भाग में रहोगे तो क्षेत्रज्ञ हो और यह (प्रकृति) क्षेत्र है, आपको इस क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ की तरह रहना है। क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र में जो कुछ भी हो रहा है उसे जानना।

जानने वाला और जानने की चीज़ एक ही होती है या अलग-अलग? अलग-अलग। एक आँख गई हो तो उसे क्षेत्र जानता है या क्षेत्रज्ञ? क्षेत्रज्ञ जानता है।

ज्ञानी बरतते हैं निरंतर क्षेत्रज्ञपद में

सिर्फ आत्मा को ही जानने जैसा है। क्षेत्र और क्षेत्रिय, दोनों ही अलग हैं। क्षेत्र से अप्रतिबद्धता होनी चाहिए। क्षेत्र से, भाव से, द्रव्य से और काल से अप्रतिबद्ध रहता है, वह ज्ञानी। अप्रतिबद्ध अर्थात् मुक्त। वे देह के मालिक ही नहीं रहते, मन के मालिक नहीं, वाणी के मालिक नहीं। खुद, खुद के क्षेत्र में रहकर क्षेत्रज्ञ के रूप में रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : आपको द्रष्टाभाव की स्थिति हमेशा रहती है?

दादाश्री : ज्ञाता-द्रष्टा स्थिति हमेशा रहती है। यह बात टेपरिकॉर्डर कर रहा है और अंदर शुद्ध उपयोग रहता है। ये क्या बोले और क्या नहीं, उतना ही देखते रहते हैं। यह बात भी चल रही होती है और शुद्ध उपयोग भी रहता है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञाता-द्रष्टा भाव के साथ परमानंद भाव होता है न?

दादाश्री : परमानंद ही है, निरंतर परमानंद। अत: निरंतर अलग ही रहने का व्यवहार है। हम एक सेकन्ड के लिए भी *पुद्‌गल* भाग में नहीं रहते। मैं तो क्षेत्रज्ञ के तौर पर देखता रहता हूँ। 'मैं' अपने क्षेत्र में ही रहता हूँ।

❖❖❖❖❖

[11]

अच्युत

स्थान छोड़े-बदल जाए वह च्युत, आत्मा अच्युत

प्रश्नकर्ता : आत्मा के गुणों में हम 'अच्युत' शब्द कहते हैं न, कि 'मैं अच्युत हूँ', तो अच्युत शब्द के बारे में ज़रा स्पष्टता से समझाइए।

दादाश्री : अच्युत अर्थात् च्युत नहीं होता। च्युत अर्थात् हट जाना और अच्युत अर्थात् नहीं हटना। जो हट जाता है, जो स्थिरता नहीं रख सकता, वह च्युत कहलाता है। जो टिकता नहीं है, कुछ देर के लिए आकर फिर अलग हो जाता है, उसे च्युत कहते हैं।

च्युत तो स्थान छोड़ता रहता है, बदलता रहता है और अच्युत अर्थात् जो खुद का स्थान न छोड़े। समझ में आया तुझे, अच्युत का मतलब क्या है?

प्रश्नकर्ता : एक सोटी होती है, उसे चाहे कितना भी मोड़ें फिर भी वह अपनी जगह नहीं छोड़ती, च्युत नहीं होती। मूल जगह नहीं छोड़ती, वह अच्युत!

दादाश्री : जगह नहीं छोड़े, उसे अच्युत कहते हैं। लक्ष्मी आकर चली जाती है, वह च्युत कहलाती है और आत्मा अच्युत है, जाता नहीं है।

इस संसार के सभी जंजाल च्युत होने वाले हैं, इस संसार के

सभी फायदे-नुकसान च्युत होने वाले हैं, इस संसार की सारी संपत्ति च्युत होने वाली है, मैं अच्युत हूँ।

भगवान भी अच्युत और 'मैं' भी अच्युत

खुद का आत्मा तो अच्युत है। वह कहीं हट नहीं जाता। वह आपके पास ही रहेगा।

तो अभी तक लोगों ने ऐसा माना है कि भगवान अच्युत हैं और हम पूछें, आप अच्युत नहीं हो? तो कहते हैं, 'नहीं, मैं कैसे अच्युत?' जबकि मैंने आपको बोलना सिखाया कि, 'मैं अच्युत हूँ।' क्योंकि आप उस रूप होकर बोले हो। यानी 'मैं आत्मा हूँ' और 'मैं अच्युत हूँ', ऐसा कहना चाहिए।

स्वप्रकाश में अच्युत, परप्रकाश में च्युत

खुद अपने आप को लेकर अच्युत और खुद का प्रकाश समयवर्ती।

प्रश्नकर्ता : प्रकाश समयवर्ती है?

दादाश्री : स्व-पर प्रकाशित है न! स्व-पर प्रकाशित अर्थात् स्वप्रकाश में अच्युत और परप्रकाश में वह चेन्ज होता रहता है और खुद अन्‌चेन्जेबल है।

अच्युत है विशेषण, मूल आत्मा है ओरिजनल

प्रश्नकर्ता : दादा, अच्युत यानी ओरिजनल नहीं कह सकते?

दादाश्री : ओरिजनल नहीं कह सकते, यह तो विशेषण है।

प्रश्नकर्ता : अच्युत यानी ओरिजनल ऐसा क्यों नहीं कह सकते? इसमें क्या फर्क है? ओरिजनल अर्थात् मूल?

दादाश्री : मूल में तो, ऐसा सब कहना हो तो सभी शब्द कहे जा सकते हैं लेकिन उसे खुद को समझाना पड़ेगा न? सभी को ओरिजनल कहेंगे तो उसका कोई अर्थ ही नहीं है न? ओरिजनल का

अर्थ तो मौलिक होता है। उसे वस्तु कहते हैं। मूल आत्मा को ओरिजनल कहा जाता है। बाकी के ये सारे उसके गुण हैं, विशेषण हैं।

प्रश्नकर्ता : अच्युत अर्थात् नॉनसेपरेबल?

दादाश्री : ठीक है। वह अपनी भाषा में जो समझे, वह सही है।

संबंध-संयोग हैं च्युत, सिर्फ आत्मा ही अच्युत

यह सारा परिवर्तनशील च्युत कहलाता है। आत्मा अच्युत है, बाकी सब च्युत स्वभाव वाला है।

यह सारा रिलेटिव च्युत स्वभाव वाला है। अपने मना करने पर भी एकदम से चला जाएगा। पकड़ के रखें फिर भी कुछ नहीं होता। करार करते हैं फिर भी चला जाता है। चला जाता है या नहीं चला जाता?

प्रश्नकर्ता : चला जाता है।

दादाश्री : मन-वचन-काया, वे च्युत स्वभाव वाले हैं, खुद की जगह को छोड़ दें, ऐसे हैं। प्रकृति का स्वभाव ही ऐसा है। च्युत होना उसका स्वभाव है और अपना अच्युत स्वभाव है। इस संसार के संबंध भी च्युत स्वभाव वाले हैं।

ये जितने भी संबंध हैं वे च्युत होने वाले संबंध हैं। माँ-बाप, वाइफ सब च्युत होने वाले संबंध हैं। तो ये सारी वस्तुएँ च्युत। संबंध मात्र च्युत। संबंध बनते हैं और फिर अलग हो जाते हैं। सभी संयोग वियोगी स्वभाव वाले हैं, वे च्युत कहलाते हैं, और आत्मा क्या कहता है? 'मैं अच्युत हूँ। तू मुझसे मिला, उसके बाद मैं तुझसे दूर नहीं जाऊँगा। कभी भी नहीं, किसी भी संयोग में नहीं।'

इस संसार के संबंध छूट जाते हैं। पिता का बेटे से झगड़ा हो जाए तो दोनों कोर्ट में जाते हैं लेकिन 'खुद' अच्युत नहीं हटता। इन

संयोगों के खत्म होते देर ही नहीं लगती जबकि आत्मा नहीं हटेगा, अत: आत्मा पर बैठ जाना। आत्मा से, सिर्फ यही एक संबंध अच्युत है, यह संबंध खुद से ही है। इसलिए कृष्ण भगवान कहते हैं, 'मैं अच्युत हूँ।'

डिवोर्स हो जाए, वह सब च्युत

इस संसार के सभी संबंध डिवोर्स वाले हैं, मैं अच्युत हूँ। च्युत अर्थात् डिवोर्स लेना। जो संबंध आकर चले जाएँ, संबंध बनकर खत्म हो जाएँ, जो डिवोर्स लें, उन्हें अच्युत कैसे कह सकते हैं? किसी ने शादी की और वाइफ डिवोर्स ले तो (संबंध) च्युत हो गया न? डिवोर्स ले तो कहा जाएगा कि (संबंध) च्युत हो गया और डिवोर्स नहीं ले तो अच्युत। ये सारे संबंध डिवोर्स होने वाले हैं। कब डिवोर्स ले ले, वह कहा नहीं जा सकता।

'ये मेरे ससुर हैं', लोग ऐसे बात करते हैं जैसे हमेशा के लिए हों! ससुर हमेशा के लिए होते होंगे क्या?

प्रश्नकर्ता : नहीं होते।

दादाश्री : कब तक का संबंध है? डिवोर्स नहीं लिया तब तक। कल डिवोर्स ले ले, तो क्या (ससुर) कह पाएँगे हम? उसी प्रकार यह जगत् डिवोर्स वाला जगत् है।

जितने संयोग हैं, वे सभी च्युत स्वभाव वाले हैं। डिवोर्स होने वाले हैं, अत: उनसे शादी करके क्या करना है? सभी संयोग डिवोर्स होने वाले हैं अर्थात् च्युत। हम हैं अच्युत।

रूपी निरंतर होता रहता है च्युत, अरूपी आत्मा अच्युत

प्रश्नकर्ता : संयोगमात्र च्युत होने वाले हैं।

दादाश्री : हं। सभी चीज़ें च्युत ही हैं, *पुद्गल* मात्र, दाँत-वाँत भी, बाल-वाल सब च्युत हैं।

ये मन-वचन-काया सारे च्युत होते ही रहते हैं, निरंतर होते रहते हैं लेकिन वे दिखाई नही देते। आपको तो ये वैसे के वैसे ही दिखाई देते हैं लेकिन निरंतर च्युत होते ही रहते हैं।

रोज़ बदलता ही रहता है न? गोरी हो तो श्यामवर्णी होती जाती है। श्यामवर्णी हो तो गोरी होती जाती है। बदलता ही रहता है न! तो यह सब च्युत है और आत्मा अच्युत है। उसे कुछ भी नहीं होता।

मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो छूट जाता है या नहीं छूट जाता? जो स्थानभ्रष्ट हो जाता है वह सब च्युत है। सारा ही रूपी च्युत है, अरूपी अच्युत है।

❖❖❖❖❖

[12]
अव्यय-अक्षय

नाश न हो, वह अक्षय

प्रश्नकर्ता : हम विधि में ऐसा बोलते हैं न, 'मैं अक्षय हूँ', तो अक्षय का एक्ज़ेक्ट मीनिंग क्या है?

दादाश्री : अक्षय अर्थात् जिसका नाश नहीं होता, अविनाशी। क्षय होना अर्थात् नाश होना और अक्षय अर्थात् अविनाशी। आत्मा अक्षय है।

खर्च न हो, कम-ज़्यादा न हो, वह अव्यय

प्रश्नकर्ता : आत्मा अव्यय है, ऐसा कहा है तो अव्यय अर्थात् क्या?

दादाश्री : व्यय नहीं होता, वह।

प्रश्नकर्ता : व्यय अर्थात् क्या? डिस्ट्रॉय नहीं होता?

दादाश्री : व्यय अर्थात् खर्च। यानी कि कम हो जाता है, वह व्यय कहलाता है और यह कभी भी कम नहीं होता और बढ़ता भी नहीं है। जो कम नहीं होता उसे कहते हैं अव्यय।

प्रश्नकर्ता : कम भी नहीं होता और बढ़ता भी नहीं!

दादाश्री : हाँ, अव्यय अर्थात् जिसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता, व्यय नहीं हो जाता, जिसका नाश नहीं होता।

अनंत जन्म हो गए फिर भी आत्मा अव्यय

अव्यय अर्थात् आत्मा का कभी भी व्यय नहीं होता, ऐसी वस्तु है वह। अनंत काल से हम साथ में रहे हैं, कितने ही जन्मों में जला दिए गए, कूएँ में गिरे। कुत्ते में, गधे की योनि में गया लेकिन आत्मा इतना सा भी व्यय नहीं हुआ है। वह इतने जन्मों से भटक रहा है लेकिन उसका व्यय नहीं होता, इतना सा भी नहीं बिगड़ता, कुछ भी नहीं होता।

मन-वचन-काया का व्यय हो जाएगा, आत्मा अव्यय

हमने समझाया कि मन-वचन-काया निरंतर व्यय ही हो रहे हैं और आत्मा अव्यय है। उसका व्यय नहीं होगा।

ये मन-वचन-काया व्यय हैं। व्यय होते ही रहते हैं निरंतर। जिस प्रकार रुपयों का व्यय होता है न, उसी प्रकार इनका व्यय होता है। पैसे आते हैं तब उनका व्यय हो जाता है या नहीं हो जाता? रुपया आएगा तो उसका भी व्यय हो जाएगा। यह सारा व्यय होता ही रहता है निरंतर!

शरीर तो व्यय होता ही रहता है निरंतर, और फिर मरते समय खत्म हो चुका होता है। इतना भरावदार शरीर होता है लेकिन मरते समय पतला हो गया होता है, व्यय होता ही रहता है।

इस संसार की सर्व संपत्ति का, संबंधों का, स्वरूप का व्यय होने वाला है। मैं अव्यय हूँ। मुझ में से कुछ भी व्यय नहीं हो सकता, कुछ भी कम-ज़्यादा नहीं हो सकता।

प्रश्नकर्ता : अव्यय अर्थात् नो एन्ड।

दादाश्री : ये मन-वचन-काया एन्ड (अंत) वाले हैं और (आत्मस्वरूप) वह नो एन्ड वाला (अंतहीन) है इसलिए हम बोलते हैं न, 'मन-वचन-काया का व्यय होने वाला है, मैं अव्यय हूँ।'

अव्यय होने के बाद में नहीं होता व्यय

प्रश्नकर्ता : अभी तक अव्यय भाव नहीं आया है।

दादाश्री : (अज्ञानदशा में) अव्यय (भाव) कैसे आ सकता है? अच्युत भाव आया है?

प्रश्नकर्ता : अभी तक अच्युत भाव भी नहीं आया है।

दादाश्री : अविनाशी भाव नहीं आया, अव्यय भाव नहीं आया, अच्युत भाव नहीं आया है, कुछ भी आया ही कहाँ है! लेकिन यों ही मान बैठे हो सबकुछ।

लेकिन अव्यय गुण आ जाएगा, अच्युत आ जाएगा, अविनाशी आ जाएगा तब अपने में सारा बदलाव आएगा न! फिर व्यय होगा ही नहीं न! यह तो अव्यय नहीं हुआ है तब तक व्यय होता ही रहेगा।

❖❖❖❖❖

[13]
अजन्म-अमर-नित्य

[13.1]
अजन्म

छः तत्त्व ही अजन्मा हैं, बाकी सब जन्म वाले

प्रश्नकर्ता : अजन्मा आत्मा अर्थात् क्या?

दादाश्री : आत्मा स्वभाव से ही अजन्मा है। अजन्मा ही है खुद। यह तो, खुद आत्मारूप हो जाए तो खुद अजन्मा हो जाएगा लेकिन खुद तो चंदूलाल हो गए। अतः यह टेम्परेरी एडजस्टमेन्ट मिला है। बॉडी, और बॉडी का मालिक बन गया। 'मैं हूँ और यह मैं ही हूँ', तो जब यह शरीर मरता है तो इसके साथ हमें भी मरना पड़ता है।

इस दुनिया में कोई भी चीज़ अजन्मा नहीं है। सिर्फ इन छः इटर्नल वस्तुओं के अलावा, बाकी सभी जन्म वाले हैं। अर्थात् मन, बुद्धि सभी का जन्म हुआ है।

भगवान आत्मारूप से अजन्मा, देह है जन्मा

प्रश्नकर्ता : तो फिर भगवान को अजन्मा क्यों कहा गया है?

दादाश्री : अजन्मा तो, आत्मा अजन्मा है। आत्मा को भगवान कहते हैं लेकिन जो देह सहित भगवान हैं, कृष्ण भगवान और वे सब जो हैं वे देह सहित हैं। लेकिन देह वाले अजन्मा नहीं होते, अंदर वाला आत्मा अजन्मा है। वह खुद देह होने के बावजूद आत्मस्वरूप

हो चुके थे इसलिए अजन्मा कहे जाते हैं। आप भी अजन्मा हो या नहीं? आप भी अजन्मा हो न! जन्म पाया चंदूभाई ने, और आप अजन्मा हो। इतना भान हो जाए तो इंसान को पूर्ण जाग्रत कहा जाएगा! आप अविनाशी हो, चंदूभाई विनाशी हैं, दोनों एक ही स्थान में हैं फिर भी।

ये जो सारे बीज हैं न, उस हर बीज में विनाशी भी है और अविनाशी भी है। अविनाशी बीज के अंदर ही होता है, बीज के बाहर नहीं होता। जो अविनाशी बीज के बाहर हैं वे पूरे ब्रह्मांड से निवृत्त हो चुके हैं, सिद्ध दशा में हैं।

देह सहित जन्म होता है फिर भी आत्मा अजन्मा स्वभाव वाला

प्रश्नकर्ता : मोक्ष हो जाने के बाद तो आत्मा का जन्म नहीं होता लेकिन यदि मोक्ष नहीं हुआ और फिर से शरीर का जन्म हो तो उसके साथ जो संलग्न आत्मा है वह उसके साथ ही रहता है, या कैसा रहता है उसका?

दादाश्री : वही का वही, अन्य कोई नहीं। वह तो, अनंत जन्मों से एक ही आत्मा।

प्रश्नकर्ता : हाँ, यदि वही का वही जाता है तो हम ऐसा कहते हैं कि आत्मा अजन्मा है, आत्मा का जन्म नहीं है तो *पुद्गल* का जन्म होता है, उसके साथ ही आत्मा जुड़कर जाता है, तो उसका भी जन्म हुआ, ऐसा नहीं कहा जाएगा?

दादाश्री : नहीं! आत्मा का जन्म हुआ, ऐसा नहीं कहा जाएगा न!

प्रश्नकर्ता : वह किस प्रकार से? क्योंकि साथ ही जुड़ा हुआ है।

दादाश्री : उसका स्वभाव ही नहीं है, खुद अजन्मा स्वभाव वाला है। यह उसे *पुद्गल* का संयोग है। *पुद्गल* के संयोगों में फँसा हुआ है। उनका वियोग हो जाएगा तो खुद मुक्त ही है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, वियोग हो जाने पर मुक्त हो जाता है लेकिन

जब तक फँसा हुआ है तब तक *पुद्गल* के साथ उसका जन्म होता रहेगा न?

दादाश्री : उसका जन्म नहीं होता।

शरीर जन्म लेता है और मरता है, वह संसारी अवस्था; आत्मा अजन्मा

प्रश्नकर्ता : जैसा आप कहते हैं, उसके साथ लगा हुआ तो है ही, तो जिस प्रकार *पुद्गल* का जन्म हुआ उसी प्रकार साथ में आत्मा का भी जन्म हुआ न?

दादाश्री : नहीं, इसीलिए लोग कहते हैं न, जीव का जन्म हुआ! *पुद्गल* की अवस्था और आरोपण आत्मा पर किया जाता है कि जीव का जन्म हुआ।

प्रश्नकर्ता : मेरा प्रश्न यह है कि आज आत्मा मेरे साथ जुड़ा हुआ है, मेरे आत्मा का मोक्ष होता है?

दादाश्री : आप ही हो, आप ही हो वह।

प्रश्नकर्ता : मेरा मोक्ष हो जाए तब तो फिर कोई सवाल ही नहीं है लेकिन मोक्ष नहीं होता और फिर से जन्म होता है तो आज मेरे साथ जो आत्मा जुड़ा हुआ है, वह फिर से उसके साथ ही रहता है। तब अगर मेरा फिर से जन्म हुआ तो ऐसा नहीं कहा जाएगा कि उसके साथ जुड़े हुए आत्मा का फिर से जन्म हुआ?

दादाश्री : इसे अवस्था कहते हैं आत्मा की। जन्म तो शरीर का ही कहा जाता है और मरता भी शरीर है। आत्मा मर गया, ऐसा कोई नहीं कहता न? शरीर मर जाता है और जो जन्म लेता है वह भी शरीर है लेकिन आत्मा की अवस्था है अभी, संसारी अवस्था।

प्रश्नकर्ता : तो मृत्यु जैसी चीज़ है क्या?

दादाश्री : मृत्यु तो जिसका जन्म हुआ है, उसी की मृत्यु होती है।

जो जन्म ही नहीं लेता उसकी मृत्यु कैसी? अत: आत्मा अजन्मा-अमर है और मृत्यु तो, इस शरीर का जन्म हुआ है इसलिए वह मर जाएगा।

जीता और मरता है वह जीव है, और अमरपद प्राप्त करता है वह आत्मा है। आत्मा 'सेल्फ' है और जीव 'रिलेटिव सेल्फ' है। जीव तो अवस्था है।

प्रश्नकर्ता : अब इसका अर्थ ऐसा हुआ कि पुनर्जन्म हुआ तो यह जो जीवात्मा है इसका पुनर्जन्म हुआ है, आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता?

दादाश्री : यानी उसका कुछ है ही नहीं न! वह तो मूल रूप से शुद्ध ही है। उसका जन्म या अजन्म, कुछ है ही नहीं। जन्म-अजन्म तो यह जो मानता है कि, 'मेरा जन्म हुआ', वही मरता है, और जो मरता है वही जन्म लेता है फिर से। जिसे भ्रांति है कि, 'मर जाता हूँ', वही पुनर्जन्म लेता है। जो मरता ही नहीं उसका पुनर्जन्म कैसा? आत्मा अजर, अमर, अविनाशी और देहातीत है।

प्रश्नकर्ता : अजर यानी क्या?

दादाश्री : इस जगत् में मूल तत्त्व अजर होते हैं और अवस्थाएँ जर होती हैं। यानी अजर कौन होता है? जो बूढ़ा नहीं होता, मूल तत्त्व।

'अजन्मा-जन्म' पद, ज्ञानी कृपा से

ज्ञानी मिल जाएँ और (उनसे) ज्ञान प्राप्त कर ले तो अजन्मा स्वभाव प्रकट होता है और जन्म-अजन्म का स्वभाव खत्म हो जाता है।

अनेक जन्म लिए लेकिन अजन्मा होने की बारी ही नहीं आती लेकिन अगर हम से मिले तो (मोक्ष की) टिकिट काटकर भटकना बंद करवा देते हैं।

वे जन्म वाले जन्म तो कई बार हुए हैं और फिर मरना पड़ता है। यह तो अमर पद प्राप्त हुआ कहा जाएगा।

❖❖❖❖❖

[13.2]
अमर

सूक्ष्मतम वस्तु है आत्मा, अजर-अमर-अखंड

आत्मा अजर-अमर-अखंड, परमानंदी स्वरूप वाला है। आपका स्वरूप परमानंदी है, अजर है, अमर है, अविनाशी है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के अलावा कुछ और भी अमर है?

दादाश्री : छहों तत्त्व अमर हैं। उनमें से एक यह चेतन तत्त्व है। आत्मा ही चेतन तत्त्व है।

प्रश्नकर्ता : अपना आत्मा है, जो चेतन है। ऐसा कहते हैं कि वह मरता नहीं है।

दादाश्री : यह स्थूल वस्तु नहीं है कि मर जाए। यह तो सूक्ष्मतम वस्तु है। इसे मरना ही नहीं होता। यह आकाश जैसी ही वस्तु है। इसका नाश ही नहीं होता और यह पहाड़ के आरपार चला जाता है, दीवारों के आरपार चला जाता है। इसे अग्नि जला नहीं सकती, पानी इसे भिगो नहीं सकता। इसके अन्य बहुत से गुण हैं।

प्राण के आधार पर संबंध, देह और आत्मा का

प्रश्नकर्ता : हम कहते हैं कि प्राण और आत्मा एक नहीं हैं, तो इसका अर्थ समझाइए।

दादाश्री : प्राण तो, ये जो साँसें लेते और छोड़ते हैं, उसे प्राण कहा जाता है। साँस लेते हैं उसे प्राण कहा जाता है और छोड़ते हैं, उसे अप्राण कहा जाता है, अपान कहा जाता है। अर्थात् साँस लेना और छोड़ना, वह आत्मा नहीं है, वह *पुद्गल* है और आत्मा चेतन है। दोनों चीज़ें अलग हैं।

प्रश्नकर्ता : तो इसके लिए ऐसा जो कहा जाता है कि प्राण चला गया तो वह क्या आत्मा के संदर्भ में कहा जाता है?

दादाश्री : हाँ, प्राण के आधार पर शरीर और आत्मा का संबंध है। बीच में प्राण का आधार है। प्राण निकल जाए तो दोनों अलग हो जाएँगे। प्राण की डोरी से आयु बंधी हुई है।

प्रश्नकर्ता : ऐसा कहते हैं कि यह प्राण जो है वह आत्मा और शरीर को जोड़ने वाली कड़ी है?

दादाश्री : उसी के आधार पर आत्मा रहा हुआ है इस शरीर में। ये सभी जीवात्मा प्राण के आधार पर जीते हैं, देहाध्यास वाले। जबकि आत्मज्ञानी आत्मा के स्वभाव से जीते हैं। यानी कि जो प्राण के आधार पर नहीं जीता, वह हमेशा जीवित ही रहता है। प्राण के आधार पर तो देह जिंदा रहता है। देह-मन-बुद्धि-अहंकार और यह पूरा देहाध्यास प्राण के आधार पर जी रहा है जबकि आप अपने स्वभाव से जी रहे हो। आत्मा का स्वभाव ही अमर है, अविनाशी है।

यह जो प्राण है वह, जब शरीर अलग होना होता है, आत्मा अलग होना होता है न, तब तुरंत ही हं हं करके निकल जाता है जल्दी से। तब फिर (आत्मा) अलग हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : ये प्राण बंद होने के साथ ही आत्मा अलग हो जाता है?

दादाश्री : ये प्राण बंद हुए तो अलग हो ही जाता है। प्राण बंद हुआ अर्थात् (शरीर रूपी) गाड़ी-वाड़ी सब बंद।

प्रश्नकर्ता : इस प्राण का आधार किस प्रकार से टूट जाता है?

दादाश्री : आयुष्यकर्म बाँधा था, उसके आधार पर यह प्राण जुड़ा हुआ है। अर्थात् जितना आयुष्यकर्म है उतना ही प्राण जुड़ा हुआ है। यानी कि प्राण का जितना अधिक उपयोग होता है उतना ही ज़्यादा आयुष्यकर्म खप जाता है। क्रोध-मान-माया-लोभ में अधिक खप जाता है। दुष्चारित्र करते हैं तब एकदम से खप जाता है और अच्छे चारित्र वाले का प्राण कम खपता है, तो वह ज़्यादा जीता है, अच्छी तरह से।

शरीर मर जाएगा और 'मैं' अमर, यह है रियल पद

प्रश्नकर्ता : जैसा पहले बताया है कि, 'इस प्रकार से देहाध्यास वाले प्राण के आधार पर जीते और मरते हैं', तो रिलेटिव में ही मरना होता है और रियल में तो कुछ भी नहीं है न?

दादाश्री : अगर आप मरने वाले हो तो रिलेटिव में हो और आप को खुद को ऐसा विश्वास हो गया कि मैं अमर ही हूँ और शरीर मरेगा तो आप रियल में हो।

यह तो, जो मरने का पद है वहीं पर तू ऐसा मानता है कि, 'मैं ही चंदू हूँ।' वह पद पूरा ही बदल गया, तो हो चुका, पूरा हो गया।

यह चंदू तो पहचानने का साधन है। 'वास्तव में मैं क्या हूँ', यह जानना ही चाहिए न? वास्तव में तू ऐसा जानेगा तो फिर तुझे मरना रहेगा ही नहीं, वही अमर पद है।

मृत्यु पर विजय, अध्यात्म विज्ञान से

प्रश्नकर्ता : अमरपद के बारे में समझाएँगे?

दादाश्री : अमरपद का अर्थ क्या है? आत्मज्ञान हो जाए तो अमरपद है। 'खुद आत्मा हूँ', ऐसा भान रहे तो वह अमर ही है। फिर मरना ही नहीं होता न! फिर यदि आप चंदूभाई होंगे तो मरोगे न? चंदूभाई (पद) छूट गया। अब मर जाएगा या जीवित रहेगा?

प्रश्नकर्ता : मैं तो अमर हूँ न, दादा! चंदू मर जाएगा।

दादाश्री : हाँ! तुझे तो मरना नहीं है न? चंदू मरेगा। जो जीता है, दवाई पीता है, वह मरेगा। जो जीता है वह मरेगा। जो जीता नहीं है, निरंतर है, उसे कहीं मरना होता होगा? अविनाशी को मरना होता है? अविनाशी होकर बैठा है न? तो ठीक है।

यह ज्ञान लेने के बाद में फिर मरना नहीं होता, इसी को कहते हैं अमर। जिसे यह अमर ज्ञान रहता है, उसे मरने का भय नहीं लगता। कितने ही लोग ऐसी रेग्युलर स्टेज में आ गए हैं।

हम ज्ञान लिए हुए लोग मरेंगे तो नहीं न? आपको क्या लगता है?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

दादाश्री : यह शरीर मरेगा, खुद तो आत्मा है। मरने का सवाल ही कहाँ रहा अब? आपको क्या लगता है?

प्रश्नकर्ता : सही है।

दादाश्री : तू मरेगा क्या?

प्रश्नकर्ता : नहीं मरूँगा।

दादाश्री : हाँ, देखो, अमर होकर बैठे हैं न! इसलिए अब रौब जमाते हैं।

अमरपद धारी को भय कैसा?

प्रश्नकर्ता : सही है दादा, हमें अब मरने का भय भी नहीं लगता!

दादाश्री : आपको मन में ऐसा है कि दादा हैं मेरे साथ। इसलिए भय नहीं रहता। आप शुद्धात्मा हो गए हो। अमरपद प्राप्त किया है! अमरपद को भय कैसा?

आपको तो अमरपद दे दिया है। मरेगा तो शरीर मरेगा, हम अमर ही हैं।

मनुष्य मरता है सिर्फ एक बार, और सौ बार बोलता है, 'अरे मर गया, अरे मर गया।' लोग सौ बार बोलते हैं या नहीं बोलते? यह कोई तरीका है लोगों का? मृत्यु आए तब भी 'मर गया', ऐसा नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि हम तो अमर हैं, हमें मरना कैसा?

हमारे महात्मा तो पुरुष हुए हैं, जब ये श्वास नहीं चले तो अंदर सफोकेशन होता है इसलिए फिर खुद की गुफा में घुस जाते हैं कि चलो, हमारी अपनी सेफ साइड वाली जगह पर। यानी कि खुद अमरपद के भान वाले हैं!

सशरीर अमर! अर्थात् इस शरीर के साथ हम सब अमर ही हो गए हैं न! शरीर किसी का भी अमर नहीं है। *पुद्गल* विनाशी ही है और आत्मा अविनाशी।

बम गिरने लगे तो अंदर काँप जाता है, उस क्षण कहना कि यह बम तो जो मरने वाले हैं उनके लिए है, 'चंदूभाई, मेरी आयु नहीं है। आयु तो जिसे मरना हो उसकी होती है, मैं तो अमर हूँ।'

'अमरपद' जानने के बाद में, बुझे नहीं, झगे नहीं

जब तक हमें अपने अमरपद का पता नहीं चलता, उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक कल्याण नहीं हुआ है। यदि अमरपद को जान लिया तो कल्याण हो जाएगा! उसके बाद वह पद बुझता नहीं, प्रकट (झगे) भी नहीं होता (हमेशा रहता है)।

हमारे महात्माओं ने तो अमरपद को बूझ (समझ) लिया है, जान लिया है यानी उसी रूप हो गए हैं। अगर बाहर वाला कोई कहे कि हमें साक्षात्कार हो गया है तो वह तो अमरपद के फोटो का, मूल वस्तु का नहीं।

भूतकाल और भविष्यकाल से हमें लेना भी नहीं है और देना

भी नहीं है। जो वर्तमान में ही रहे, उसे कहते हैं अमरपद। हम वर्तमान में वैसे के वैसे ही रहते हैं। रात को उठाओ तब भी वैसे और दिन में उठाओ तब भी वैसे। जब देखो तब वैसे के वैसे ही होते हैं।

प्रश्नकर्ता : यानी यह जो आत्मा अमर है, तो आत्मा को आत्मा का, खुद का समझ में आ जाता है कि मैं शुद्धात्मा ही हूँ। फिर उसे दूसरे शरीर में नहीं जाना पड़ता?

दादाश्री : नहीं! सिर्फ थोड़ा-थोड़ा मैल चिपक जाता है। इसलिए फिर एक-दो जन्म और लेने पड़ते हैं।

प्रश्नकर्ता : फिर आत्मा अमर रहता है, ऐसा?

दादाश्री : आत्मा अमर ही है और आत्मा में ही रहता है वह। उसका उपयोग, जागृति सबकुछ आत्मा में ही रहता है।

❖❖❖❖❖

[13.3]
नित्य

नित्य है, परमानेन्ट-अविनाशी-स्वाभाविक

प्रश्नकर्ता : आत्मा की उत्पत्ति का कारण क्या है?

दादाश्री : ऐसा है न, आत्मा उसी को कहते हैं कि जो उत्पन्न ही नहीं होता, जिसका विनाश नहीं होता। वह परमानेन्ट है। परमानेन्ट की उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा तुझे समझ में आता है या नहीं? टेम्परेरी चीज़ों की उत्पत्ति होती है लेकिन परमानेन्ट वस्तु की उत्पत्ति होती है क्या? अंदर जो आत्मा है वह परमानेन्ट है। लोग कहते हैं न, जब शरीर मर जाता है तब आत्मा निकल गया। निकलने के बाद उसे दूसरा शरीर प्राप्त होता है। शरीर बदलते रहते हैं लेकिन खुद परमानेन्ट है। अत: आत्मा की उत्पत्ति का कारण ही नहीं रहा। कुछ भी उत्पन्न कब होता है? जब वह विनाशी हो। आत्मा तो अविनाशी है, नित्य है।

इस जगत् में छ: अनादि तत्त्व हैं, यानी कि सनातन तत्त्व हैं। वे छ: तत्त्व ही वास्तव में हमेशा के लिए, परमानेन्ट, नित्य हैं। जो हमेशा के लिए होता है, जिसका कभी भी विनाश नहीं होता, उसे नित्य कहते हैं, अनित्य नहीं।

नित्य वस्तु किसे कहा जाता है? नित्य की भी परिभाषा है। जो वस्तु नित्य है वह अन्य वस्तुओं से नहीं बनी होती, स्वाभाविक होती है। अन्य कोई भी वस्तु, आवाज़-वावाज़ कुछ भी नित्य नहीं है। आवाज़ तो अन्य चीज़ों से टकराने पर उत्पन्न होती है, नहीं तो उत्पन्न कैसे होगी? हाँ, यानी अनित्य, बाकी सब अनित्य।

छहों तत्त्व नित्य लेकिन उनकी अवस्थाएँ अनित्य

प्रश्नकर्ता : जैसा कि आपने कहा है, आत्मा नित्य है तो इसी प्रकार छहों तत्त्व भी नित्य हैं, इस बारे में ज़रा स्पष्टता करेंगे?

दादाश्री : आत्मा नित्य है, उसी तरह अन्य पाँच तत्त्व भी नित्य हैं। वे सभी तत्त्व नित्य हैं और कोई किसी में मिल जाए, ऐसे नहीं हैं; कोई किसी की हेल्प करे, ऐसे नहीं हैं; कोई किसी को नुकसान पहुँचाए, ऐसे नहीं हैं, फिर भी साथ में रहते हैं। इन छः तत्त्वों का स्वभाव क्या है? निरंतर परिवर्तनशील और स्वभाव से शुद्ध हैं। शुद्धता में बदलाव हुआ भी नहीं है, बदलाव होता भी नहीं है और होगा भी नहीं। सिर्फ परिवर्तनशील (स्वभाव) को लेकर यों इसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। पूरा जगत् अवस्था को देखता है और अवस्था को नित्य मान लेता है। अनित्य वस्तु को नित्य मानकर दुःखी होता रहता है। ये तो सिर्फ अवस्थाएँ उत्पन्न हुई हैं।

इन छः तत्त्वों का समसरण अर्थात् निरंतर परिवर्तन होते रहने से इनमें से ये सारी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। ये सारी अवस्थाएँ विनाशी हैं और विनाशी को जो देखता है और जानता है वह खुद अविनाशी है, नित्य है। नित्य होने के कारण वह अनित्य को देख सकता है।

नहीं हो सकता आत्मा नित्य प्रत्यक्ष, संयोग हैं तब तक

प्रश्नकर्ता : आत्मसिद्धि में लिखा है कि, '*जे जे संयोगो देखीए, ते ते अनुभव दृश्य, उपजे नहीं संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष*' (जिन-जिन संयोगों को देखते हैं, उसी-उसी दृश्य का अनुभव करता है, उत्पन्न नहीं होता संयोगों से, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष) इसका कुछ विशेष अर्थ समझाइए।

दादाश्री : '*जे जे संयोगो देखीए, ते ते अनुभव दृश्य*। वह तो ये सारे ही, ये जितने दिखाई देते हैं उतने अनुभव में आ ही जाते हैं न, कि ये संयोग हैं। ये चाचा हैं, मामा हैं, फलाना हैं, फूफा हैं, यह

स्त्री है, गधा है, कुत्ता है, ये सारे संयोग हैं। इनका तो अनुभव हुआ लेकिन इन संयोगों से आत्मा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, ऐसा कहा है।

प्रश्नकर्ता : नित्य प्रत्यक्ष, ऐसा कहते हैं वह?

दादाश्री : हाँ, नित्य प्रत्यक्ष। जब तक संयोग हैं तब तक आत्मा नित्य प्रत्यक्ष नहीं होगा। हमारे (बहिर्भाव रूपी) संयोग नहीं हैं इसीलिए हमारे लिए नित्य प्रत्यक्ष है। हमारे संयोग ही नहीं हैं और आपके तो संयोग जाते ही नहीं, और जब तक आर्तध्यान-रौद्रध्यान होते हैं तब तक निरे संयोगों का ही कारखाना है।

वस्तु स्वरूप है त्रिकाली आत्मा, नहीं बना है किसी संयोग से

प्रश्नकर्ता : नित्य प्रत्यक्ष समझ में आया, फिर यह जो कहते हैं, 'उपजे नहीं संयोग से' तो वह क्या है?

दादाश्री : '*जे जे संयोग देखीए, ते ते अनुभव दृश्य*।' जिन संयोगों को देखते हैं जैसे कि दही से छाछ बनाई और फिर अंदर मिर्च, नमक डाले, उन सभी संयोगों को देखें तो वह है अनुभव दृश्य। उन सभी संयोगों के मिलने से कढ़ी बनी, उसका तो हमें अनुभव होता है लेकिन, '*उपजे नहीं संयोग से आत्मा नित्य प्रत्यक्ष*।' आत्मा ऐसे संयोगों से नहीं बना है, ऐसा कहा है। ऐसा सब इकट्ठा करने से नहीं बना है, इस तरह मिक्स करने से, चीज़ों को मिलाने से नहीं बना है। यह बनाने से नहीं बना है, खुद ही वस्तु स्वरूप है और संयोगों से नहीं बना है, असंयोगी है।

प्रश्नकर्ता : वह स्वयं ही है, त्रिकाली सिद्ध ही है?

दादाश्री : नहीं, त्रिकाली सिद्ध अलग चीज़ है और यहाँ पर क्या कहना चाहते हैं कि आत्मा किन्हीं भी चीज़ों को मिलाने से नहीं बना है। यानी कि उत्पन्न नहीं हुआ है, लय नहीं हुआ है। उत्पन्न होकर लय कौन होता है? संयोग इकट्ठे होने पर उत्पन्न हो जाता है और संयोग बिखर जाने पर लय हो जाता है। छाछ, मिर्ची, नमक, हल्दी,

हींग डालकर फिर मिलाया, कढ़ी बन गई लेकिन उसे संयोगों का सम्मिलित स्वरूप कहा जाएगा।

प्रश्नकर्ता : उसे तो जड़ का स्वरूप कहेंगे न?

दादाश्री : वह जड़ का है। लेकिन यह आत्मा इस प्रकार से चीज़ें इकट्ठी करके नहीं बनाया गया है। यदि चीज़ें इकट्ठा करके बनाया हुआ होता तो इसे 'उत्पन्न हुआ', ऐसा कहा जाता, और तब लय हो जाता। इस प्रकार से उत्पन्न और लय नहीं होती, यह ऐसी शाश्वत वस्तु है, त्रिकाली है। पहले भी थी, अभी भी है और भविष्य में भी रहेगी। इसमें कोई एक भी प्रदेश कम या ज़्यादा नहीं होता, ऐसा है यह आत्मा।

संयोगों से परे आत्मा, वहाँ स्वाभाविक नित्यता

प्रश्नकर्ता : '*जड़थी चेतन उपजे, चेतनथी जड़ थाय। एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय*।' (जड़ में से चेतन उत्पन्न होता हो और चेतन में से जड़ उत्पन्न होता हो। ऐसा अनुभव किसी को, कभी भी नहीं होता।)

'*जे कोई संयोगोथी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय। नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय*।' (जिसकी किसी भी संयोगों से उत्पत्ति नहीं होती उसका नाश भी नहीं होता, इसलिए वह सदा नित्य है।)

दादाश्री : आत्मा संयोगों से उत्पन्न नहीं होता और उसका नाश भी नहीं होता। संयोगों का नाश होता है। संयोग वियोगी स्वभाव वाले होते हैं। संयोगों द्वारा जो कुछ भी हुआ, वह तो वियोग हो ही जाएगा। जबकि यह तो स्वाभाविक नित्यता है।

प्रश्नकर्ता : इसमें ऐसा कहा गया है कि आत्मा स्वभाव से पदार्थ है।

दादाश्री : हाँ, संयोग पदार्थ नहीं हैं। संयोग होते तो उनका वियोग हो जाता। संयोगों से मिलने वाली चीज़ का जब वियोग होता

है तब अलग हो जाती है, उसका नाश हो जाता है जबकि आत्मा नित्य है। अतः उसे किसी को बनाना नहीं पड़ा है। किसी को बनाने की उसे ज़रूरत भी नहीं है। उसमें से कुछ कम-ज़्यादा नहीं होता, कोई चेन्ज नहीं होता, स्वभाव से आत्मा ऐसा पदार्थ है।

आत्मा निश्चय से नित्य, व्यवहार से अनित्य

प्रश्नकर्ता : 'आत्मा नित्य है', ऐसा जो कहा गया है तो क्या वह व्यवहार से भी नित्य है? ऐसी बात है?

दादाश्री : नहीं, वह व्यवहार से नित्य नहीं है। व्यवहार से तो आत्मा अनित्य है। व्यवहार से आत्मा कैसा है, यदि ऐसा सारा वर्णन किया होता न तो उन्हें यह पता रहता कि निश्चय से कैसा है और व्यवहार से अनित्य है।

आत्मा के द्रव्य व गुण नित्य, पर्याय विनाशी

प्रश्नकर्ता : आत्मा गुणों से नित्य है, पर्यायों से नित्य है या हर प्रकार से नित्य है?

दादाश्री : सिर्फ पर्याय ही अनित्य होते हैं और गुणों से नित्य हैं। गुण सारे नित्य होते हैं और गुण जब कार्यकारी हों तब पर्याय कहलाते हैं।

ये जो सूर्यनारायण हैं न, इनमें सूर्यनारायण द्रव्य कहलाते हैं, वस्तु कहलाते हैं। प्रकाश नाम का उनका गुण कहलाता है और रेज़ (किरणें) जो बाहर निकलती हैं वे पर्याय कहलाती हैं। उन पर्यायों का नाश हो जाता है। इनके गुण और वस्तु का नाश नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : दादा, यह (आत्मा को) द्रव्य कहते हैं तो इसका अर्थ ऐसा हुआ कि आत्मा, अवकाश है या जगह रोकता है या ऐसा कुछ है? उसका अवकाश है क्या, उसकी जगह है क्या? द्रव्य को तो जगह चाहिए न? द्रव्य का आकार होता है, द्रव्य का अवकाश होता है...

दादाश्री : नहीं, वह द्रव्य तो, वहाँ पर (भौतिक में) उसे (पदार्थ को) हम द्रव्य कहते हैं और यहाँ पर जिसे द्रव्य कहते हैं न, वह उस (सनातन) वस्तु को द्रव्य कहते हैं लेकिन 'वस्तु' समझ में नहीं आता इसलिए द्रव्य कहते हैं। वस्तु यानी कि यह जिसे आप द्रव्य कहते हो न, वे अनित्य वस्तुएँ हैं और यह द्रव्य नित्य के लिए है। नित्य में यह रूपी कौन सा है? एक ही तत्त्व है। ये जो अणु-परमाणु आते हैं न, सिर्फ वही। इस जगत् में जितना आँखों से दिखाई देता है वह सब रूपी है। एक ही तत्त्व का यह सब आँखों से दिखाई देता है हमें। अन्य जो तत्त्व हैं वे दिखाई नहीं देते। अंदर छुपे हुए ज़रूर हैं। इसलिए हमने द्रव्य कहा है उसे। आत्मा द्रव्य से नित्य है, वस्तु स्वभाव से खुद नित्य है लेकिन अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। उसकी अवस्थाएँ उत्पन्न होना, विनाश होना और ध्रुव के तौर पर रहना। उत्पात, व्यय, ध्रुव से उसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं।

आत्मा नित्य स्वरूप है और प्रकृति स्वरूप, वह अवस्था स्वरूप है। घूमती ही रहती है निरंतर। यदि आप आत्मस्वरूप हो तो मोक्ष आपका है और प्रकृति स्वरूप हो तो आपको बंधन है।

नित्यभाव पूरा समझ में नहीं आया है लेकिन अनित्यभाव चला गया

प्रश्नकर्ता : आत्मा की स्थिति, स्वरूप और ध्येय क्या है?

दादाश्री : शुद्धात्मा तो परमात्मा स्वरूप है, उसकी स्थिति नित्य है यानी कि अविनाशी है और उसका कोई ध्येय नहीं होता, किसी भी प्रकार का ध्येय नहीं, वही शुद्धात्मा है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि अब शुद्धात्मा के रूप में मैं अविनाशी हूँ, मेरा कोई विनाश नहीं है।

दादाश्री : हाँ, नित्य हूँ यानी परमानेन्ट, सनातन, शाश्वत। उसका नित्यपन समझ में आता है न? आत्मा का सनातनपन समझ में आता है न?

प्रश्नकर्ता : वह अभी तक ठीक से पता नहीं है। मेरे अनुभव में है लेकिन बता नहीं सकता।

दादाश्री : हाँ, ठीक है। लेकिन वह अनित्यभाव तो, 'मैं मर जाऊँगा, मैं मर जाऊँगा', वह सब जो था, वह अनित्यभाव चला गया, यानी कि नित्य में आ गया अब।

अनित्य को जानने वाला है नित्य

संसार के लोग भी नित्य को समझते हैं, ऐसा कहते हैं कि यह टेम्परेरी क्यों ले आया? जो *तकलादी* (नाशवंत) कहता है न, टेम्परेरी कहता है, तो टेम्परेरी कहने वाला टेम्परेरी नहीं हो सकता। वह परमानेन्ट हो तभी टेम्परेरी को टेम्परेरी कह सकता है, वर्ना टेम्परेरी कह कैसे सकता है? लेकिन खुद परमानेन्ट है ऐसा भान नहीं है।

अनित्य को समझने वाला नित्य होना चाहिए, वर्ना अनित्य शब्द नहीं दिया होता। लोग क्या कहते हैं कि यह *तकलादी* है, यह *तकलादी* है लेकिन उसे कहने वाला *तकलादी* नहीं है। नहीं तो *तकलादी* शब्द अलग नहीं हो पाता। खुद *तकलादी* और दूसरे भी *तकलादी,* तो *तकलादी* बोलने की ज़रूरत नहीं है। यानी कि खुद शाश्वत है, इसलिए वह *तकलादी* बोल सकता है।

देहाध्यास जाने पर अनित्यभाव चला गया और हो गया निर्भय

प्रश्नकर्ता : यों तो टेम्परेरी और परमानेन्ट, यह सब मन का ही मंथन है न?

दादाश्री : नहीं, मंथन नहीं है। आपकी ये सारी जो बलाएँ हैं न, वे सभी टेम्परेरी हैं। अभी तक टेम्परेरी में ही जी रहे थे। ज्ञान नहीं था न तब, 'यह मैं ही हूँ, मैं ही ब्राह्मण हूँ, मैं ही फलाना हूँ', पूरा उसी तरह से जी रहे थे, और फिर डॉक्टर से कहता है, 'साहब, मुझे बचा लेना।' बुढ़ापे में कहते हैं न, डॉक्टर से? लेकिन उस डॉक्टर की बहन मर गई, माँ गई, वह तुझे क्या बचाएगा?

प्रश्नकर्ता : अनित्य भावना का कारण क्या है? अनित्य भावना वाली स्थिति हो तो उस स्थिति में कैसे रहना चाहिए?

दादाश्री : देहाध्यास है तो अनित्यभाव ही है और देहाध्यास चला जाए तो अनित्यभाव नहीं है। दो भाग अलग हैं। जिसे अपना ज्ञान मिल गया, उसका देहाध्यास गया, यानी कि अनित्य भाव नहीं रहता।

जब तक देहाध्यास है, देह को 'मैं हूँ', ऐसा मानता है, वह विनाशी चीज़ को 'मैं हूँ', ऐसा मानता है इसलिए खुद विनाशी हो जाता है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ', यानी कि 'मैं अविनाशी हूँ, नित्य हूँ', ऐसा भान हो गया तो फिर अनिवाशी।

प्रश्नकर्ता : यदि नित्यभाव में आ जाए तो वह हमेशा के लिए उस स्थिति में आ जाता है, तब कैसी स्थिति होती है उसकी?

दादाश्री : भय छूट जाता है बिल्कुल। जगत् का बिल्कुल भी भय नहीं। जो थोड़ा-बहुत भय रहता है न, वह पूर्वजन्म का भरा हुआ भय है और मैंने जो आत्मा दिया है, उसमें भय नहीं है, निर्भयता है।

निरालंब के सामने नित्य छोटा लगता है दादा को

प्रश्नकर्ता : आपने अनुभूति में ऐसे कौन से तत्त्व का अनुभव किया, आपने कौन सी बात अनुभव की, जिससे आप अंदर से दृढ़ निर्णय करते हैं कि, 'मैं नित्य ही हूँ।'

दादाश्री : नित्य है, ऐसा? ओहोहो, नित्य का तो कितने ही काल से मुझे अनुभव है! नित्य, ऐसा तो। उस अनुभव से, मैं तो (देह से) अलग ही हूँ, ऐसा अनुभव करता हूँ। 'यह देह मैं हूँ ही नहीं', ऐसा मुझे लगता है। मैं तो कभी अंबालाल नाम भी भूल जाता हूँ।

प्रश्नकर्ता : वह तो ठीक है, क्योंकि खुद स्व-स्वरूप का अनुभव करते हैं इसलिए...

दादाश्री : यह जो आप नित्य कह रहे हो न, कि नित्य (अक्षर) वह तो बहुत छोटी चीज़ है, वह कोई बड़ी चीज़ नहीं है। मैं तो उस जगह पर बैठा हुआ हूँ कि जो आत्मा जगत् ने कभी जाना ही नहीं है। मैं निरालंब (अक्षरातीत) आत्मा पर पहुँचा हुआ हूँ। जहाँ पर शब्दों का भी अवलंबन नहीं है वहाँ पर मैं पहुँचा हुआ हूँ। अत: आप मुझे चाहे कैसे भी करो, गालियाँ दो, मारो, चाहे कुछ भी करो लेकिन मुझ तक पहुँच नहीं सकोगे। कुछ भी नहीं हो सकता उसे, ऐसा आत्मा हूँ।

नित्य तो छोटे बच्चे भी समझते हैं ऐसी चीज़ है। उसमें अन्य कोई समझने जैसी चीज़ नहीं है और पुनर्जन्म नित्यपने को सूचित करता है। छोटे बच्चे भी समझते हैं कि आत्मा निकल गया। डॉक्टर भी नाड़ी छूकर ही कहते हैं कि आत्मा निकल गया अंदर से। यह जो पड़ा हुआ है यह शरीर अनित्य (क्षर) है, और जो निकल गया वह नित्य है।

मरने का भय ही नहीं, उस नित्य स्वरूप का अनुभव

प्रश्नकर्ता : उसका दूसरा जन्म नित्यपने को सूचित करता है वह तो सही बात है ही, लेकिन ऐसा आपने क्या अनुभव किया जिससे कि आपको नित्यत्व की प्रतीति है?

दादाश्री : नित्य स्वरूप है, ऐसा लगता है न, इसलिए मरने का भय ही नहीं लगता। वह नित्य स्वरूप कुछ कम है जिसे कभी भी, एक क्षण के लिए भी मरने का भय लगा ही नहीं? इन सब के सामने कह देता हूँ कि (शरीर) जब जाना हो तब चला जाए। फिर उससे ज़्यादा तो नित्यपन कितना...

माउन्ट आबू में पालनपुर के एक भाई आए थे। वे मुझसे कहने लगे, 'आत्मा नित्य है, इस बात का प्रमाण दीजिए।' तब मैंने कहा, ऐसा तो अपने हिन्दुस्तान के सभी बच्चे भी समझ जाते हैं कि, 'भाई, आत्मा निकल गया।' डॉक्टर भी कहते हैं, 'अंदर से आत्मा निकल

गया', वह क्या आपको नित्यता का प्रमाण नहीं लगता? तो उन्होंने कहा, 'ऐसा प्रमाण नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण। एक्ज़ेक्ट प्रमाण दीजिए।' तब मैंने बताया, इस शरीर को अभी ही ले लो। हम खुद नित्य ही हैं ऐसा हमारे अनुभव में है ही और मैं इस शरीर के अंदर रहता ही नहीं हूँ। मैं एक क्षण के लिए भी इस शरीर में नहीं रहा हूँ। पड़ोसी के तौर रहता हूँ, बाइस साल हो गए। तब उन्हें विश्वास हो गया। उन्होंने कबूल कर लिया कि 'आप शरीर ले लेने को कहते हैं, यानी आपको भान है कि आत्मा नित्य है।'

प्रश्नकर्ता : 'नित्य है' ऐसा भान है!

दादाश्री : हाँ! भय किसलिए, अभी ले ले न! हमें कोई आपत्ति है ही नहीं लेकिन फिर भी छूटने की इच्छा नहीं है क्योंकि मन में ऐसी भावना है कि जो सुख मैंने प्राप्त किया है वह सुख लोग प्राप्त करें। इतनी भावना तो है ही। फिर भी कोई शरीर ले ले तो आपत्ति नहीं है लेकिन यदि है तो अच्छा है, लगता है कि लोग कुछ प्राप्ति करें।

'नित्य' आत्मा संग, ज्ञानी सदा निरालंब

आत्मा शाश्वत ही है, नित्य है, सनातन है, अनुभव में आ सके ऐसा है, और मैं उसी में रहता हूँ, उस आत्मा में ही रहता हूँ। इसलिए अवलंबन भी नहीं है। इस वर्ल्ड में मुझे किसी भी शब्द का अवलंबन नहीं है। ये दादा का ज्ञान प्राप्त किए हुए महात्मा आप सब हाइ-टॉप पर जाओ, तब भी आपको 'मैं शुद्धात्मा हूँ', उस शब्द का अवलंबन रहेगा और हमें तो उस शब्द का भी अवलंबन नहीं है।

उसमें हर्ज नहीं है, उस शब्द के अवलंबन पर आ जाओ तो भी बहुत हो गया लेकिन यदि उस अनुसार इस ज्ञान में आ जाओगे न, तो बहुत कुछ हो गया। वह भगवान कहलाएगा।

❖❖❖❖❖

[14]
आत्मा थर्मामीटर जैसा

खुद का ही आत्मा थर्मामीटर समान

प्रश्नकर्ता : ऐसा कैसे समझ में आएगा कि हमें धर्म का सार प्राप्त हुआ है?

दादाश्री : वह तो, यदि कोई मारे, लूट ले तब भी राग-द्वेष नहीं हों, वही उसका थर्मामीटर। थर्मामीटर चाहिए न? रोने लगे तो भी हर्ज नहीं है, राग-द्वेष नहीं होने चाहिए।

प्रश्नकर्ता : राग-द्वेष नहीं हुए, ऐसा कैसे पता चलेगा?

दादाश्री : हाँ, उसके लिए थर्मामीटर लगाकर देख लेना आप। जैसे कि जब हमें बुखार आता है तब थर्मामीटर लगाने से पता चलता है या नहीं? कितनी डिग्री है, ऐसा पता नहीं चलता? चढ़ा हुआ बुखार उतर गया, ऐसा भी पता चलता है या नहीं चलता?

हमें सोते-सोते पता चलता है कि यह बुखार आया है! यह बुखार ज़्यादा हुआ है, बुखार कम हो गया है, बुखार उतर गया है, यह सब कौन बताता है हमें? उसी तरह अपना आत्मा थर्मामीटर जैसा है। वह सभी तरह की खबर देता है।

आत्मा थर्मामीटर समान है। वह जब दिखाता है कि कितनी डिग्री तक का बुखार हुआ है, तब उसे बुखार नहीं होता। थर्मामीटर को कभी भी बुखार नहीं हुआ है, वह तो बल्कि बुखार दिखाता है। लोग तो कहेंगे कि, 'भाई, इस बुखार को छू-छूकर इसे बुखार हो गया है।' अरे भाई, उसे कभी बुखार हो सकता है? डॉक्टर को हो सकता है, जो

थर्मामीटर का मालिक है उसे, लेकिन थर्मामीटर को बुखार नहीं हो सकता। अत: आत्मा थर्मामीटर समान है। खुद को सबकुछ पता चलता है।

प्रश्नकर्ता : खुद को अपने आप ही पता चल जाता है?

दादाश्री : हाँ, मन-वचन-काया इफेक्टिव हैं और आत्मा थर्मामीटर जैसा है, तुरंत ही पता चल जाता है।

अंदर अच्छा-बुरा सब दिखाता है आत्मारूपी थर्मामीटर

जिनमें आत्मा है, वे चाहे पढ़े-लिखे हों या अनपढ़, यह नहीं देखना है। अध्यात्म में आत्मा को पढ़ाई की ज़रूरत नहीं है। पढ़ाई की ज़रूरत संसार में है। अनपढ़ स्त्रियाँ भी समझ जाती हैं कि इन्होंने यह जो किया है यह गलत कहा जाएगा। वे कैसे समझ जाती हैं? अनपढ़ हैं न? उनके पास आत्मा ही थर्मामीटर है इसीलिए सब समझ जाती हैं। जहाँ पर आत्मा थर्मामीटर है, वहाँ पर तुरंत ही सब पता चल जाता है कि, 'उल्टे रास्ते चला।'

यदि चिंता हो रही हो तो क्या ऐसा पता नहीं चलता कि चिंता हो रही है? समाधि रहती हो तब भी उसे पता चलता है न? वह थर्मामीटर कौन सा है? वह थर्मामीटर कहाँ से लाया तू? आत्मा थर्मामीटर समान है।

तू परीक्षा में गलती कर रहा हो न, उस समय तुरंत पता चल जाता है न, कि यहाँ गलती हो रही है?

प्रश्नकर्ता : गलती होने के बाद याद आता है।

दादाश्री : बाद में लेकिन कोई और बीच में नहीं आया फिर भी पता चल ही जाता है न? आवरण खिसकते ही तुरंत पता चलता है। कितने ही लोग ऐसा जानते हैं कि खुद (परीक्षा में) पास होंगे या नहीं। कुछ तो ऐसा कहते हैं कि हंड्रेड परसेन्ट गारन्टी से पास हो ही जाऊँगा। खुद को सब पता है कि कितने प्रतिशत आएँगे! प्रतिशत का भी पता चल जाता है क्योंकि अंदर आत्मा है थर्मामीटर जैसा, सभी

खबरें देता है लेकिन अगर परतें मोटी हों तो पता नहीं चलता। अंदर आत्मा है, थर्मामीटर। अंदर का देखना चाहें तो थर्मामीटर से पता चल सकता है।

थर्मामीटर दिखाता है सबकुछ, यदि निष्पक्षपातीपन से देखें तो

प्रश्नकर्ता : हम मोक्ष में जाने वाले हैं, ऐसा कैसे पता चल सकता है?

दादाश्री : सब पता चल सकता है। अपना आत्मा है न, वह थर्मामीटर जैसा है। भूख लगे तो पता नहीं चलता? संडास जाना हो तो आपको पता चलता है या नहीं चलता? सभी कुछ पता चलता है। किस योनि में जाने वाला है, उसका भी पता चलता है। निष्पक्षपाती रूप से देखता नहीं है। खुद तटस्थ भाव से देखे न, तो आत्मा थर्मामीटर है। आप जो कहो उतना नाप निकाल देता है।

प्रश्नकर्ता : उस स्टेज तक पहुँचना होगा न?

दादाश्री : नहीं! लेकिन आत्मा उस स्टेज वाला ही है। सिर्फ निष्पक्षपाती रूप से देखना ही है। साथ ही हमें पक्षपात में नहीं पड़ना चाहिए। संडास जाने का अंदर पता तो तुरंत चल जाता है लेकिन साथ ही पक्षपात, यानी क्या? अपने यहाँ कोई सोने का व्यापारी आया हुआ हो और उनके साथ बातों में लगे रहें, तो क्या होता है? उस सोने पर पक्षपात हो गया, इसलिए यह थर्मामीटर जो संडास जाने का दिखाता है वह बंद हो जाता है फिर। वर्ना पक्षपात नहीं हो न, तो आत्मा थर्मामीटर है, सभी कुछ दिखाए ऐसा है।

नीयत खराब, इसलिए मगन रहता है पुद्गल पक्ष में

कोई रात को मुँह में इतना श्रीखंड डाल दे और उसके बाद पूछे कि क्या है? तो घोर अंधेरे में भी वह सारा वर्णन कर सकता है। अरे भाई, इतनी अधिक शक्ति है! अंधेरे में तू श्रीखंड का वर्णन कर रहा है कि अंदर दही है लेकिन दही में ज़रा सी गंध है। तो अंदर

अंधेरे में कैसे जान लिया तूने? खट्टा-मीठा लगा इसलिए दही है, शक्कर है, सारा हिसाब ढूँढ निकाला। फिर अंदर इलाइची है, चिरौंजी है, किशमिश है। तो क्या यह सब करना नहीं आएगा? लेकिन नीयत खराब है। खाली समय में सोचना ही नहीं है। यों रात को श्रीखंड के बारे में बता देता है तो क्या यह सब करना नहीं आएगा?

कृपालुदेव ने कहा है न कि, 'आत्मा थर्मामीटर है।' तो थर्मामीटर कहने के बाद में फिर यदि हमें बुखार चढ़े या उतरे, तो उसका पता नहीं चलेगा? लेकिन नीयत ही खराब है। दूसरा, एक पड़ोसी मिल जाता है, वह भी खराब नीयत वाला, कहता है 'लो, यह पेपर पढ़ो, साहब।' 'अरे भाई, पेपर क्यों पढ़वा रहा है? कुछ और बता, बोल न कुछ अच्छा!' पेपर दे जाता है पढ़ने को, इस प्रकार उसे लोकसंज्ञा में से बाहर ही नहीं निकलने देता। कृपालुदेव ने बहुत बताया, 'लोकसंज्ञा दुःखदायक है, त्रासदायक है', लेकिन फिर भी लोकसंज्ञा में रहते हैं न लोग, आराम से!

ज्ञान के बाद थर्मामीटर दिखाता है खुद की भूलें

प्रश्नकर्ता : दादा, ये सब तो स्थूल बातें हुईं लेकिन खुद की जो अनंत सूक्ष्म भूलें हो रही हैं उनका पता तो यदि अंदर शुद्धता आ जाए, ज्ञान हो जाए, तभी आत्मा असल थर्मामीटर बनता है न?

दादाश्री : सही है, सिर्फ आत्मा ही शुद्ध हो जाना चाहिए, उसे शुद्धता की प्राप्ति कर लेनी चाहिए कि, 'मैं यह चंदू नहीं हूँ और मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा होना चाहिए। तो अपने यहाँ ज्ञान मिलने के बाद आत्मा असल थर्मामीटर जैसा बन जाता है।

बाकी, अज्ञानता में खुद सहज स्वभाव से जो कार्य या क्रिया कर रहा होता है न, उसमें कभी भी ऐसा नहीं दिखता कि भूल खुद की है। बल्कि कोई भूल दिखाए तब भी उसे उल्टा दिखाई देता है। वह जप करे, तप करे या त्याग करे, उसे खुद की भूलें नहीं दिखाई देतीं। वह तो, जब खुद आत्मस्वरूप होगा, ज्ञानी पुरुष द्वारा दिया गया आत्मा

प्राप्त होगा... तो सिर्फ आत्मा ही थर्मामीटर जैसा है, जो भूल दिखाता है। बाकी, भूल नहीं दिखाई देती किसी को। भूल दिखाई दे तब तो काम ही हो जाएगा। भूल खत्म हो जाए तो परमात्म सत्ता प्राप्त होती है। परमात्मा तो है ही, लेकिन सत्ता प्राप्त नहीं होती। परमात्मा की सत्ता कब प्राप्त होती है? भूल खत्म हो जाने पर। भूल खत्म नहीं होती और सत्ता प्राप्त नहीं होती। 'हम परमात्मा हैं', ऐसा *लक्ष* हो गया है इसलिए अब धीरे-धीरे श्रेणियाँ चढ़ता है वह। उससे सत्ता प्राप्त होती जाती है।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा न, कि थर्मामीटर सभी कुछ बताता है, वह कौन है?

दादाश्री : वही, प्रज्ञा! (ज्ञान के बाद) सावधान कर-करके मोक्ष में ले जाती है।

थर्मामीटर रूपी आत्मा है ज्ञायक, नहीं है वेदक

प्रश्नकर्ता : दादा, अब खुद की भूलें तो दिखाई देती हैं लेकिन शारीरिक पीड़ा के समय थर्मामीटर जैसा नहीं रहता और दु:ख का *भोगवटा* आता है।

दादाश्री : नहीं! अगर दु:ख रहे तो फिर आत्मा ही नहीं है न! आप शुद्धात्मा हो। आपकी दृष्टि में दु:ख है ही नहीं लेकिन दु:ख महसूस होता है, तब आप प्रतिनिधि रूपी बन जाते हो, प्रतिनिधि का दु:ख आप स्वीकार कर लेते हो।

जानकार कभी भी सेफसाइड से बाहर नहीं जाता। अब वास्तव में खुद जानकार है, खुद जानता है। यह तो, दाढ़ दु:खती है तब कहता है, 'मुझे दु:ख रहा है।' अरे, दाढ़ को दाढ़ दु:खी। तू जानता है कि भाई, यह कितनी दु:खती है! तू जानता है कि दाढ़ ज़्यादा दु:ख रही है या कम दु:ख रही है। कम हो जाए तो उसे भी जानता है। 'अब अच्छा है', कहता है। अरे भाई, वही की वही है। बढ़ रही थी, उसे भी जानने वाला था और कम हुई, उसे भी जानने वाला है, आत्मा थर्मामीटर है। आत्मा वेदक नहीं है। शास्त्रकारों ने वेदक लिखा है, वह

क्रमिक मार्ग में है। वे ऐसा कहते हैं कि, 'इसे आत्मा ही भुगतता है।' क्रमिक मार्ग में वह भुगतता है, अहंकार है न! उसमें अहंकार सहित है और धीरे-धीरे अहंकार कम हो जाएगा। अपना अहंकार खत्म कर दिया है, फिर अपने लिए वह वेदक नहीं रहता, ज्ञायक रहता है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञायक रहता है।

दादाश्री : हाँ, थर्मामीटर जैसा है न! उसमें वेदकता नहीं है।

क्रमिक में आत्मा खुद वेदक, अक्रम में निर्वेद

क्रमिक मार्ग वालों का आत्मा वेदक है और अपने यहाँ निर्वेद है। वे आत्मा को वेदक कहते हैं। मेरा आत्मा तन्मयाकार हो गया, ऐसा कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : सही है।

दादाश्री : अपने यहाँ जानने वाला है कि *शाता* बरतती है या *अशाता* बरतती है।

प्रश्नकर्ता : जो *शाता-अशाता* का अनुभव करता है उसे भी देखना है, आप हमें इससे भी आगे की स्थिति में ले आए हैं।

दादाश्री : जबकि क्रमिक में ऐसा है कि वेदक घुस जाए तो, 'मेरा आत्मा घुस गया, उन्हें ऐसा लगता है।' वे घुसने ही नहीं देते।

प्रश्नकर्ता : वे घुसने नहीं देते तो व्यवहार डिस्टर्ब हो जाता है?

दादाश्री : हाँ, व्यवहार पूरा डिस्टर्ब हो जाता है। लेकिन उन व्यवहार को छोड़ते-छोड़ते, त्याग करते-करते आगे बढ़ते हैं। अपने यहाँ व्यवहार करने की छूट क्यों दी है? वह वेदक नहीं है। यह अक्रम है इसलिए। बाहर के तो, क्रमिक मार्ग तो ऐसा ही कहता है कि खुद ही वेदक है क्योंकि उसे पूरा ज्ञान नहीं हुआ है। वह पूर्ण आत्मा नहीं हुआ है। जो पूर्ण आत्मा हो चुका है वह वेदक नहीं रहता, निर्वेद होता है।

वेदक को अलग रखे, यह है सूक्ष्मता अक्रम विज्ञान की

क्रमिक मार्ग में आत्मा को वेदक कहा गया है। 'वेदकता, चैतन्यता, वह सब जीव विलास।' वहाँ भी अपना विज्ञान क्या कहता है? वेदने वाला अलग है और जानने वाला अलग है। 'मैं भोगता हूँ', कहता है तो तेरा है, वर्ना ये चंदूभाई भुगतते हैं, तो वेदने वाला वेदता है और तू जानता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् वेदक से आगे गया।

दादाश्री : वेदक से आगे गया। वर्ना वहाँ पर 'मैं वेद रहा हूँ', कहता है। 'उ... ओ बाप रे', तो दाढ़ दु:ख रही है उसके लिए तेरे बाप को क्यों बुलाया भाई? क्योंकि खुद भुगतता है इसलिए।

और जानने वाले के पद में है तो दाढ़ दु:खने पर अंदर जो वेदक है उससे कहता है कि, 'भाई, यह तो अंदर जो हिसाब है वह चुक रहा है।' लेकिन 'बाप रे' नहीं बोलता, दु:खता तो है ही। वेदक को वेदना होती है लेकिन 'बाप रे' नहीं बोलता। फिर बाप को क्यों बुला रहा है? वे तो चले गए। पचास साल तो हो गए उन्हें। तब भी 'बाप... रे' बोलता है, नहीं?

प्रश्नकर्ता : ऐसे में 'क' से आगे का है अपना। हम तो 'क' को देखते हैं। इन सभी 'क' को देखना है!

दादाश्री : हाँ, देखो इन सब से अलग हो गया है आत्मा। वेदकता से भी अलग हो गया क्योंकि आत्मा निर्वेद है। क्रमिक में वेदक है, यह निर्वेद है। इतनी अधिक सूक्ष्मता तक पहुँचा है यह विज्ञान! इसलिए निरंतर समाधि रहती है न! वेदक हो तो चिंता हुए बगैर रहेगी नहीं।

अत: वीतराग का थर्मामीटर सही है। उस थर्मामीटर के साथ इसे रखें, तो वह जितना बुखार दिखाए अगर यह उतना ही बुखार दिखाए तब समझना कि यह थर्मामीटर सही है।

थर्मामीटर को नहीं आता बुखार, जो कुछ होता है उसका रहता है जानकार

मैंने शुद्धात्मा दिया है, वह थर्मामीटर है। वह तो, कितना दु:खता है, बढ़ा उसका जानकार है, कम हुआ उसका भी जानकार है। तू थर्मामीटर है, थर्मामीटर को बुखार नहीं आता। जो जानता है कि कम-ज़्यादा हुआ, क्या उसे बुखार आ सकता है? लेकिन ये लोग न जाने क्या मान बैठे हैं, वे थर्मामीटर को बुखार चढ़ाते हैं। थर्मामीटर को बुखार आ गया, ऐसा कहते हैं। डॉक्टर का कितना खराब दिखाई देता है, नहीं? डॉक्टर का खराब दिखाई देगा न, थर्मामीटर को बुखार चढ़ा कहेंगे तो?

थर्मामीटर को बुखार नहीं आता कभी भी। डॉक्टर को आ सकता है, मरीज़ को आ सकता है लेकिन थर्मामीटर को बुखार नहीं आ सकता। आत्मा थर्मामीटर है। तो अंदर क्या हो रहा है? तब कहते हैं, 'जल रहा है।' 'तो कौन जला?' तब कहता है, 'मैं जला।' तब पूछें, 'तू जला?' फिर से पूछें कि, 'कौन जला?' तब कहता है, 'यह शरीर जला', तब कहता है कि 'शरीर जला।' (आत्मा) थर्मामीटर है। दर्द बढ़ता है या कम होता है, उसका जानकार है। तुरंत पता चल जाता है कि दर्द कम होने लगा है। यह बढ़ने लगा है। अरे भाई, तू थर्मामीटर को इसमें क्यों डाल रहा है? हम पूछें कि, 'अब कैसा है?' तब कहता है, 'अब कम होता जा रहा है।' तो फिर जानकार कौन है? जिसका दर्द कम हो रहा है, उसे पता चलता है या थर्मामीटर को पता चलता है यह? दर्द कम-ज़्यादा होता है न, लेकिन 'मुझे दर्द हो रहा है', यह रोंग बिलीफ है और जो कम-ज़्यादा हो रहा है वह *पुद्गल* को हो रहा है। आत्मा तो उसे जानता ही है कि यह बढ़ा और यह घटा। यदि आप दादा द्वारा दिए गए आत्मा रूप में रहते हो तो आप पर कुछ भी असर नहीं होगा लेकिन आपको पुरानी प्रैक्टिस है न, इसलिए ज़रा उसमें घुस जाते हो, तब ज़रा असर हो जाता है। उसे फिर तुरंत धो देना पड़ेगा। इस हाइवे पर कभी घूमे नहीं हो, नया-नया हाइवे है इसलिए फिर

उलझन हो जाती है न! धीरे-धीरे प्रैक्टिस करने से फिर ठिकाने पर आ जाएगा। बाकी, जब आत्मा खुद ही थर्मामीटर हो गया तब फिर रहा क्या? खुद, क्या हकीकत है, क्या वास्तविकता है, ऐसा सब जानता है।

वे भाई ये सब बातें कर रहे थे तब मैंने कहा, 'थर्मामीटर को ऐसे कैसे हो सकता है?' तब कहने लगे, 'हाँ, ऐसा नहीं होता है।' मैंने कहा, 'थर्मामीटर स्टेज में नहीं आ जाना चाहिए यह सब?'

प्रकट शुद्धात्मा काम करता है थर्मामीटर जैसा

आप में तो ऐसा शुद्धात्मा प्रकट हो गया है कि जब कहो तब थर्मामीटर की तरह काम करता है। जिस प्रकार थर्मामीटर लगाते ही काम करने लगता है न, उस तरह से। आत्मा खुद ही थर्मामीटर है। वह तो बुखार नापता है, उसे बुखार नहीं आता लेकिन यही भ्रांति है न, कि 'मुझे बुखार आया।' तू जानता है कि तुझे (चंदू को) कितना बुखार आया है लेकिन तुझे भ्रांति से ऐसा समझ में आता है कि एक ही है। 'मुझे' हुआ कहा कि चिपक जाएगा। अन्य धर्म को बिल्कुल भी खुद का धर्म नहीं मानना चाहिए, दोनों को अलग रखना चाहिए।

ये सभी (महात्मा) आत्मा के थर्मामीटर का उपयोग करते ही हैं। बुखार कितना चढ़ा, कितना उतरा, सबकुछ जानते हैं। कषाय चढ़े या कषाय खड़े हुए ऐसा सबकुछ जानते हैं। सभी चीज़ें जानते हैं। क्या-क्या हुआ, वह भी जानते हैं। फिर उसका समभाव से *निकाल* भी कर देते हैं क्योंकि अपनी ये सारी *निकाली* बाबतें हैं, अन्य किसी जगह पर *निकाल* नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : उसका कोई थर्मामीटर है कि आगे बढ़ रहे हैं या नहीं, ऐसा जानने के लिए?

दादाश्री : वह थर्मामीटर तो आत्मा ही है। वह बता देगा कि, 'अभी तक ठीक नहीं है। इतने तक अनुभव ठीक है।' आत्मा थर्मामीटर की तरह काम करता ही रहता है।

❖❖❖❖❖

[15]
निर्विकारी-अनासक्त

[15.1]
विकारी-निर्विकारी

आत्मा निर्विकारी है, लेकिन अहंकारी चिंतवन से हो जाता है विकारी

प्रश्नकर्ता : आत्मा निर्विकारी है, तो फिर ये सारे जीवात्मा विकारी कैसे हो जाते हैं?

दादाश्री : आत्मा का (अज्ञानता में) एक गुण ऐसा है कि जैसा चिंतवन करता है वैसा ही हो जाता है। यों तो मूल गुण निर्विकारी है लेकिन वह चिंतवन करता है कि, 'मैं विकारी हूँ', तो विकारी हो जाता है। मूल गुण नहीं जाता लेकिन चिंतवन किए हुए गुण का नाश हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : तो यह विकारी अथवा निर्विकारी वह खुद ही हो जाता है?

दादाश्री : ऐसे संयोग आएँ तो विकारी भी हो जाता है। वह खुद कहता भी है कि मेरा स्वभाव विकारी है। संयोग आएँ तो निर्विकारी भी हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : वह कौन है?

दादाश्री : अहंकार।

प्रश्नकर्ता : यानी यह अहंकार तो है ही। अहंकार तो उसका जो अस्तित्व था वह है, लेकिन संयोगों के अनुसार बदलता है।

दादाश्री : अहंकार नहीं होता तो यह कुछ भी नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : यह कुछ भी नहीं यानी?

दादाश्री : ये विकार ही नहीं होते और वह वापस निर्विकारी भी नहीं हो पाता। अहंकार है इसलिए हो पाता है।

'मैं' के वर्तन से, बरते विकारी-निर्विकारीपन

प्रश्नकर्ता : मूल आत्मा तो निर्विकारी ही है!

दादाश्री : वहाँ पर तो विकार है ही नहीं। अकामी, अनासक्त!

प्रश्नकर्ता : तो क्या यह अहंकार भी उस रूप हो सकता है? अहंकार भी निर्विकारी हो सकता है?

दादाश्री : निर्विकारी ही है। वह जब कहता है, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', तब शुद्ध हो जाता है और 'मैं विकारी हूँ' तो विकारी हो जाता है। निर्विकारी कहे तो निर्विकारी, 'मैं ब्रह्मचारी' कहे तो ब्रह्मचारी हो जाता है।

'मैं' कहाँ पर बरतता है, उस पर से निरागीपन तथा निर्विकारीपन समझा जा सकता है। यह 'मैं नहीं हूँ' और 'मेरा नहीं है', वह निर्विकारी है। 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है', वह विकारी संबंध है। विकारी संबंध प्रतिष्ठित आत्मा का है, शुद्धात्मा तो निर्विकारी है।

पुद्‌गलपक्षीय अहंकार, कर देता है सब विकारी

प्रश्नकर्ता : आत्मा की उपस्थिति के बिना यह विकारी गुण उत्पन्न नहीं हो सकता, तो उसके विकारी हो जाने में आत्मा की उपस्थिति का निमित्त क्या काम कर जाता है जिससे कि वह विकारी बनता है?

दादाश्री : सूर्य की उपस्थिति से सेल में पावर भरता है न? उसी प्रकार आत्मा की उपस्थिति से यह सब हो जाता है। उसमें आत्मा, यानी भगवान कुछ भी नहीं करते। वे तो प्रकाश देते हैं जीवमात्र को।

प्रश्नकर्ता : वे भगवान तो सहज प्रकाश देते हैं, तो फिर बीच में यह कौन है, जो इन सब को विकारी कर देता है?

दादाश्री : जो मोक्ष ढूँढ रहा है वह, जो बंधा हुआ है वह।

प्रश्नकर्ता : और उसे आपने कहा, अहंकार?

दादाश्री : हाँ, अहंकार और ममता। जो बंधा हुआ है वह छूटना चाहता है।

प्रश्नकर्ता : वह जो बंधा हुआ है वह कौन से पक्ष में है? प्रकाश के पक्ष में है या इन परमाणुओं के पक्ष में?

दादाश्री : परमाणुओं के पक्ष में। वह परमाणुओं से बना हुआ है। वह परमाणुओं का विकारी स्वरूप है।

परमाणुओं की जो विकारी अवस्था है उसे *पुद्‌गल* कहते हैं। *पुद्‌गल* अर्थात् *पूरण-गलन*। आत्मा अलग है और यह *पूरण-गलन* अलग है। जब तक *पूरण-गलन* के सौदे में हो, तब तक आत्मा प्राप्त नहीं होगा। जब वे सौदे बंद हो जाएँगे, उस सौदे के मालिक आप नहीं रहोगे, तब आपको आत्मा प्राप्त होगा।

विभाव व विशेष भाव हैं विकार

प्रश्नकर्ता : विकार का अर्थ क्या है? विकार का सैद्धांतिक अर्थ समझाइए।

दादाश्री : आत्मा में विकार आने से यह संसार खड़ा हो गया है। निर्विकार अर्थात् मोक्ष।

प्रश्नकर्ता : विकार ही समझ में नहीं आता, विकार किसे कहते हैं, विकार शब्द?

दादाश्री : पानी को गिराएँ, तो वह अपने आप ही नीचे जाता है। उसे विकार नहीं कहते, निर्विकार कहते हैं। अगर पानी को ऊपर चढ़ाएँ एक फुट, तो उसे विकार कहा जाता है। पानी को एक फुट ऊपर चढ़ाया जाए तो वह उसका स्वभाव नहीं है, उसे विकारी होना कहा जाएगा। ऐसे तरह-तरह के विकार हैं। हम दूध में जामन डालकर रख देते हैं और सुबह दही बन जाता है, उसे विकार कहा जाएगा। हमें उसका दही बनाना हो तो अलग बात है लेकिन दूध मीठा था और यों अपने आप ही खट्टा हो गया तो उसे विकारी नहीं कहा जाएगा। हमने किया हो तो वह बात अलग है और अपने आप ही हो जाए, वह अलग है।

शुभाशुभ पूरा ही विकार, ज्ञानक्रिया निर्विकार

मोक्ष में जाना हो तो, कोई व्यक्ति दान देता है वह भी विकार कहलाता है, यदि दया रखता है तो वह भी विकार कहलाता है, ऐसा सबकुछ विकार कहलाता है। संसार में नाम कमाना हो तो दया रखता है, शांति रखता है, तो उसे निर्विकार कहा जाता है, अगर वह झूठ बोले, लुच्चाई करे, चोरियाँ करे तो उसे विकार कहा जाएगा। यदि मोक्ष में जाना हो तो इसे विकारी स्वभाव कहा जाएगा ये सब जो अच्छा करते हैं न, वे सब भी विकारी।

प्रश्नकर्ता : जिसे मोक्ष में जाना हो उसके लिए अच्छा करना भी विकारी है?

दादाश्री : हाँ, मोक्ष में जाना हो तो यह सब विकार ही है! विकार यानी ऐसा करने का भाव नहीं रखना है, तभी मोक्ष में जाएगा। निर्विकारी स्वभाव! यह 'कारी' स्वभाव नहीं है, वि-कारी। विकार... वि-क्रिया करने वाला। खुद का स्वभाव ज्ञान स्वभाव, ज्ञानक्रिया करने का है। यह विकार, 'कार' है लेकिन विकार! यह जगत् पूरा विकारी ही है, सिर्फ ज्ञानी ही निर्विकारी कहलाते हैं।

प्रश्नकर्ता : हम तो ऐसा समझते हैं कि खराब विचार आए यानी विकारी। इतना ही समझते थे...

दादाश्री : लोग उसे विकारी कहते हैं, क्योंकि बीच में सब स्टेशन हैं न, पुण्य का, दान का! अत: शुभाशुभ को, अशुभ करे तो वह विकार है और शुभ करे वह विकार नहीं है, ऐसी मान्यता है वह। जबकि मोक्ष में जाना हो तो शुभाशुभ, दोनों ही विकार हैं।

आत्मज्ञान होने से प्राप्त होता है निर्विकारी पद

विकार से ही संसार खड़ा हुआ है यह पूरा। यह संसार अर्थात् विषयों का विकार। पाँच इन्द्रियों के विषय, उनके विकार हैं। जबकि मोक्ष अर्थात् निर्विकार। आत्मा निर्विकारी है। वहाँ पर राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : निर्वासनिक अर्थात् वासना रहित। वासना रहित होना, वह तो चैतन्य जागृति के लिए ही है न? वासना रहित रहना है, निर्वासनिक।

दादाश्री : वासना रहित कोई रह ही नहीं सकता। निर्वासनिक भी एक प्रकार की वासना ही है, निर्वासनिकपन कहते हैं उसे। 'मैं निर्वासना वाला हूँ', तो वह भी वासना ही है।

प्रश्नकर्ता : बात सही है लेकिन उस विकारी किनारे से निर्विकारी किनारे तक पहुँचने के लिए कोई नाव तो होनी चाहिए न?

दादाश्री : हाँ, उसके लिए आत्मा का ज्ञान है, वह प्राप्त करना चाहिए। इस संसार का ज्ञान तो बुद्धिजन्य ज्ञान है।

प्रश्नकर्ता : बुद्धिजन्य ज्ञान है?

दादाश्री : हाँ, अत: स्वयं प्रकाशित ज्ञान होना चाहिए, जिसे विज्ञान कहा जाता है। ऐसा विज्ञान चाहिए। वह तो, कोई ज्ञानी पुरुष होंगे तब उसकी दृष्टि बदल जाएगी, वर्ना दृष्टि नहीं बदल सकती। रोग है न इसलिए। यानी देखते ही तुरंत रोग खड़ा हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : क्योंकि यहाँ पर कर्म की निर्बलता पड़ी हुई है। वह सबल नहीं हुआ है यहाँ पर।

दादाश्री : वह परसत्ता में है न!

प्रश्नकर्ता : वह परसत्ता में है। वह स्वसत्ता में हो तो ऐसा नहीं हो सकता।

दादाश्री : हाँ, अब यदि अकेले हैं तो त्यागी पुरुष को कोई परेशानी नहीं आती लेकिन कोई दिखाई दे तो मन में विकारभाव उत्पन्न हो जाता है। जब तक ज्ञान नहीं हो जाए तब तक निर्विकारी नहीं हो सकते।

स्वरूपज्ञान से अप्रतिबद्ध, रहे विकारों में भी निर्विकारी

मनुष्य को मुक्तता का भान हो जाना चाहिए। उसे मोक्षभाव कहा जाता है। मुझे निरंतर मुक्तता का भान रहता है, 'एनी व्हेर, एनी टाइम'। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव कोई मुझे प्रतिबद्ध नहीं करता। (कोई भी) चीज़ें प्रतिबद्ध नहीं करतीं। ये तो किसी की गलती की सज़ा किसी और को देते रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : तो फिर प्रतिबद्ध कौन करता है?

दादाश्री : स्वरूप का अज्ञान प्रतिबद्ध करता है। मैं यही कहना चाहता हूँ कि आप इन विकारों के बीच निर्विकारी रह सकते हो। यह विकार, विकार नहीं है, यह तो दृष्टिफेर है। यह प्रतिबद्ध करने वाली चीज़ है ही नहीं। आपकी दृष्टि टेढ़ी है, इसीलिए प्रतिबद्ध करता है।

प्रश्नकर्ता : आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद, मैं संपूर्ण रूप से निर्विकारी हो गया या मेरा माल संपूर्ण रूप से खप गया है, उसकी क्या निशानी है?

दादाश्री : निशानी तो, निरंतर समाधि रहती है। हमें *उपाधि* में भी समाधि रहती है।

प्रश्नकर्ता : ऐसा तो अभी भी थोड़ा-बहुत तो रहता ही है लेकिन?

दादाश्री : नहीं, लेकिन संपूर्ण रूप से रहे तो वही निशानी है, और कुछ भी नहीं है। निरतंर जागृति, वही संपूर्ण।

प्रश्नकर्ता : यों *उपाधि* तो चली गई है। हम चिंता मुक्त हो गए हैं, आपने कर दिया है। फिर भी उसकी कोई निशानी तो होगी न, कि हमें कोई ऐसा विज़न हो कि इस प्रकार से हो रहा है तो इस प्रकार से हम जाग्रत हो चुके हैं पूर्ण रूप से?

दादाश्री : विज़न तो सब से बड़ा हो गया है। विज़न तो, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वह विज़न व औरों में शुद्धात्मा दिखाई देते हैं वह विज़न। अन्य विज़न काम के नहीं हैं न! अन्य विज़न तो सारे बेकार हैं, नाटकीय विज़न कहलाते हैं।

❖❖❖❖❖

[15.2]
अनासक्त

स्व के भान से हुआ खुद अनासक्त-अकामी

प्रश्नकर्ता : यह जो जीवात्मा है, इसे अनासक्त भाव में आना है न?

दादाश्री : हाँ, अनासक्त होना है इसे क्योंकि खुद अनासक्त ही है लेकिन खुद का भान खो दिया है। खुद का भान उत्पन्न हो जाए, 'अनासक्त हूँ', ऐसा वह भान हो गया, (मैं चंदू हूँ वह) छूट गया तो 'अनासक्त है, अकामी है।' उसमें कोई भी चीज़ नहीं है, क्रोध-मान-माया-लोभ, कुछ भी नहीं। ये क्रोध-मान-माया-लोभ, वे तो आत्मा-अनात्मा, ज्ञान-अज्ञान के बंधन के रूप में हैं, ज़ंजीर हैं, नहीं तो अनासक्त भगवान को आसक्ति कहाँ से? भगवान अनासक्त हैं! अंदर जो बैठा है शुद्धात्मा, वह अनासक्त है और वह अकामी भी है। जबकि ये सब कामना वाले। जहाँ आसक्ति वहाँ कामना। लोग कहते हैं, मैं निष्काम हो गया हूँ। वे आसक्ति में रहते हैं, उन्हें निष्काम नहीं कहा जा सकता। आसक्ति के साथ कामना रहती ही है।

प्रश्नकर्ता : आसक्ति नहीं रहे, वही अनासक्त भाव है?

दादाश्री : अनासक्त तो अलग ही चीज़ है। अनासक्त तो कोई व्यक्ति हो ही नहीं सकता। अनासक्त तो सिर्फ आत्मा ही है। सिर्फ शुद्धात्मा ही अनासक्त है। अनासक्त भाव यानी जिन्होंने मूल स्वरूप को प्राप्त कर लिया है वे। जिस प्रकार जलेबी खाने के बाद में चाय पिलाई जाए तो फीकी लगती है, उसी तरह यह स्वरूप ज्ञान प्राप्त होने

के बाद में मन भटकता ही नहीं, पूरा जगत् फीका लगता है, विषय मात्र फीके लगते हैं।

आत्मज्ञान से हुआ अनासक्त, लेकिन प्रतीति रूप से

ऐसा है, यह 'ज्ञान' लिया और हमारी आज्ञा में रहे, तो वह अनासक्त कहा जाएगा। फिर चाहे वह खाए-पीए या काला कोट पहने या सफेद कोट-पेन्ट पहने या चाहे कुछ भी पहने लेकिन वह हमारी आज्ञा में रहा तो वह अनासक्त कहा जाएगा। यह आज्ञा अनासक्त का ही 'प्रोटेक्शन' है।

प्रश्नकर्ता : आसक्ति में से मुक्त होने के लिए, अनासक्त होने के लिए ज्ञानी पुरुष का सत्संग और विवेक, श्रेय-प्रेय की सही समझ कि यह मेरे श्रेय-प्रेय के लिए है। जब तक यह विवेक नहीं आ जाता तब तक आसक्ति नहीं जाती।

दादाश्री : नहीं जाती, ऐसे नहीं जाती लेकिन यदि ज्ञानी पुरुष मिल जाएँ और आत्मज्ञान हो जाए तब आसक्ति टूटती है। ज्ञानी पुरुष का खुद का आत्मा प्रकट हो चुका है। अब, आत्मा स्वभाव से अनासक्त है। देह में रहने पर आसक्ति है, देह से अलग रहने पर अनासक्त है। आत्मबुद्धि देह में हो तो वह आसक्ति है और आत्मबुद्धि देह में न रहे तो अनासक्त। अर्थात् अनासक्त का योग हो जाना चाहिए, और वह आपको हो गया है अच्छी तरह से।

प्रश्नकर्ता : आप ऐसा जो कहते हैं न दादा, वह इतना आसान नहीं दिखाई देता। टू बी वेरी फैक्ट कहता हूँ। आप कहते हैं कि यह हो गया, कुबूल। यहाँ पर मैं दो घंटे बैठता हूँ तब ऐसा लगता है कि मैं अनासक्त हो गया हूँ लेकिन बाहर निकला, चप्पल नहीं मिले, तब देखो मेरी आसक्ति!

दादाश्री : हाँ, ठीक है। चप्पल नहीं मिले तब ठीक है। वह बात तो आपको समझ में आती है न लेकिन?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : अब यहाँ पर ज्ञान प्राप्त होने के बाद में क्या हुआ, वह आपको बताता हूँ। चाहे वह मन में मान बैठा हो कि मुझे सब हो चुका है लेकिन क्या हुआ, वह बताता हूँ। 'मैं अनासक्त हूँ', ऐसी प्रतीति हुई है, वर्तन में नहीं है यह। ऐसी प्रतीति होने के बाद में धीरे-धीरे-धीरे उसकी तरफ, उसके प्रवर्तन की तरफ जाता ही रहता है। अभी मान लेने से कुछ बदलेगा? नहीं। अतः जब चप्पल नहीं मिले और उसमें आसक्ति दिखाई दे तब 'यह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं अनासक्त हूँ', ऐसा कहना।

शुद्धात्मा अनासक्त, आसक्ति रही है चंदूभाई में

ऐसा है न, आत्मा निरंतर अनासक्त ही था, अनासक्त रहेगा और अनासक्त है ही। आप यदि आत्मा हो गए हैं तो आसक्त कौन है? चंदूभाई। कोर्ट के प्रति कुछ आसक्ति है तो भी चंदूभाई को है, घर के प्रति आसक्ति है तो वह चंदूभाई को है। उसे आपको जानना चाहिए कि चंदूभाई में है। उसके लिए कोई दंड नहीं है। 'आप चंदूभाई हो', तो उसके लिए दंड है।

बाकी, आप तो अनासक्त (निष्काम स्वभावी) हो ही। अनासक्ति कहीं मैंने आपको नहीं दी है। आपका स्वभाव ही है और आप ऐसा मानते हो कि दादा का उपकार है कि मुझे अनासक्ति दी। नहीं-नहीं, मेरा उपकार मानने की ज़रूरत नहीं है। आपका खुद का स्वभाव है। आपको क्या लगता है, चंदूभाई? आपका खुद का स्वभाव है या मैंने दिया?

प्रश्नकर्ता : खुद का ही न!

दादाश्री : हाँ, ऐसा बोलो न ज़रा। सभी कुछ 'मैंने दिया, मैंने दिया', करोगे तो कब अंत आएगा?

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, आपने ऐसा भान करवाया न?

दादाश्री : हाँ! भान करवाया, बस इतना ही। बाकी का सब 'मैंने दिया है' ऐसा कहते हो, लेकिन बाकी का सब तो आपका है और आपको दिया है।

प्रश्नकर्ता : दादा, जो हमारा है वही आपने हमें दिया लेकिन हम ऐसा जानते ही कहाँ थे कि हमारा था?

दादाश्री : जानते नहीं थे लेकिन जान लिया न अंत में। जान लिया, उसका तो रौब ही अलग है न! जानने से कैसा रौब पड़ता है! नहीं? कोई गलियाँ दे तब भी उसका रौब नहीं जाता। हाँ, उसका कैसा रौब पड़ता है! जबकि वह (संसारी) रौब वाला का? 'ऐसे-ऐसे' नहीं किया हो न, ऐसा करना रह गया हो रिसेप्शन में, तो एकदम दु:खी हो जाता है। 'सभी को किया और मैं रह गया।' देखो इस रौब में और उस रौब में, कितना अंतर?

प्रश्नकर्ता : अत: पहले जिसमें आसक्त रहते थे, उसी में फिर अनासक्त हो जाएगा?

दादाश्री : हाँ, वही तो रास्ता है न! यह सब उसके स्टेपिंग ही हैं। बाकी, अंत में अनासक्त योग में आना है। प्रत्येक अवस्था में अनासक्त योग, वही पूर्ण समाधि है।

❖❖❖❖❖

[16]
निर्विशेष

विशेषण तो होते रहते हैं विलीन, मूल आत्मा है निर्विशेष

प्रश्नकर्ता : आत्मा निर्विशेष है, यह समझाएँगे?

दादाश्री : आत्मा निर्विशेष है, इसका विशेषण नहीं है। क्योंकि कोई चीज़ ऐसी नहीं जिसकी इससे तुलना हो सके, इसलिए निर्विशेष! जिसमें एड्जेक्टिव नहीं लगता, विशेषण नहीं लगता, फिर भी गुणधर्म वाला है।

प्रश्नकर्ता : शास्त्रों में तो आत्मा के लिए इतने सारे विशेषण हैं, वे क्या हैं?

दादाश्री : वे सब मूल आत्मा के विशेषण नहीं हैं। ये जितने विशेषण हैं ये व्यवहार आत्मा के हैं, मूल आत्मा निर्विशेष है। उसे कोई विशेषण है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो फिर मूल आत्मा को कैसे समझा जा सकता है?

दादाश्री : समझ में आ गया है न! नक्शे में आपने देख लिया है। नक्शे में आपने देखा कि मुंबई यहाँ पर है। फिर विरार, उसके बाद पालघर, और फिर वलसाड़, वह सब देख लिया इसलिए जब आपकी गाड़ी सूरत पहुँचती है तब आप कहते हो कि अभी इतना-इतना बाकी है लेकिन मूल आत्मा (मुंबई) तक पहुँच जाएँगे। लेकिन अन्य स्टेशनों के नाम तो बताने पड़ेंगे न? वे सारे आत्मा के नाम नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : तो फिर मूल आत्मा के लिए तो सिर्फ ज्ञाता-द्रष्टा और परमानंद, इतना ही रहा न? अन्य कुछ भी नहीं रहा न?

दादाश्री : वहाँ पर पहुँचने के बाद यह भी नहीं रहेगा। ये नाम तो हम लोगों ने दिए हैं। वे तो परमात्मा हैं, और कुछ भी नहीं है।

(मूल आत्मा) निर्विशेष है, निर्विशेष! जिसका विशेषण होता है न, वह विशेषण जब विलीन हो जाएगा तब फिर क्या रह जाएगा? विशेषण का स्वभाव है, यदि आप कोई भी विशेषण देते हो तो कभी न कभी वह विलीन हो ही जाएगा। फिर वापस जहाँ थे वहीं के वहीं, उसी जगह पर आ जाते हैं।

आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा व परमानंदी है अभी, मूल जगह पर निर्विशेष

प्रश्नकर्ता : यदि आत्मा के लिए कोई भी विशेषण नहीं है तो शून्यवाद आ गया।

दादाश्री : नहीं, शून्यवाद भी नहीं है, शब्द ही नहीं हैं वहाँ पर। जब तक शब्द हैं तब तक कल्पना है। फिर निर्विकल्प में भी कल्पना होती है और विकल्प में भी कल्पना होती है।

प्रश्नकर्ता : तो वहाँ पर क्या है?

दादाश्री : शब्दातीत, वहाँ पर कुछ भी नहीं पहुँचता। मूल आत्मा है, वहाँ पर शुद्धात्मा शब्द भी नहीं है। यह तो, हमने आरोपण किया है यों पहचानने के लिए कि, 'यह क्या है और वह क्या है', इस तरह अलग करने के लिए।

प्रश्नकर्ता : हाँ, तो फिर अंत में ऐसा तो है ही न, कि यह सब क्या है?

दादाश्री : परमात्मा है।

प्रश्नकर्ता : प्रकाश नहीं, आनंद नहीं, मैं नहीं, तो क्या है यह सब? आप कहते हैं कि शब्दों को एक तरफ रख दो। रख तो दिए

लेकिन अब पुरुषार्थ किस चीज़ का करना है? हम घर से यहाँ पर सत्संग में आते हैं तो किसलिए आते हैं?

दादाश्री : इसमें तो ऐसा है न, कि अब ये शब्द आपके समझने के लिए नहीं हैं, यह जानने के लिए कहता हूँ। वह तो जब आप उस जगह पर पहुँचोगे न, तब जान जाओगे। यदि अभी आरोपण करोगे तो मूर्ख बनोगे। अभी आरोपण करोगे तो उल्टे रास्ते चले जाओगे। अभी तो ऐसा ही कहना है कि, 'आत्मा ज्ञाता–द्रष्टा, परमानंदी है, उपयोगमय आत्मा है।' अभी तो ऐसा सब बोलना है। हम सूरत के स्टेशन पर हों और कहें कि मुंबई आ गया, और उतर जाएँ तो क्या होगा?

प्रश्नकर्ता : भटक जाएँगे।

दादाश्री : अभी तो आत्मा ज्ञाता–द्रष्टा, परमानंदी है। यह तो आपके समझने के लिए बताता हूँ कि मूल हकीकत क्या है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा को निर्विशेष कहते हैं तो वह भी उसका विशेषण हुआ या नहीं?

दादाश्री : नहीं, वह अपने समझने के लिए है। यानी वह मूल आत्मा के लिए नहीं है। जहाँ तक विकल्प पहुँचते हैं वहाँ तक सील करते रहते हैं ये लोग। विकल्पों को सील करते रहे हैं लेकिन फिर भी यदि आगे कोई विकल्प खड़ा हो जाए तो फट से सील कर देते हैं।

आत्मा के विशेषण हैं व्यवहार की भाषा में, तत्त्व रूप से निर्विशेष

प्रश्नकर्ता : यानी उसे विशेषण देने की ज़रूरत नहीं है।

दादाश्री : आत्मा निर्विशेष है, उसे विशेषण है ही नहीं लेकिन फिर भी व्यवहार में कहना पड़ता है, पहचानने के लिए। व्यवहार में हमें क्या कहना पड़ता है? कि भाई, ये गेहूँ की बोरियाँ हैं, तब आप व्यापारी से पूछते हो कि ये गेहूँ की बोरियाँ हैं? तो कहता है, 'हाँ', लेकिन आपको विश्वास नहीं होता, गलत हो और दूसरी चीज़

दे देगा तो क्या होगा? इसलिए आप दूसरे किसी को, बाहर वाले को बुलवाते हो, वह बाहर वाला अंदर चिमटी डालकर देखता है और फिर कहता है कि, 'भाई, गेहूँ ही है, आप ले जाओ।' फिर आप गेहूँ की पाँच बोरियाँ ले गए तब फिर अगर घर पर वाइफ से कहो कि मैं पिसवाने के लिए भिजवा देता हूँ, तब वे मना कर देती हैं। क्यों मना करती हैं?

प्रश्नकर्ता : अंदर कचरा होता है।

दादाश्री : अंदर कंकड़ वगैरह सब होते हैं। तब व्यापारी ने तो हमें बताया नहीं कि, 'भाई, अंदर कंकड़ हैं!' फिर भी व्यवहार में उसे गेहूँ ही कहते हैं। अंदर पच्चीस प्रतिशत कंकड़ हों तब भी उसे गेहूँ ही कहा जाएगा। ऐसा यह व्यवहार से है सारा।

प्रश्नकर्ता : व्यवहार की भाषा में हम ऐसा कहते हैं।

दादाश्री : व्यवहार की भाषा में। बाकी, मूल भाषा में तो वह शुद्ध है। मूल तत्त्व रूप से तो खुद भगवान ही है, निर्विशेष है।

आत्मा निरंतर शुद्ध भगवान ही

प्रश्नकर्ता : आत्मा के अशुद्ध, शुद्ध, विशुद्ध, ऐसे प्रकार हैं या आत्मा एक ही प्रकार का है?

दादाश्री : आत्मा तो वही का वही है। आत्मा में कोई चेन्ज नहीं है। सिर्फ जैसे संयोग हों उसी प्रकार से उसे नाम दिया जाता है। अपने घर पर सोने की थाली हो लेकिन जब खाना खाकर उठते हो तब उसे धोने को कहते हैं, 'जूठी है', ऐसा कहते हैं। जब तक भोजन नहीं परोसा जाता तब तक ऐसा कहते हैं, 'सोने की थाली प्योर है, शुद्ध है।' उसी प्रकार से इसे शुद्ध और अशुद्ध कहते हैं। वही का वही आत्मा, अलग-अलग संयोगों के संसर्ग से अशुद्धि दिखाई देती है और अशुद्धि निकल जाए तो शुद्ध ही है, खुद शुद्ध ही है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर आत्मा मैला हो जाता है क्या?

दादाश्री : वह मैला नहीं होता। उसे कुछ भी नही होता। यह भ्रामक मान्यता मैली होती है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा की श्रेष्ठता क्या है?

दादाश्री : आत्मा तो भगवान ही है, फिर श्रेष्ठता पूछने का कहाँ रहा? उसका कोई विशेषण नहीं है। श्रेष्ठ वगैरह ऐसा कोई विशेषण नहीं है। आत्मा खुद ही भगवान है। जिसमें ज़रा सी भी कोई भी कमी नहीं है। यदि पूरा जान सके और पूरा अनुभव में आ जाए तो वह खुद ही भगवान है।

❖❖❖❖❖

[17]
अवक्तव्य : अनुभवगम्य

[17.1]
अवक्तव्य

सूक्ष्मतम आत्मा, संपूर्ण वर्णन नहीं किया जा सकता शास्त्रों द्वारा

प्रश्नकर्ता : भगवान व्यक्ति के रूप में हैं या शक्ति के रूप में?

दादाश्री : दोनों सही है, लेकिन कोई व्यक्ति के रूप में पूजे तो उसे अधिक लाभ मिलता है। व्यक्ति के रूप में अर्थात् जहाँ पर भगवान व्यक्त हो चुके हों वहाँ पर! सिर्फ मनुष्यों में ही भगवान व्यक्त हो सकते हैं, अन्य किसी योनि में भगवान व्यक्त नहीं हो सकते। आत्मा ही परमात्मा है लेकिन व्यक्त हो जाना चाहिए। व्यक्त हो जाए, समझ में आ जाए, फिर चिंताएँ चली जाती हैं, परेशानियाँ चली जाती हैं।

प्रश्नकर्ता : भगवान कहाँ पर व्यक्त होते हैं?

दादाश्री : (आत्मा को जाने बगैर) भगवान व्यक्त हो जाएँ, वैसे नही हैं, वे अव्यक्त रूप से रहे हुए हैं!

प्रश्नकर्ता : शास्त्रों में आत्मा का सारा वर्णन दिया गया है, तो शास्त्रों द्वारा व्यक्त किए जा सकते हैं न?

दादाश्री : भगवान ने कहा है कि शास्त्र सारे महान ज्ञानी पुरुषों की ही वाणी है, बड़े ज्ञानी पुरुषों की सारी वाणी है लेकिन शास्त्रों में वाणी द्वारा आत्मा के कितने भाग का वर्णन किया जा सकता है? तो कहते हैं, पच्चीस-तीस प्रतिशत तक का वर्णन किया जा सकता है

क्योंकि आत्मा स्थूल नहीं है। आत्मा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और अंत में सूक्ष्मतम है। लेकिन उसके विभाग करते-करते स्थूल में वर्णन करना हो तो कितना हो सकता है? पच्चीस-तीस प्रतिशत वर्णन हो सकता है। उससे अधिक आगे वर्णन हो सके, ऐसा नहीं है। अतः तीस प्रतिशत द्वारा आपको पूरी ही वस्तु जाननी हो तो जान सको, ऐसा नहीं हो सकता।

ज्ञानी समझाते हैं अवक्तव्य आत्मा को संज्ञा रूप से

ये जगत् के लोग जो कहते हैं, शास्त्र जो कहते हैं, वह साधन है, वह गलत नहीं है लेकिन वह रेग्युलर (संपूर्ण) नहीं है। वे कुछ अंशों तक बता सकते हैं, उससे आगे वाणी नहीं पहुँच सकती। यानी कि बताई नहीं जा सकती। वाणी कुछ हद तक, जितना वक्तव्य (कह सकें ऐसी) है उतनी ही बोली जा सकती है, उतना ही पुस्तक में लिखा जा सकता है क्योंकि आत्मा अवक्तव्य है। अवर्णनीय है, निःशब्द है। वह शब्द रूप में नहीं है, वह स्थूल नहीं है, शब्दों से वर्णन हो सके ऐसा नहीं है, वाणी से बोला जा सके ऐसा नहीं है। अतः 'गो टू ज्ञानी।' वहाँ पर वे तुझे सूक्ष्म रूप से, संज्ञा रूप से समझाएँगे। शब्द नहीं हों तो संज्ञा तो है ही, और संज्ञा द्वारा अन्य कोई नहीं समझा सकता। भगवान की कृपा हो जाए तभी संज्ञा होती है, तो काम हो जाता है, वेदांत ऐसा कहते हैं। लोग भी ऐसा ही कहते हैं कि, 'भगवान ने शास्त्रों में आत्मा का वर्णन किया है।' लेकिन वह कैसा? पच्चीस प्रतिशत जितना स्थूल में आ सकता है, उतना ही। उससे अधिक नहीं किया।

प्रश्नकर्ता : तो आत्मा के गुणों का वर्णन हो सकता है?

दादाश्री : हाँ, जितना स्थूल में बताया जा सके उतना ही लेकिन गुण तो बहुत सूक्ष्म चीज़ हैं। यहाँ स्थूल में जितना बताया जा सकता है उतना बताया, और वह सब भी, द्रव्यानुयोग में है। अन्य किसी भी योग में आत्मा की बात नहीं है।

द्रव्यानुयोग में सारी बातें लिखी हुई हैं लेकिन जितनी लिखी जा सकती है उतनी ही लिखी हैं। शब्दों द्वारा लिखा है लेकिन वह स्वरूप

जो भगवान के ज्ञान में दिखाई दिया था उसे भगवान बता नहीं पाए, ऐसा कहते हैं। मुझे भी मेरे ज्ञान में दिखाई दिया है लेकिन बताया नहीं जा सकता, क्योंकि शब्द ही नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : वाणी से प्रकट नहीं हो सकता।

दादाश्री : उसके लिए शब्द ही नहीं हैं, किसके आधार पर समझाएँगे?

आत्म-अनुभव अवर्णनीय, फिर भी कृपा से संभव

प्रश्नकर्ता : तो फिर आत्मा और उसके गुणों का अनुभव संभव किस प्रकार से है?

दादाश्री : पूरा ही अनुभव किया जा सकता है लेकिन कौन से अनुभव से? यह जो अनुभव किया है उसका वर्णन नहीं हो सकता। अनुभव तो अवर्णनीय चीज़ है। 'शक्कर मीठी है', ऐसा कहने के बाद में हम पूछें कि मीठी का मतलब क्या है? तो उसकी कोई सिमिली (उदाहरण) नहीं दी जा सकती। उसी प्रकार से यह जो आत्मा का अनुभव हुआ है, उसकी सिमिली दी जा सके, ऐसा नहीं है। क्योंकि स्थूल चीज़ों के लिए तो हम दूसरी चीज़ बता सकते हैं कि इस जैसा है लेकिन आत्मसुख कोई (स्थूल) चीज़ नहीं है, कि जिसे बताया जा सके। यानी कि खुद अपना अनुभव होना चाहिए, कृपा के सिवाय वह अनुभव नहीं हो सकता। इसे जानने का स्थल सिर्फ ज्ञानी पुरुष ही हैं और ऐसी चीज़ है कि इसे शब्दों द्वारा नहीं जाना जा सकता। (क्योंकि यह) अवक्तव्य है, अवर्णनीय है। अतः कृपापात्र (हुआ) उसका फल है।

बुद्धिजन्य वक्तव्य, ज्ञानजन्य अवक्तव्य

प्रश्नकर्ता : हालांकि वह बात सही है लेकिन आत्मा सर्वथा अवक्तव्य है, ऐसा नहीं है। वह वक्तव्य है और अवक्तव्य भी है, इस बात को स्वीकारना होगा। अगर आप सर्वथा अवक्तव्य कहेंगे तब तो नहीं चलेगा।

दादाश्री : जब तक बुद्धिजन्य है तब तक ही वक्तव्य है, ज्ञानजन्य है तो वक्तव्य नहीं है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, तो फिर जितना वक्तव्य है उतना तो वक्तव्य में आना चाहिए।

दादाश्री : हाँ, उतना आ सकता है, उस हद तक की आपको छूट है। वक्तव्य है तब तक सारी छूट है। बुद्धिजन्य है वह वक्तव्य है और जो ज्ञानजन्य है वह पूरा अवक्तव्य है।

तीर्थंकरों का अनेकांत जगत् के लिए, दादा का केवल मोक्ष के लिए

प्रश्नकर्ता : ज्ञानजन्य वह वक्तव्य नहीं है तो फिर आप जो आत्मा का वर्णन करते हैं, वह क्या है?

दादाश्री : तीर्थंकर भगवंतों ने जिस आत्मा का अनुभव किया उस रूप हम नहीं हुए हैं लेकिन हम उस आत्मा को देखते हैं, काफी समय तक उस आत्मा में रहते हैं और उसी आत्मा को देखकर हम बता सकते हैं कि इतना अंतर है। जो देखने वाले थे, वे बताने की स्थिति में नहीं थे और हमारी स्थिति ऐसी है कि बता सकते हैं। हमारी स्थिति इतनी उच्च नहीं है उनके जितनी, इसलिए हमारा ऐसा है कि हम बता सकते हैं। बाकी, जिस आत्मा को जगत् ने कभी भी जाना नहीं है, उस आत्मा की हम ये सारी बातें बताते हैं, और वे भी कैसी?

प्रश्नकर्ता : सर्वमान्य!

दादाश्री : हं, वर्ना सिर्फ जैन ही मान्य करें या सिर्फ वेदांती ही मान्य करें, वह आत्मा दरअसल आत्मा नहीं है। तीर्थंकर सर्वमान्य जानते थे लेकिन तब वे बता सकने की स्थिति में नहीं थे।

प्रश्नकर्ता : उनके द्वारा वह क्यों बताया नहीं जा सकता था?

दादाश्री : वे इतनी ही वाणी बोल सकते थे।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उसका क्या कारण है?

दादाश्री : वैसी ही टेपरिकॉर्डर टेप हुई थी, खुले तौर पर नहीं कह सकते थे क्योंकि वे ज़िम्मेदार माने जाते हैं। वे जो कुछ भी बताते हैं वह पूरी दुनिया को *लक्ष* में रखकर बताते हैं और मैं तो मोक्ष में जाने वालों को *लक्ष* में रखकर बोलता हूँ। वे एक पक्षीय नहीं बोल सकते।

प्रश्नकर्ता : उन्हें जगत् के सभी लोगों को *लक्ष* में रखकर बोलना पड़ता है, जनरल?

दादाश्री : सभी को *लक्ष* में रखकर सर्व सामान्य बात करनी पड़ती है। उन्हें तो ऐसा भी कहना पड़ता है कि, 'भाई, यह तप करना पड़ेगा, त्याग करना पड़ेगा', ऐसा भी लिखना पड़ा और हम तो उसके लिए मना करते हैं। यह तो मोक्ष का मार्ग है। यह अनेकांत में एकांत है लेकिन जो अद्भुत आत्मा हमने देखा है, तीर्थंकर उसके बारे में नहीं बता सके। ऐसा फल भी कभी उत्पन्न हो नहीं पाए ऐसा है। कैसा फल उत्पन्न हुआ है? क्या कुछ देर लगी है? बिना मेहनत के? हं... मेहनत-वेहनत कुछ भी नहीं! हमें भी आश्चर्य हुआ है! इसीलिए कहते हैं, काम *निकाल* लो।

भेदविज्ञानी सारे तत्त्वों को अलग कर देते हैं

प्रश्नकर्ता : अब समझ में आया, दादा! यह जो ज़बरदस्त पज़ल (उलझन) खड़ी हो गई है, उसका हल तो शास्त्रज्ञानी भी नहीं ला सकते। उसके लिए एक्ज़ेक्ट आत्मज्ञानी से भेंट और उनकी कृपा की आवश्यकता है।

दादाश्री : अब, इसे सॉल्व करने के लिए शास्त्रज्ञानी का कुछ भी नहीं चलता, भेदविज्ञानी की आवश्यकता है। वे सभी तत्त्वों को अलग-अलग कर देते हैं। संपूर्ण जानते हों तभी सभी तत्त्वों को अलग-अलग कर सकते हैं। अत: केवलज्ञानी, भेदविज्ञानी की आवश्यकता है। वे 'यह भाग आत्मा और यह भाग अनात्मा', उसमें लाइन ऑफ डिमार्केशन डाल देते हैं। यानी कि छ: के छ: तत्त्वों के बीच ये भेदविज्ञानी लाइन ऑफ डिमार्केशन डाल देते हैं, उसके बाद अलग हो

जाता है। तब तक यह पज़ल सॉल्व नहीं हो सकती और मनुष्य पज़ल सॉल्व करने जाएँ तो वे उलझ जाएँगे, बल्कि और ज़्यादा उलझते जाएँगे। दिन-रात सॉल्व करने का प्रयत्न कर रहे हैं न? लेकिन और ज़्यादा उलझ जाते हैं। अत: जब तक ये भेदविज्ञानी के पास पज़ल सॉल्व न कर दें, तब तक इस संसार के सभी मनुष्य, साधु-संन्यासी, आचार्य, बैरागी, सभी उस पज़ल में ही डिज़ॉल्व हो जाते हैं। ज्ञान, वह शब्द नहीं है, नि:शब्द है। अवक्तव्य है, अवर्णनीय है, आत्मा तो। अत: भेदविज्ञानी के अंदर जो भगवान प्रकट हुए हैं, उनकी कृपा हो जाए तो, यानी कि आज कृपा हो गई है आप पर, तो आपका काम हो गया।

आत्मा के गुणों को जाना ही नहीं है। आत्मा के गुणों को जानने वाला भेदविज्ञानी कहलाता है। ये जो आत्मा के गुण हैं न, वे सारे अनावृत नहीं हुए हैं, वे सब हम में हैं। हम अठाइस साल से आत्मा में रहते हैं, इस शरीर के मालिक नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : अब ऐसा तो अभी तक किसी ने भी नहीं कहा है।

दादाश्री : यह तो अक्रम विज्ञान है न!

प्रश्नकर्ता : सब लोग सभी जगह पहुँचे हैं लेकिन यहाँ तक नहीं।

दादाश्री : अत: यहाँ काम *निकाल* लेने जैसा है इसलिए हम इस तरह पुकार-पुकार कर कहते हैं न, 'काम *निकाल* लो, काम *निकाल* लो, काम *निकाल* लो।' यह बुलबुला फूट जाएगा उसके बाद नहीं हो पाएगा।

प्रश्नकर्ता : बुलबुले के एक्सटेन्शन की अर्ज़ी करनी चाहिए सब को मिलकर।

दादाश्री : वह तो सब करते ही हैं न! सुबह-सुबह सब जब विधि करते हैं, तब (प्रार्थना) करते हैं कि, 'हे भगवान! दादाजी को दीर्घ आयु देना।' मेरे मन का जुड़ता जाता (संधान होता) है, तब मैं समझ जाता हूँ कि अंदर यह जुड़ (संधान) किस तरह से रहा है?

❖❖❖❖❖

[17.2]
अनुभवगम्य

आत्मा अवर्णनीय, फिर भी उदाहरण देकर समझाते हैं ज्ञानी

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने कहा है कि, 'आत्मा अवर्णनीय है लेकिन भेदविज्ञानी की कृपा से ही अनुभव किया जा सकता है।' इसे ज़रा ज़्यादा समझाइए।

दादाश्री : आत्मा जानने योग्य है, और वह जैसा इन महात्माओं ने जाना है वैसा है और उससे भी अधिक, 'जैसे ये दादा हैं आत्मा वैसा है। ये मूर्तिमान मोक्ष हैं, आत्मा ऐसा है', ऐसा मानना। अन्य कल्पनाओं में नहीं पड़ना है। आत्मा स्व-पर प्रकाशक है। उसका रूप नहीं है, रंग नहीं है और आकार भी नहीं है। आत्मा तो अनुपम है जबकि जगत् की सारी चीज़ें उपमा वाली हैं। आत्मा तो अनुभवगम्य है। आत्मा तो अवर्णनीय है। आत्मा वाणी द्वारा बताया जा सके, ऐसा नहीं है। वह तो ज्ञानी पुरुष वाणी से उदाहरण और दलील देकर और अन्य तरीकों से समझा सकते हैं क्योंकि वे सभी प्रकार से यह जान चुके हैं कि आत्मा कैसा है। बाकी, आत्मा को शब्दों में उतारा जा सके ऐसा है ही नहीं। इसीलिए तो कहा कि पुस्तक में या शास्त्रों में आत्मा नहीं है। आत्मा तो सिर्फ ज्ञानी पुरुष के पास ही है, जो व्यक्त हो चुका है वह आत्मा। कोई पूछे कि आत्मा कैसा है तो कोई बता ही नहीं सकता। वह किसी के बस की बात ही नहीं है। इस बारे में ज्ञानी पुरुष के अलावा किसी और को तो एक अक्षर भी नहीं बोलना चाहिए। यह तो, जिन्हें स्पष्टवेदन हुआ है वैसे ज्ञानी पुरुष ही समझा सकते हैं।

पाँच आज्ञा के प्रति सिन्सियरिटी करवाती है अनुभव

प्रश्नकर्ता : उस आत्मा के प्रकाश का अनुभव किस प्रकार से हो सकता है?

दादाश्री : वह तो, आप यह ज्ञान ले लो और दादा के प्रति सिन्सियर रहो, आप पाँच आज्ञा का पालन करो तो आपको रोज़-रोज़ प्रकाश का अनुभव होता जाएगा लेकिन सिन्सियर रहोगे तो। उनकी इन पाँच आज्ञाओं का पालन करो, और आसान हैं पाँच आज्ञा, फिर आपको रोज़ अनुभव होंगे। शक्कर मुँह में रखी तो उसका वर्णन नहीं किया जा सकता लेकिन स्वाद तो समझ में आ सकता है कि भाई, ऐसा है। जिस प्रकार से वह अनुभव स्वरूप है उसी प्रकार से यह आत्मा भी अनुभव स्वरूप है। वह अन्य कोई चीज़ नहीं है फिर भी ज्ञानी उसे सर्वांश रूप से जान सकते हैं। अब अनुभव होने के बाद में जानने का प्रयोग शुरू होता है। पहले तो अनुभव हो जाना चाहिए। अनुभव हो जाएगा तो एकाग्र हो जाएगा, वहाँ पर फिट हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने कहा है कि ज्ञानी जान सकते हैं, तो क्या ज्ञानी, आत्मा को देख सकते हैं?

दादाश्री : आत्मा इन्द्रियगम्य नहीं है, (अनुभवगम्य है)। वह खुद अपने से कोई अलग चीज़ होती तो देख सकते, खुद अपने आपको किस प्रकार से देख सकेगा? अनुभवगम्य है। अतः उसका पद ही ज्ञाता-द्रष्टा है।

आत्मा के अपरोक्ष दर्शन महात्माओं को, प्रत्यक्ष अनुभव दादा को

प्रश्नकर्ता : दादा, आप कहते हैं कि भगवान अंदर प्रकट हो गए हैं, तो वह 'प्रकट होना' क्या है?

दादाश्री : प्रत्यक्ष अनुभव। परोक्ष अनुभव हो सकता है कभी लेकिन यह तो प्रत्यक्ष अनुभव है।

प्रश्नकर्ता : प्रत्यक्ष?

दादाश्री : हाँ! आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव, अपरोक्ष अनुभूति।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के परोक्ष और अपरोक्ष दर्शन किस प्रकार से हो सकते हैं?

दादाश्री : आपने आत्मा के अपरोक्ष दर्शन किए हैं लेकिन उसका ध्यान नहीं रहता न! यहाँ पर सत्संग में आओगे तो यह बात समझ में आ जाएगी आपको।

प्रश्नकर्ता : लेकिन खुद के आत्मस्वरूप के जो अन्य अनुभव होने चाहिए, वे नहीं होते। बुद्धि को समझ में आता है लेकिन अनुभव नहीं होता।

दादाश्री : वही अनुभव है, यह सब देखना और जानते रहना, उसी को अनुभव कहते हैं। कोई और अनुभव नहीं कहा जाता। मन में खराब विचार आएँ, अच्छे विचार आएँ, वे ज्ञेय हैं और हम ज्ञाता हैं। उन सब को देखते रहना है, उसी को अनुभव कहते हैं। फिर जैसे-जैसे धीरे-धीरे यह अनुभव आगे बढ़ता जाएगा वैसे-वैसे खुला अनुभव होता जाएगा। प्रकट अनुभव, अभी यह परोक्ष अनुभव होता है। (पहले) परोक्ष अनुभव होगा, फिर अपरोक्ष होगा, ऐसे करते-करते आगे बढ़ता जाएगा।

एक बार अनुभव होने के बाद में निरंतर बढ़ता जाता है

स्वरूप के भान के अलावा जो कुछ भी जानते हो, वह अज्ञान है और स्वरूप के भान के बाद जो कुछ भी जानते हो, उसे जाना हुआ कहा जाएगा। जो आत्मयोग हुआ है वही स्वरूप का भान है। आत्मा अवाच्य है, अनुभवगम्य है, दिव्यचक्षु से ही दिखाई देता है। पूरे जगत् का तत्त्व, पूरे जगत् का सार 'शुद्धात्मा' है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा आपको अपने आप ही याद आता है न ज्ञान के बाद?

प्रश्नकर्ता : हाँ, आता है।

दादाश्री : वह अब निरंतर आपको याद रहा करेगा, निरंतर

लक्ष (रहेगा और) वही अनुभूति। अनुभूति धीरे-धीरे बढ़ती जाएगी अब। अभी अमावस्या में से दूज रूपी शुरुआत हो गई है, उसके बाद तीज होगी, चौथ होगी, पाँचम होगी, जैसे-जैसे अनुभूति बढ़ती जाएगी वैसे वैसे।

आत्मा शब्द स्वरूप नहीं है, अनुभव स्वरूप है। एक बार अनुभव हो गया तो फिर जाएगा नहीं। उसके बाद परंपरा से यह अनुभव दिनोंदिन बढ़ता जाएगा। अब आपका अनुभव बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे आपका आत्मा प्रकट होता जाएगा। आत्मा कितना? तो कहते हैं, अनुभव के अनुसार।

चित्तवृत्तियाँ बाहर जाएँ तो उसे इन्द्रिय अनुभव कहा जाता है और चित्तवृत्तियाँ वापस आ जाएँ तो उसे अतीन्द्रिय अनुभव कहा जाता है। आत्मा का अनुभव यानी क्या? निरंतर परमानंद स्थिति।

क्षायिक सम्यक्त्व ही है स्पष्ट अनुभव

अब, अक्रम में यहाँ पर क्षायिक सम्यक्त्वपन होता है और आर्तध्यान व रौद्रध्यान बंद हो जाते हैं, संसार में रहने के बावजूद भी। रौद्रध्यान-आर्तध्यान नहीं होते, वही आत्म-अनुभव की सब से बड़ी निशानी है।

लोग पूछते हैं, स्पष्ट अनुभव कैसे होता है? अरे, यही है (जो हुआ है वह) स्पष्ट अनुभव। इसी को कहते हैं स्पष्ट अनुभव, किसी और को नहीं। स्पष्ट आत्मा के अलावा कुछ भी नहीं दिखेगा। यों भी हम अंदर रियल-रिलेटिव देखते हैं न, उसे आत्मा ही देखता है लेकिन अपने मन में ऐसी उलझन होती है इसलिए ऐसा लगता है कि क्या सब वापस एक हो जाता होगा? लेकिन यह तो स्पष्ट आत्मा है, और कुछ है ही नहीं, अन्य किसी की उपस्थिति ही नहीं है न!

आपको आत्मा का अनुभव रहता है न, वही मूल आत्मा है। फिर वह अनुभव एक जगह पर इकट्ठा होते-होते मूल जगह पर,

जो मूल आत्मा है खुद उसी रूप हो जाएगा। आप में अभी अनुभव और अनुभवी दोनों अलग हैं जबकि वहाँ आगे की दशा में एकाकार रहते हैं।

अंश ज्ञान है अनुभव, सर्वांश ज्ञान है ज्ञान

प्रश्नकर्ता : हम आत्मा का ज्ञान कहते हैं और फिर आत्मा का अनुभव कहते हैं, तो आत्मा का अनुभव और आत्मा के ज्ञान में क्या अंतर है?

दादाश्री : संपूर्ण ज्ञान को आत्मा का ज्ञान कहते हैं जबकि आंशिक ज्ञान को अनुभव कहते हैं। अंश ज्ञान को 'अनुभव' कहा गया है और सर्वांश ज्ञान को 'ज्ञान' कहा गया है। एक-एक अंश बढ़ते-बढ़ते अनुभव संपूर्ण हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : और अभी जैसे आप ज्ञान देते हैं जिन लोगों को, उन लोगों को आत्मा का ज्ञान होता है या आत्मा का अनुभव भी होता है या दोनों साथ में होता है?

दादाश्री : होता है न, होता ही है।

प्रश्नकर्ता : उसे अनुभव भी होता है और ज्ञान भी होता है?

दादाश्री : होता ही है न, सभी को होता है। यदि अनुभव नहीं है तो फिर आत्मा ही नहीं है न!

प्रश्नकर्ता : अनुभव में जागृति रहती है, जागृति आती है?

दादाश्री : जागृति ही है।

प्रश्नकर्ता : वही अनुभव है न?

दादाश्री : नहीं, जागृति वही चीज़ है जिससे हमें बाकी सारे अनुभव होते हैं। एक तरफ लिखें कि पहले चंदूभाई थे वे क्या थे और अभी चंदूभाई क्या हैं? ऐसा किस कारण से है? तो कहते हैं, कि इस ज्ञान के प्रताप से, जागृति के प्रताप से, यह आत्मा की तरफ

की दिशा जाग उठी है, राइट दिशा में। पहले रोंग दिशा में थे, वह पूरा ही चेन्ज हो गया, हंड्रेड परसेन्ट चेन्ज लगता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ! चेन्ज होता है लेकिन चेन्ज कब होता है? जागृति आने के बाद में चेन्ज होता है न?

दादाश्री : जागृति आ ही जाती है, उसे यह ज्ञान मिलने के बाद।

जागृति वही, जो दिखाए खुद के ही दोष

प्रश्नकर्ता : ज्ञान होने के बाद जागृति आ जाती है, उससे धीरे-धीरे पूरा जीवन पलटता जाता है।

दादाश्री : हाँ, पलटता जाता है।

प्रश्नकर्ता : वही आत्मा का अनुभव है।

दादाश्री : बस, वही, वही।

प्रश्नकर्ता : जो पलटता जाता है, जो पॉज़िटिव होता जाता है...

दादाश्री : खुद के दोष दिखते जाते हैं। इस जगत् में ये सारे लोग हैं न लेकिन (किसी को भी) खुद के दोष नहीं दिखाई देते। सामने वाले के दोष निकालने हों तो सब लोग निकाल दें, जबकि यहाँ पर तो खुद के दोष दिखाई देते हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, खुद के दोष दिखाई देते हैं!

दादाश्री : सबकुछ दिखाई देता है, सबकुछ।

प्रश्नकर्ता : फिर कुछ खराब-गलत, अच्छा-बुरा उसका जो पता चलता है, उसे अनुभव कहते हैं न?

दादाश्री : सबकुछ खुद को पता चल जाता है। खुद को पता चल जाए, वही आत्मा।

अनुभव बढ़ने पर बनेगा ज्ञानात्मा

अभी यह आत्मा, दर्शनात्मा कहलाता है, इसके बाद धीरे-धीरे

ज्ञानात्मा बनेगा। जैसे-जैसे अनुभव बढ़ेगा न, वैसे-वैसे ज्ञानात्मा बनेगा।

प्रश्नकर्ता : यह सही है, दादा। वह तो अनुभव हुआ है कि गुस्सा आने वाला हो तो तुरंत ही पता चल जाता है, जागृति आ जाती है।

दादाश्री : हाँ, तुरंत ही आ जाती है। इस जगत् में ज्ञान नहीं हो न, तो उसे खुद की भूल दिखाई ही नहीं दे कभी भी। (वह खुद) अंधा है और ज्ञान वाले को तो सारी भूलें दिखाई देती हैं।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान वाले को खुद की भूलें दिखाई देती हैं।

दादाश्री : बहुत सी दिखाई देती हैं। ओहो... रोज़ सौ-सौ भूलें दिखाई देती हैं।

पहले आत्मानुभव बरतता है, उसके बाद खपता है पुद्गल

प्रश्नकर्ता : हवा दिखाई नहीं देती लेकिन उसकी लहरें आती हैं न, पता चलता है न, अनुभव भी होता है कि हवा चली, उसी प्रकार से तीर्थंकरों को आत्मा का और अधिक अनुभव होता होगा क्या?

दादाश्री : तीर्थंकरों को तो उससे भी विशेष, बहुत ही विशेष अनुभव होता है आत्मा का। हमें भी हवा चलने जैसा अनुभव तो होता ही है न, आपको आत्मा का जो अनुभव होता है, वह तो प्रतीति और अधिक मज़बूत (गाढ़) होने के लिए है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के जो गुण हैं, वैसा तो *पुद्गल* का सब खत्म हो जाएगा उसके बाद ही बरतेगा न? या पहले भी बरत सकता है?

दादाश्री : वैसा बरतेगा तभी *पुद्गल* के गुण खपेंगे। आत्मा की उपस्थिति के बिना *पुद्गल* खपेगा ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो कल मैं ऐसा सोच रहा था कि जब मेरा

पुद्गल क्लियर हो जाएगा, उसके बाद आत्मा के गुण अपने आप प्रकट होंगे।

दादाश्री : बाद में नहीं होंगे, दोनों साथ में ही चलता है।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, आत्मा के गुणों को किस प्रकार से प्रकट करना चाहिए?

दादाश्री : हो चुके हैं उन्हें क्या प्रकट करना? यह जानते नहीं हो इसीलिए यह सारा दखल है। उसके गुण तो प्रकट ही (उपस्थित ही) हैं।

प्रश्नकर्ता : दर्शन में तो आए हैं, अब अनुभव में किस प्रकार से लाएँ?

दादाश्री : जो दर्शन में हो, वही अनुभव में होता है। अनुभव के बिना तो दर्शन में नहीं आता।

अक्रम से आत्मानुभव होने पर, संसार में रहकर आनंद उठाता है बारहवें गुंठाणे का

मूल आत्मा अनुभवगम्य है, अरूपी पद है। केवली भगवान जो अनुभव करते हैं, वह ऐसा है कि *पुद्गल* खुद से अलग पुतला है। सही किया या गलत किया, यह नहीं देखना है। यह तो पुतला ही है, अचेतन है। कर्ताभाव दिखाई ही नहीं देना चाहिए *पुद्गल* के साथ कि *पुद्गल* के मन-वचन-काया के वर्तन से लेना-देना ही नहीं है। आप उससे बिल्कुल अलग ही हो। आपको अपना आत्मा देखने और जानने में आया ही है। देखना अर्थात् भान होना और जानना अर्थात् अनुभव होना। यानी भान हुआ है और थोड़ा-बहुत अनुभव भी हुआ है। अब मूल वस्तु पूरी तरह से अनुभव में आ जाएगी, तो काम हो जाएगा!

वह वस्तु तो अलग ही है। आत्मा जानने से जाना जा सके ऐसी वस्तु नहीं है, वह बुद्धि से समझ में आए, ऐसा नहीं है, वह अनुभवगम्य वस्तु है।

जब उसके गुणधर्म बताते हैं, ओहोहोहो! गुणधर्मों का अंत नहीं है। अनंत भेद से आत्मा है, एक-दो भेद से आत्मा नहीं है। वे जितने भेद यहाँ ज्ञानी पुरुष से जान लिए, उतने ही भेदों से आपका हल आया। अभी दूसरे अनंत भेद बाकी हैं। जानने से सरलता रहेगी। जितना जानोगे उतनी सरलता। आप तो इतना ही जानते हो कि ये चार गुण हैं। अनंत ज्ञान वाला है और ये चार लेकिन इस तरफ जो अनंत गुण हैं, उनका हिसाब ही नहीं है। पूरे ब्रह्मांड का प्रकाशक है, और उस आत्मा को हमने देखा हुआ है। इसलिए बात को समझने जैसा है... इन शॉर्ट। वर्ना इस तरह संसार में रहकर मोक्षमार्ग के बारहवें *गुंठाणे* की बात ही नहीं कर सकते। चौथे तक ले जाए तो बहुत हो गया।

किसी काल में परदेश को परदेश जाने और स्वदेश को स्वदेश जाने, ऐसा हुआ नहीं है। यह तो, आप परदेश को पहचान गए हो न? परदेश में *निर्जरा* होती रहती है निरंतर, और जितनी *निर्जरा* होती है उतना ही स्वदेश खुद मुक्त होता जाता है।

❖❖❖❖❖

[18]

सिद्ध स्तुति

आत्मगुण बोलने से लक्ष की लिंक जुड़ जाती है फिर से

प्रश्नकर्ता : हमेशा शुद्धात्मा का *लक्ष* किस प्रकार से रह सकता है? लिंक टूट जाती है।

दादाश्री : अंदर *लक्ष* की लिंक टूट जाए तब तो हमें बोलना पड़ेगा, 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ या अनंत दर्शन वाला हूँ', ऐसा सब बोलने से वह लिंक वापस जुड़ जाती है। लिंक टूट जाती है, सभी लिंक पौद्‌गलिक हैं।

प्रश्नकर्ता : ऐसा हो सकता है क्या?

दादाश्री : हाँ, हो सकता है, यह तो। ऐसा सब तो कई बार होता है, और वह ज्ञेयस्वरूपी है और ज्ञेय को देखने की लिंक टूट जाती है। ज्ञाता तो रहता ही है लेकिन वह लिंक टूट गई हो तो हमारे ऐसे बोलने से लिंक फिर से शुरू हो जाती है।

लिंक टूटी ऐसा जो पता चलता है उसका (तू) ज्ञाता है और लगातार रहती है उसका भी तू ज्ञाता है। हम ज्ञातास्वरूप ही हैं। टूटना हो तो टूटे, बस उसे जानना चाहिए हमें।

आत्मा के गुणों के ध्यान से, बनता है खुद उसी रूप

प्रश्नकर्ता : आत्मा के गुण बोलने को कहा है न, तो उस बारे में ज़रा अधिक समझना है।

दादाश्री : किसी जगह पर ममता करने जैसा नहीं है इस दुनिया में। मैं कहता हूँ, आत्मा को जानो, और आत्मा ही आपका है, और आपको उसके गुणों के प्रति ममता रखनी है। मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, मैं अनंत दर्शन वाला हूँ, मैं अनंत शक्ति वाला हूँ, मैं अनंत सुख का कंद हूँ, अव्याबाध हूँ, अमूर्त हूँ, सूक्ष्म हूँ, अगुरु-लघु हूँ, टंकोत्कीर्ण हूँ। कितने गुण हैं इसके! यह इसका ममत्व है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का ममत्व?

दादाश्री : हाँ, 'मेरे गुण हैं' इसका मतलब ममत्व नहीं है, लेकिन, 'यह मैं हूँ', ऐसा कहोगे तो यह ममता कहाँ जाएगी? वहाँ चली जाएगी उसी के साथ। और फिर (खुद) मोक्ष में जा रहा हो तो वह (ममता) भी खत्म हो जाती है, सिर्फ (खुद) वह एक स्वरूप! उसके बाद मैं शुद्धात्मा हूँ भी नहीं बोलना पड़ेगा।

प्रश्नकर्ता : खुद आत्मा के गुणधर्मों का, अनंत ज्ञान-दर्शन का ध्यान करने से वे प्राप्त हो जाएँगे?

दादाश्री : हो जाएँगे, अवश्य होंगे। आत्मा के जितने गुणों को जाना, उनका ध्यान किया तो उतने प्राप्त हो जाएँगे।

हम जब ज्ञान देते हैं तब इस प्रकार से देते हैं कि मन-वचन-काया आपको कभी भी याद न आएँ। 'मैं शुद्धात्मा हूँ', बोलने के साथ-साथ उसके एक-एक गुण को गाते जाओगे तो अद्‌भुत परिणाम आएगा। जैसे कि... मैं शुद्धात्मा हूँ, अव्याबाध हूँ, अनंत ज्ञान-दर्शन-चारित्र वाला हूँ, अक्रिय हूँ, अडोल हूँ, अमर हूँ।

आत्मा रत्नचिंतामणि, चिंतन करे वैसा बन जाता है

प्रश्नकर्ता : 'मैं अनंत शक्तिवाला हूँ, अनंत दर्शन वाला हूँ, अनंत ज्ञान वाला हूँ, मैं अनंत सुख का धाम हूँ', तो ऐसा जो अंदर से बोलते हैं तो वह शक्ति कहाँ से उत्पन्न होती है? किस प्रकार से बढ़ाई जा सकती है?

दादाश्री : आप अनंत दु:ख का धाम बोलोगे तो दु:खी हो जाओगे। अनंत सुख का धाम बोलोगे तो सुखी हो जाओगे। आत्मा रत्नचिंतामणि है। जैसा चिंतन करता है वैसा ही हो जाता है। 'अनंत ज्ञान वाला हूँ', बोलने से पूरा ज्ञान प्रकाशमान हो जाता है। अनंत सुख का धाम हूँ। खुद सारे सुखों का धाम है ऐसा मेल बैठ जाए तो उसे ज्ञान कहा जाएगा। मेल नहीं बैठता? हर कहीं से मेल बैठना चाहिए। हिसाब लगाते समय उसमें मेल बैठाते हैं या नहीं? उसमें तो एक-दो जगह मेल बैठाना होता है लेकिन इसमें तो बहुत सी जगहों पर मेल बैठाना चाहिए। हर एक बात में मेल बैठना चाहिए।

खुद के पास अनंत शक्ति है लेकिन आवृत्त हुई पड़ी है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन खुद के पास है लेकिन उन पर आवरण पड़े हैं। घर में धन गड़ा हुआ हो लेकिन यदि जानता नहीं हो तो किस प्रकार से मिलेगा?

गुणों के अभ्यास से लक्ष होता है मज़बूत

प्रश्नकर्ता : आत्मा के गुणों की जो *भजना* करते हैं कि, 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, अनंत शक्ति वाला हूँ, अनंत दर्शन वाला हूँ, अनंत सुख का धाम हूँ', और अन्य ऐसे गुण, तो इससे ज्ञाता-द्रष्टापन अधिक मज़बूत होता जाता है या जो पहले का ज्ञाता-द्रष्टापन है, उसकी *भजना* करनी है?

दादाश्री : यह तो, पहले शुरुआत में कहते हैं, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा मज़बूत करने के लिए और फिर यह हेल्पिंग है।

प्रश्नकर्ता : ठीक है।

दादाश्री : कोई कहेगा कि, 'मैं मार डालूँगा।' तो उस भयभीत होने की जगह पर उसे क्या होता है कि, 'मैं अव्याबाध हूँ, मुझे क्या मार सकेगा?' वह यदि अव्याबाध नहीं जानता होगा तो वह कहेगा, 'मुझे कोई मार देगा तो क्या होगा?' कोई कहे, 'काट के टुकड़े कर दूँगा।' तब भी हमें मन में ऐसा लगना चाहिए कि, 'मैं अव्याबाध हूँ, शरीर के टुकड़े होंगे।' यानी कि पहले से ही उसके गुणों को स्टडी (अभ्यास) करके रखना है, मज़बूत करके रखना है।

प्रश्नकर्ता : मज़बूत करके रखना है, हंअ।

दादाश्री : 'मैं अमूर्त हूँ।' ये लोग जो अपमान करते हैं वे किसका अपमान करते हैं? दिखाई देता है उसका। मेरा अपमान कैसे हो सकता है?

प्रश्नकर्ता : ठीक है।

समकित के बाद वाले विकल्प, निर्विकल्प बनाते हैं

दादाश्री : एक व्यक्ति मुझसे पूछ रहा था कि, 'मैं शुद्धात्मा हूँ, उसे निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं?' मैंने कहा, 'वह भी विकल्प है।' समकित होने के बाद के जो विकल्प हैं वे निर्विकल्प बनाते हैं। इसलिए 'शुद्धात्मा हूँ, शुद्धात्मा हूँ', बोलते रहना। 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, मैं अनंत दर्शन वाला हूँ', ये सभी विकल्प हैं लेकिन समकित होने के बाद के विकल्प निर्विकल्प बनाते हैं। वे विकल्प हितकारी हैं और समकित के बिना विकल्प अहितकारी हैं।

कुछ सूझे नहीं तो बोलना, 'मैं अनंत दर्शन वाला हूँ'

खुद परमात्मा है, फिर कब तक छुपकर रहना है? खुद के ही घर में भरपूर माल है, माल होने के बावजूद, अनंत ज्ञान-दर्शन-शक्ति, अनंत सुख खुद के घर में हो फिर भी यदि उसका उपयोग नहीं करे

तो किसका दोष? भरा हुआ माल तो फल देकर जाएगा लेकिन ज्ञान है और सूझ है तो फिर सफोकेशन कैसा?

अत: जो उपाय बताए हैं वे सारे उपाय करने पड़ेंगे, वे लिखे हैं। उसमें मैंने क्या उपाय बताए हैं? वह पढ़ो ज़रा, देखते हैं!

प्रश्नकर्ता : जब उठापटक हो, अंदर यों एकदम से तूफान मचने लगे, उस समय दादा भगवान का अक्रम ज्ञान हाज़िर हो जाएगा। थोड़ा सफोकेशन होगा, सूझ नहीं पड़े, दखलंदाज़ी या ऐसा कुछ हो जाए, उस समय 'मैं अनंत दर्शन वाला हूँ, मैं अनंत दर्शन वाला हूँ, मैं अनंत दर्शन वाला हूँ, ऐसा बोलो पाँच-पच्चीस बार और तुरंत ही सूझने लगेगा कि इसका हल कैसे लाना चाहिए।

दादाश्री : हाँ, अतिशय उलझन के समय आसरा किसका? दर्शन का। 'मैं अनंत दर्शन वाला हूँ, मैं अनंत दर्शन वाला हूँ', पाँच-पच्चीस-पचास बार बोल देना, दादा को सामने रखकर, फोटो रखकर। तब फिर तुरंत ही सूझ पड़ने लगेगी, तुरंत ही।

उलझन हो तब 'अनंत दर्शन वाला हूँ, अनंत दर्शन वाला हूँ', बोलने से तो सारी उलझन निकल जाएगी।

मति उलझे तब बोलना, 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ'

प्रश्नकर्ता : कोई भी प्रॉब्लम खड़ी हो तब कुछ समझ नहीं आए, जब व्यवहार में मति परेशान करे, कहीं भी व्यवहारिक काम आ जाए और समझ में नहीं आए तब, 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', ज़ोर-ज़ोर से बोलने पर सारे परमाणु निकल जाएँगे। एकदम सूझ पड़ने लगेगी, तुरंत ही, उस समय।

दादाश्री : आवरण आ गया हो तो वह पूरा हट जाएगा।

प्रश्नकर्ता : सभी बादल हटते जाएँगे।

दादाश्री : खुद के सारे गुण बोलने चाहिए। स्वाभाविक गुण हैं ये। 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', 'अनंत दर्शन वाला हूँ', ऐसा पच्चीस-पचास बार बोलना चाहिए। रोज़ ये सारे गुण बोलने का अभ्यास करना चाहिए... फिर आगे क्या कहते हैं?

वेदना के समय बोलना चाहिए, 'मैं अनंत सुख का धाम हूँ'

प्रश्नकर्ता : मन या शरीर में कोई वेदना हो उस समय असल में तो यों निश्चय से निर्वेदक... यानी कि आत्मा निर्वेदक है, मन व शरीर वेदक हैं। उन्हें वेदना होती है लेकिन उस समय ज़ोर-ज़ोर से 'मैं अनंत सुख का धाम हूँ, मैं अनंत सुख का धाम हूँ, मैं अनंत सुख का धाम हूँ', बोलने पर वह सारी वेदना हट जाएगी। उसका ज़रा भी भार नहीं लगेगा।

दादाश्री : जब तक शरीर कमज़ोर है तब तक वेदकता आएगी ही लेकिन जब वह बहुत ही बढ़ जाए तब अगर आत्मा के गुण याद करते ही जाना तो वेदकता का नाश हो जाएगा। हर एक को वेदकता आती ही रहती हैं लेकिन अज्ञानियों को दिखाई नहीं देती, ज्ञानियों को दिखती ही रहती है। उस समय आप हिल मत जाना। ऐसी स्थिति में शुद्धात्मा का स्मरण और उसके गुणों का रटन करना।

पाँच-पच्चीस बार ऐसा बोलने से साफ हो जाएगा। यह तो विज्ञान है। आप सब इस विज्ञान को अभी पूरी तरह से समझ नहीं लेते हो। अच्छी तरीके से समझ लिया जाए न तो विज्ञान तो फल देता ही रहेगा। विज्ञान यानी जो फल देता ही है, कैश बैंक ही है लेकिन समझ लेने की ज़रूरत है। जिस आत्मा (का *लक्ष*) हमें करोड़ों उपाय करने से भी प्राप्त नहीं होता वह अपने में हाज़िर हो गया है और वह भी सिर्फ एक घंटे में हाज़िर हो गया है, तब फिर यह विज्ञान कैसा होगा? एक घंटे में हाज़िर हो गया और अभी तो जब रात को जागते हो तब, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा बल्कि सामने आ खड़ा होता है। सामने नहीं आ जाता?

प्रश्नकर्ता : आता है।

दादाश्री : वर्ना 'शुद्धात्मा' याद करने पर भी नहीं मिलता लेकिन यह तो सामने आ जाता है तो इस विज्ञान से जब इतना अधिक साक्षात्कार हुआ है तो फिर बाकी सब क्यों नहीं हो सकेगा? लेकिन समझने की ज़रूरत है। वास्तव में आत्मा के जो गुण हैं न, दिन में जब समय मिले तब निरंतर बोलते ही रहने चाहिए। समय नहीं हो लेकिन ऐसी परेशानी आ जाए तब बोलना चाहिए। अब आगे...

कमज़ोरी में बोलना, 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ'

प्रश्नकर्ता : मन का, देह का बल ऐसा लगे कि कम हो गया है, जब ऐसा लगे कि शरीर की शक्ति क्षीण होने लगी है तब 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ, मैं अनंत शक्ति वाला हूँ, मैं अनंत शक्ति वाला हूँ', ऐसा ज़ोर-ज़ोर से बोलेंगे तो उस समय वापस शरीर में तुरंत ही शक्ति आ जाएगी।

दादाश्री : देह बल कम हो गया हो, शक्ति की कमी होने लगे और मन व देह निर्बल हो जाएँ तब 'अनंत शक्ति वाला हूँ।' बीमार हो तब भी बोलना चाहिए।

अब, ये महात्मा आते हैं न, इनके पिताश्री बयासी साल के हैं, उन्हें जब सीढ़ियाँ चढ़नी होती है तब वे अपने आप नहीं चढ़ सकते। दो लोग पकड़कर चढ़ाते हैं, और यहाँ सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ीं। फिर मैंने कहा कि भाई, ऊपर से दो लोग आ रहे हैं। आप जल्दबाज़ी मत करना, बैठे रहना लेकिन वे तो 'अनंत शक्ति वाला हूँ' बोले। 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ, अनंत शक्ति वाला हूँ', ज़ोर से बोले न, तो वे कुछ ही देर में तीसरी मंज़िल तक चढ़ गए। है न, बेहिसाब शक्ति! लेकिन फिर यदि ऐसा बोले कि, 'मेरा बुढ़ापा आ गया है इसलिए कुछ हो नहीं पाता है।' ऐसा बोलने से फिर से वैसा ही हो जाता है। अभी

बुढ़ापे में उन्हें भान नहीं है और बोलते हैं। उनके मन में ऐसा है कि अपनी कीमत बढ़ गई है न! बुढ़ापा है न! अब आगे पढ़ो।

हिंसक प्राणी के सामने 'मैं अमूर्त हूँ', बोलने से हो जाते हैं 'अदृश्य'

प्रश्नकर्ता : कई बार भय का ऐसा समय आ जाए, रास्ते में लुटेरे मिल जाएँ, तब सामने कुछ और न सूझे उस समय भय से व्याधि लगती रहती है। कभी जब ऐसा मानसिक दुःख आए तब कहना है कि, 'मैं अव्याबाध स्वरूप हूँ, मैं अव्याबाध स्वरूप हूँ, मैं अव्याबाध स्वरूप हूँ', तो भय की सभी संज्ञाएँ निकल जाएँगी। कभी जंगल में जाना पड़े या सामने हिंसक जानवर मिल जाए तब ज़ोर-ज़ोर से, 'मैं अमूर्त हूँ, मैं अमूर्त हूँ, मैं अमूर्त हूँ', बोलेंगे तो हम उसे दिखाई ही नहीं देंगे।

दादाश्री : सौ बार अमूर्त बोलोगे न, तो बाघ आपको देख ही नहीं पाएगा। उसे आपकी मूर्ति दिखाई ही नहीं देगी, उस हद तक का यह विज्ञान है। बाघ सामने मिल जाए और अमूर्त, अमूर्त, पाँच, पचास या सौ बार बोल दिया तो उसे आपकी मूर्ति दिखाई ही नहीं देगी। फिर मारेगा किसे? यह तो पूरा साइन्स है।

डिप्रेशन आए तो बोलो, 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ'

प्रश्नकर्ता : कभी शोक व्याप्त हो जाए, यों एकदम हताश हो जाए, निराशा आ जाए, उथल-पुथल होने लगे, उस समय 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला ऐसा शुद्धात्मा हूँ, मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला ऐसा शुद्धात्मा हूँ, मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला ऐसा शुद्धात्मा हूँ', बोलना।

दादाश्री : यदि आपको मन में बहुत विचार आ रहे हों और मन में बहुत ही उलझन हो रही हो तब, 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', अंदर ऐसा जाप शुरू कर दिया और एक *गुंठाणे* तक

करो तो अंदर बेहिसाब सुख बरतेगा। अगुरु-लघु स्वभाव कहने से समतुला आ जाती है। भले ही अंदर विचार बंद हो जाएँ। सभी को चुप हो ही जाना पड़ेगा। डिप्रेशन आए तो 'मैं अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ', ऐसा बोलोगे तो साफ। साइन्स है यह तो। ऐसा है न, कि यह बटन दबाने से यह पंखा चलता है। उस बटन के बजाय कोई और बटन दबा देंगे तो चक्की चलने लगेगी। इसलिए हमें सभी बटनों को समझ लेने की ज़रूरत है। फिर आगे क्या कहते हैं?

लोभ-लालच के समय बोलना, 'मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ'

प्रश्नकर्ता : फिर, अगर कभी लोभ की गांठ फूटने लगे, लालच होने लगे, ऐसे समय में 'मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ, मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ, मैं अनंत ऐश्वर्य वाला हूँ।' ऐसा बोलने से वे सारे (लोभ के) परमाणु झड़ते जाएँगे। उनका असर नहीं होगा।

दादाश्री : फिर...?

प्रश्नकर्ता : फिर, अगर कभी ज़रा ज़्यादा ही फालतू विचार या ऐसा कुछ आने लगे, दिमाग़ भारी हो जाए, कुछ सूझ न पड़े, बहुत ही ऐसे विचार आते रहें तो 'मैं निर्विचारी हूँ, मैं निर्विचारी हूँ, मैं निर्विचारी हूँ, मैं निर्विचारी हूँ,' ऐसा बोलने से वे सब चले जाएँगे।

सिद्ध स्तुति दूर करे, पुद्‌गल की हुकुमत

दादाश्री : ऐसा अभ्यास कभी किया नहीं है, नहीं?

प्रश्नकर्ता : ऐसा सब कहाँ सूझता है दादा? सूझता नहीं है न ऐसा सब।

दादाश्री : यहाँ पुराने महात्मा हैं न, वे सब कर चुके हैं यह। ये जो नए महात्मा आते हैं वे रह जाते हैं। कोई कहे कि, 'भाई, पूरे

दिन पुस्तक क्या पढ़नी?' तो पूरे दिन खुद के इस गुणधाम का वर्णन करते रहना है।

कृपालुदेव ने जो बताया है, वह सारा ही वर्णन आ गया है इसमें। अब इसे समझे तब न! बच्चे के हाथ में राज्य की लगाम दे दें लेकिन अब समझने का प्रयत्न तो करना चाहिए न! तभी राज्य टिकेगा। फिर भी राज्य कोई ले नहीं लेगा लेकिन स्वाद नहीं आएगा उसका। राजा है, ऐसा स्वाद नहीं आएगा। थोड़ी-थोड़ी समाधि रहती है न? बस तो फिर हो गया! ऐसे करते-करते भी अगर यह सब समझ लोगे और दिन भर जब भी समय हो तब आत्मा के खुद के गुण बोलते रहोगे तो *पुद्गल* बंद हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* बंद हो जाएगा!

दादाश्री : हाँ... *पुद्गल* की हुकुमत में ही नहीं रहोगे। खुद के स्वक्षेत्र की बात हुई। खुद के गुणों का ही वर्णन करते रहना है। उसे सिद्ध स्तुति कहा है भगवान ने। खुद के ही गुण, 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, ऐसा पच्चीस-पचास बार बोलकर, 'मैं अनंत दर्शन वाला हूँ', ऐसा पच्चीस-पचास बार, फिर 'मैं अनंत शक्ति वाला हूँ, अनंत सुख का धाम हूँ, अव्याबाध स्वरूप हूँ, अमूर्त हूँ, सूक्ष्म हूँ, अगुरु-लघु स्वभाव वाला हूँ, अविनाशी हूँ, अव्यय हूँ, अच्युत हूँ, अरूपी हूँ, टंकोत्कीर्ण हूँ', टंकोत्कीर्ण तो सौ-सौ बार बोलना चाहिए। टंकोत्कीर्ण द्वारा क्या बताना चाहते हैं कि मेरा *पुद्गल* के साथ लेना-देना नहीं था शुरू से ही तो फिर *पुद्गल* समझ जाएगा कि इन लोगों ने हमारे साथ व्यवहार तोड़ दिया है। हमें ऐसा कुछ बोलना चाहिए... साइन्स है न यह तो। साइन्स के अनुसार, कहे अनुसार नहीं करेंगे, तो उसका ऐसा फल नहीं मिलेगा। यह तो भगवान महावीर जैसी स्थिति में रखे ऐसा है लेकिन यह तो ऐसा है न, कि करोगे तब न?... आज्ञा ही धर्म है। अपने यहाँ पर अब अन्य कुछ भी नहीं रहा है। बोलो, अब आगे क्या कहते हैं?

शारीरिक कमियों के समय बोलना, 'मैं निर्नामी हूँ'

प्रश्नकर्ता : कई बार शरीर का आकार बदल जाता है, कुछ चोट लग जाए ऐसा कुछ हो जाए, पैर-वैर से लंगड़ा हो जाए, उस समय 'मैं निर्नामी हूँ, मैं निर्नामी हूँ, मैं निर्नामी हूँ, मैं निर्नामी हूँ', इस प्रकार बोलने से टंकोत्कीर्णवत् जैसा ही असर होगा आप पर। 'खुद' और 'यह', दोनों भिन्न ही हैं। संपूर्ण अनुभव में आ जाएगा उस प्रकार से। यानी कि शरीर को जो भी हुआ उसका असर नहीं रहेगा किसी भी प्रकार का। अब फिर यह ज्ञान कैसा है कि व्यवहार की किसी भी प्रकार की उपेक्षा नहीं करता, और खुद के अंदर के दिव्यचक्षु खुलने से हुआ ज्ञान है यह। रक्षण देता है। अज्ञान अवस्था के सामने संपूर्ण रक्षण देता है, ऐसा ज्ञान है और इसीलिए इस ज्ञान पर काल, कर्म और माया कभी भी असर ही नहीं डालते। दादा खुद संपूर्ण रूप से उस अनुभव दशा में रहते हैं और हम सब को उसमें आना है।

दादाश्री : अपने महात्माओं ने अनंत जन्मों तक खुद के *पुद्गल* के गुणधर्म गाए हैं। अब दिन भर आत्मा के गुण गाओ। मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, मैं अनंत दर्शन वाला हूँ।

ज्ञेय अनंत प्रकार के होने से उनके सामने मैं अनंत ज्ञान वाला ज्ञाता हूँ। दृश्य अनंत प्रकार के होने से उनके सामने मैं अनंत दर्शन वाला द्रष्टा हूँ। मैं अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य वाला ऐसा शुद्धात्मा हूँ। मैं अनंत ज्ञान क्रिया, दर्शन क्रिया और शक्ति क्रिया वाला ऐसा शुद्धात्मा हूँ।

भगवान की सर्व रिलेटिव जंजालों से सर्वथा मुक्त ऐसा शुद्धात्मा हूँ। शुद्धात्मा के मूल गुण बोलने से आनंद होता है। मूल गुण बोले जाएँ तो वह सिद्ध स्तुति है और वही यह शुद्धात्मा है। ऐसा बोलते-बोलते जो आनंद होगा वही आत्मा है। अपने यहाँ आनंद की स्थिति है, बाहर जो है वह क्या है?

प्रश्नकर्ता : मस्ती होती है।

दादाश्री : इसे मस्ती नहीं कहते, आनंद कहते हैं और आनंद ही आत्मा है।

सिद्ध स्तुति को कहा गया है शुद्ध उपयोग

प्रश्नकर्ता : सही है, सिद्ध स्थिति की भक्ति करनी हो तो आत्मा के गुण बोलने से होगी।

दादाश्री : आत्मा अगोचर है इसलिए उसके गुणों द्वारा ही भक्ति हो सकती है। अरे! इन दादा भगवान के एक्ज़ेक्ट दर्शन करोगे तब भी वह संपूर्ण सिद्ध स्तुति है।

आत्मा के जो गुणधर्म हैं न, वे जो बोलते हैं न, उसे सिद्ध स्तुति कहते हैं। उन्हें गाते रहने से बहुत काम हो जाएगा।

'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ, अनंत दर्शन वाला हूँ, अनंत शक्ति वाला हूँ।' 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ', दस-दस बार बोलने से, 'अनंत दर्शन वाला हूँ, अनंत शक्ति वाला हूँ', ऐसा दस-दस बार बोलेगा तो कहाँ जाकर पहुँचेगा! कितना उपयोग रहेगा! और वह भी बिल्कुल शुद्ध उपयोग! सिद्ध स्तुति कहा गया है, हं!

प्रश्नकर्ता : सिद्ध स्तुति!

दादाश्री : हाँ, सिद्ध स्तुति। यहाँ पर इस दुनिया में रहकर सिद्ध स्तुति कहा है। कभी बोले हो क्या? कभी भी नहीं?

यह सिद्ध स्तुति होने लगे तो अनंत सुख होगा। इसमें कोई मुश्किल है? फिर रात तो अपने बाप की ही है न? उसमें किसी और का हिस्सा है क्या?

प्रश्नकर्ता : अपने बाप की ही!

दादाश्री : किसी का हिस्सा नहीं है? बाप का होगा न हिस्सा?

प्रश्नकर्ता : ज़रा सा भी नहीं।

दादाश्री : तुम कहते हो न अपने बाप की? किसी का भी भाग नहीं है। अरे... आराम से एक घंटे तक गाओ। तुझे क्या लगता है? यह क्या बहुत मुश्किल है? नहीं? इसमें कोई मुश्किल है?

प्रश्नकर्ता : मुश्किल तो नहीं है, दादा।

दादाश्री : सिर्फ उसकी आदत नहीं डाली है इतना ही है। ऐसा है, प्रैक्टिस करेंगे न, तो सब सही हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के गुण अपने समक्ष होने चाहिए, ऐसा बोलते समय? गुणों को समझकर बोलना पड़ेगा?

दादाश्री : नहीं, सिर्फ इतना बोलना ही है। इसमें गुणों को समझने की ज़रूरत ही नहीं है। गुण अलग चीज़ है। बोलते समय उसे उपयोग कहा जाएगा, खुद के शुद्ध उपयोग में आना है और उससे सिद्ध स्तुति होगी। यानी कि इसे सिर्फ बोलना ही है। वह भी अपने कान को सुनाई दे, उतना ही। आठ मिनट से ज़्यादा प्रयोग करके देखना। अनुकूल न आए तो रहने देना। अनुकूल आए तो करना लेकिन सभी को अनुकूल आएगा ही।

नहीं है शर्त भाव की या समय की, ज़रूरत है बोलने की ही

प्रश्नकर्ता : समय निर्धारित किया जाना चाहिए ये बोलने के लिए?

दादाश्री : किसी भी समय बोलो, निर्धारित समय पर नहीं।

प्रश्नकर्ता : मान लीजिए हम ऐसा तय करें कि सुबह सात से आठ, एक घंटे बोलना है, अब निश्चय से हम रोज़ उस अनुसार करें, वह ज़्यादा अच्छा है या फिर जब कभी भी हमारा मन हो तब करें और अगर वैसा भाव नहीं हो तो न करें?

दादाश्री : नहीं, वह निर्धारित किया हुआ हो तो और भी अच्छा है। निर्धारित नहीं रहे तो फिर चाहे कभी भी बोलना। निर्धारित समय तो कुछ ही लोगों को मिलता है, सभी को नहीं मिल सकता।

प्रश्नकर्ता : सात से आठ, शायद एक घंटे मान लीजिए कि तय किया हो और उस समय बोलने बैठे, और उस समय भाव हो या न भी हो, फिर भी बोलते हैं।

दादाश्री : भाव की मुझे ज़रूरत ही नहीं है न! मैंने ऐसा कहाँ कहा है? कोई कन्डिशनल (शर्ताधीन) नहीं है यह। यह तो कल्पना है। भाव हो या ना हो, मुझे कोई ज़रूरत नहीं है। हमारे कान को सुनाई दे उतना बोलना। इसमें भाव होता ही नहीं है। अपने यहाँ भाव जैसी चीज़ रहती ही नहीं। जिसमें भाव कैन्सल हो चुका है, उसी को कहते हैं अक्रम। ये भाव शब्द का उपयोग करते हैं, वह तो इच्छा को भाव कहते हैं। अतः भाव तो अपने यहाँ कैन्सल हो चुका है।

प्रश्नकर्ता : जब मन में कषाय हो रहे हों तब बोल सकते हैं?

दादाश्री : कषाय हो रहे हों तब बोलो तो उत्तम है। कषायों को बंद हो जाना पड़ेगा, और उस क्षण चले जाना पड़ेगा, घर खाली करके। जैसे शेरनी के आने पर कोई खड़ा रहता है क्या? तो ऐसा बोलोगे उस समय कषाय भागने लगेंगे, ऐसा हो जाएगा।

एक घंटे तक आत्मगुण बोलने से होती है, सिद्ध सामायिक

आत्मा के गुण बोलने में यदि एक घंटा, एक *गुंठाणा* (गुणस्थानक, 48 मिनट) बिताए... ओहोहो! वह तो सब से बड़ी सामायिक है। वह तो सिद्ध सामायिक कहलाती है, सिद्ध सामायिक! क्या ऐसा कोई एक भी दिन नहीं निकल सकता चंदूभाई? या सरकार खा-पीकर आपके पीछे पड़ी है? एक घंटा भी मिल सकता है या नहीं मिल सकता?

प्रश्नकर्ता : मिल सकता है।

दादाश्री : यह तो, हमारे कहे अनुसार चलोगे तो आपको बहुत फल मिलेगा, ऐसा है। जिस तरह से हम चले हैं उसी तरह से आपको चलाते हैं। अगर आप भी उसी तरह से करोगे तो बहुत फल मिलेगा और नकद फल है, उधार नाम मात्र को भी नहीं। कभी भी उधार नहीं। यहाँ पर रहते हो उतने समय तक नकद मिलता है न? अत: आप इस प्रकार, ज्ञानी के कहे अनुसार करना, एक घंटा निकालना चंदूभाई आप। बस खुद के गुण, वे सारे गुण लिखे हैं आपने?

प्रश्नकर्ता : किताब में है न वे।

दादाश्री : नहीं, किताब में तो विस्तारपूर्वक लिखा गया है। विस्तारपूर्वक गुण लिखे हुए हैं लेकिन अगर यों सारे गुण लिख लिए होंगे न, तो बहुत अच्छा रहेगा। वह पूरी किताब का याद नहीं रहेगा न! अत: सर्वोच्च गुण, सिर्फ बड़े-बड़े गुण ही, फिर कल हम वे गुण बुलवाएँगे। कल यहाँ पर इकट्ठे होंगे न हम, तब उत्सव मनाएँगे। लोगों के जैसा लौकिक तो अपने पास है नहीं कुछ भी। न बाजे हैं, न ध्वजा है, न कुछ है, तो यह अपना उत्सव! सभी लोग भ्रांति में पड़े हुए हैं, वहाँ पर क्या प्रभावना करें हम? हमें तो अपनी खुद की ही प्रभावना करनी है। कैसी? खुद की ही। यह आरती भी खुद की है, प्रभावना भी खुद की है। सबकुछ खुद का ही है यह।

सिद्ध होने के लिए प्रज्ञा रोज़ करवाती है सिद्ध स्तुति

सिद्ध स्तुति रोज़ करनी ही चाहिए। वह स्तुति करनी है, हमें सिद्ध होना है (इसलिए)। जैसा बनना है वैसी स्तुति करो। चंदूभाई से करवानी है, आप तो हो गए हो। हमें, प्रज्ञा को तो करवानी है चंदूभाई से। 'मैं' से कहना, 'आप करो और हमारे जैसे बनो। फिर आप भी मुक्त और हम भी मुक्त। बराबर की भागीदारी है अपनी। आप *पुद्गल* स्वभाव वाले और हम चेतन स्वभाव वाले।'

इसमें भी, आपको बुलवाना है चंदूभाई से कि बोलो, 'मैं शुद्धात्मा हूँ'। तो उसका प्रतिस्पंदन आएगा। जैसे मैं बोल रहा था उसी तरह से बुलवाना है। कर पाओगे या नहीं? या मैं बुलवाऊँ? रोज़-रोज़ मैं बुलवाने आऊँ क्या? आप बुलवाओगे न?

हमने जो सिद्ध स्तुति की थी, वह सब को करना आएगा या नहीं?

प्रश्नकर्ता : आएगा न।

दादाश्री : पच्चीस-पच्चीस बार ये वाक्य 'अनंत ज्ञान वाला हूँ, अनंत दर्शन वाला हूँ, अनंत शक्ति वाला हूँ, अनंत सुखधाम हूँ', और बाकी सारे पाँच-पाँच बार बोलना। ऐसा करके पूरा करो। जिस तरह से करना आए उस तरह से, उसमें कोई हर्ज नहीं है। आप अपनी तरह से करो न। मैं बैठा हूँ, खुद बैठा हूँ और पास मुझे करना है न! आपको जैसा आए उस तरह से करो क्योंकि आपसे यदि कुछ भूल हो जाए तो वह मूल रूप से तो मेरी ही भूल है न!

प्रश्नकर्ता : भूल नहीं होगी, दादा। भूल क्यों होगी?

दादाश्री : हाँ, भूल हो सकती है कभी किसी से, लेकिन मूल रूप से तो वह मेरी ही भूल है न। मैंने उसे सिखाया नहीं इसीलिए भूल हुई न!

अब सभी लोग आँखें बंद करके 'मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ' ऐसा पच्चीस बार नहीं लेकिन सौ बार बोला जा सके तो बोलना। वहाँ से शुरू, पहले बोलो...

प्रश्नकर्ता : अंदर ही बोलना है न?

दादाश्री : मन ही मन बोलना है लेकिन पहले क्या बोलना है? 'मैं चंदूलाल, मन-वचन-काया के योग, द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से भिन्न हे प्रकट शुद्धात्मा भगवान! मैं अनंत ज्ञान वाला हूँ।' वह कौन (बुलवाएगा)? मैं कल बुलवा रहा था और आप बोल रहे थे। आज

आप बुलवाओ और चंदूलाल बोलेंगे। कौन बुलवाएगा? देखने वाले 'आप' और बोलने वाले ये चंदूलाल। चलो, अब शुरू कर दो।

प्रश्नकर्ता : सिद्ध स्तुति करवाएँ तब क्या अनुभव होना चाहिए था?

दादाश्री : कुछ भी नहीं। (कोई भी) अनुभव होना ही नहीं चाहिए न! आत्मारूप हो जाने के बाद में और कौन सा अनुभव होना चाहिए? लेकिन सिद्ध स्तुति का फल तुरंत ही मिले, ऐसा है। मिले बगैर रहता ही नहीं। वह तो तुरंत मिल जाता है इसलिए फिर हमें पूछना नहीं होता कि भाई, आपको मिला या नहीं मिला?

सिद्ध स्तुति की रमणता से टूटें सभी अंतराय

प्रश्नकर्ता : *'सर्व अंतरायो तूटे सिद्ध आत्मरमणामां'* (सभी अंतराय टूटे सिद्ध आत्मरमणता में)! यह समझाइए।

दादाश्री : हाँ, आत्मा की जो सिद्ध स्तुति है, उस सिद्ध स्तुति की रमणता से सारे ही अंतराय टूट जाते हैं।

आत्मा सिद्ध ही है और यदि उसकी सिद्ध स्तुति बोलें, यदि उसमें रमणा हो तो सब (अंतराय) खत्म हो जाएँगे। उस आत्मरमणा में सारे ही अंतराय टूट जाते हैं, भगवान ही हो गया।

प्रश्नकर्ता : जागृति में कमी रह जाए तब क्या करना चाहिए? प्रतिक्रमण करना चाहिए या निश्चय करते रहना चाहिए?

दादाश्री : सिद्ध स्तुति करनी चाहिए। वह जो चरणविधि है न, उसमें से कुछ-कुछ शब्द निकाल देना, 'मैं कर रहा हूँ' वे सभी, और बाकी सब जो बचा वह सिद्ध स्तुति है, वह बोलना।

चरणविधि है सिद्ध स्थिति में ले जाने वाला व्यवहार

प्रश्नकर्ता : अब इस चरणविधि में जो बोला जाता है, 'मैं शुद्धात्मा हूँ' और 'अनंत ज्ञान वाला हूँ', वह सब किसमें आता है?

दादाश्री : आत्मपक्ष में आता है। चरणविधि तो आपको दिन में पढ़नी चाहिए। बाकी की विधियों में ये नव कलमें, नमस्कार विधि वगैरह सब आता है। ये करते हुए आपको नींद आ जाए, तब भी चलेगा। नींद के बाद जब वापस जाग्रत होने पर वह विधि वापस वहीं से शुरू हो जाए तब भी चलेगा लेकिन चरणविधि में ऐसा नहीं चलेगा, टुकड़ों में नहीं होनी चाहिए वह।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, यह चरणविधि करने से क्या फायदा होता है?

दादाश्री : यह चरणविधि तो व्यवहार सिद्ध का स्तवन है, व्यवहार सिद्ध स्तवन अर्थात् सिद्ध की स्तवना है यह। अत: खास तौर पर करने जैसी चीज़ है।

प्रश्नकर्ता : व्यवहार शुद्ध स्तवन यानी क्या?

दादाश्री : सिद्ध स्तवन। हमें सिद्ध स्थिति में ले जाने वाला व्यवहार है यह। इसीलिए चरणविधि दी है न!

एकाध बार पढ़ते हो (रोज़)?

प्रश्नकर्ता : हाँ! लेकिन यह जो चरणविधि करते हैं तो इसे चार्ज माना जाएगा या डिस्चार्ज?

दादाश्री : इसे चार्ज कहेंगे। जिसके लिए ऐसा कहा जाए कि 'करना पड़ेगा', वह चार्ज है और फिर वह आज्ञापूर्वक वाली चीज़ है।

चरणविधि बरताए जुदापन, डिस्चार्ज परिणामों से

चरणविधि और सिद्ध स्तुति, दोनों साथ में हैं। चरणविधि में ये दोनों हैं, चरणविधि और सिद्ध स्तुति दोनों साथ में हैं। पुष्टि यानी मज़बूत बनाती है, जैसे-जैसे इसे पढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे।

प्रश्नकर्ता : हम चरणविधि बोलते रहें तो हमें आत्मा के और अनात्मा के गुणधर्म का पता चलता रहेगा।

दादाश्री : हाँ...

प्रश्नकर्ता : तो जब कोई भी ऐसा समय आएगा, अनुरूप समय आएगा तब हमें पता चलेगा कि हम अलग हैं। (इसे टिकाए रखने के लिए) इन गुणधर्मों को बोलते रहेंगे तो चलेगा?

दादाश्री : ऐसा है न, जब वह चरणविधि कर रहा होता है न, तब अधिक जुदापन जैसा लगता है लेकिन जिसने एक भी बार चरणविधि नहीं पढ़ी हो लेकिन यह आत्मा प्राप्त किया हो न, तो वह भी बीमारी में अलग रहता है। तब उसे पता चलता है कि, 'मैं अलग हूँ'। यह स्वभाव है। उसमें तन्मयाकार परिणाम नहीं रहता। रोज़ जो (चरणविधि) करता हो, उसे तो और अधिक परिणाम आएगा, उच्च परिणाम आएगा। लेकिन ऐसा अलग तो सिर्फ बीमारी में ही रहता है, कुछ भी नहीं करता फिर भी। यह ज्ञान दिया है, अलग हो गया है, इसका अनुभव सिर्फ बीमारी में ही होता है। है अलग ही लेकिन ऐसा क्यों बोलना पड़ता है? वे जो डिस्चार्ज के परिणाम आते हैं, उनसे अंदर वापस ऐसा सब हो जाता है... सफोकेशन। तो ऐसा सब बोलने से वह खत्म हो जाएगा एकदम से। (फिर) एकदम साफ ही रहा करेगा।

ज्ञानी विधि में करते हैं गुणों की प्रतिष्ठा, प्रकट होती है शक्ति महात्माओं में

प्रश्नकर्ता : ये ज्ञान प्राप्त महात्मा जो आपके चरणों में चरणविधि करते हैं, साठ हज़ार महात्मा हैं, ये सब आपके लिए एक सरीखे ही हैं?

दादाश्री : सभी में डिफरेन्स है। रियली एक सरीखे, रिलेटिवली डिफरेन्स।

प्रश्नकर्ता : उस समय आपके अंदर क्या चल रहा होता है?

दादाश्री : मेरे अंदर कुछ नहीं चलता। सभी के शुद्धात्मा के साथ व्यवहार है न।

प्रश्नकर्ता : आपके सामने जो चरणविधि करते हैं, उस समय आपको अंदर क्या चल रहा होता है? आप क्या करते हैं?

दादाश्री : मैं तो तब प्रतिष्ठा करता हूँ। मैंने जो शुद्धात्मा दिया है न, उसके प्रतिष्ठित गुणों से प्रतिष्ठा करता हूँ। उससे शक्ति बढ़ती जाती है।

प्रश्नकर्ता : प्रतिष्ठा अर्थात् क्या?

दादाश्री : प्रतिष्ठा अर्थात् आप में जो शक्तियाँ खत्म हो गई थीं मैं वे शक्तियाँ डालता हूँ। 'आप अनंत ज्ञान वाले हो, अनंत दर्शन वाले हो, अनंत शक्ति वाले हो,' ऐसी शक्तियाँ डालता हूँ। आप ऐसा बोलते हो कि, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', तब मैं कहता हूँ कि 'तू अनंत ज्ञान वाला है, अनंत दर्शन वाला है, अनंत शक्ति वाला है, अनंत सुखधाम है।' तो वह अंदर गुँथता जाता है, प्रतिष्ठा होती जाती है। अत: जितनी अधिक प्रतिष्ठा होती है उतनी ही अधिक शक्ति (प्राप्त) होती है।

प्रश्नकर्ता : मंदिर की मूर्तियों में जो प्रतिष्ठा करते हैं वैसी ही प्रतिष्ठा हुई है?

दादाश्री : वह प्रतिष्ठा पत्थर में होती है और यह यथार्थ आत्मा में होती है। तभी तो आप में शक्ति उत्पन्न होती है। आप में शक्ति पुश ऑन करते हैं, प्रतिष्ठा करते हैं और मंदिर में हम जो बोलते हैं न वह सब, प्रतिष्ठा करते हैं वहाँ।

धातु मिलाप अर्थात् स्वभाव मिलाप

प्रश्नकर्ता : परम विनय, वह प्रज्ञा भाग है। भगवान से धातु मिलाप हो जाए तब तक परम विनय रहना चाहिए।

दादा, यह धातु मिलाप के बारे में कुछ बताइए न क्योंकि कई बार यह शब्द आता है, यह धातु मिलाप क्या है?

दादाश्री : धातु मिलाप अर्थात् उनकी जो धातु है, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत शक्ति, वैसी यदि अपनी हो जाए तो कहा जाएगा धातु मिलाप हो गया। वे जिस धातु के हैं, अपनी भी वही धातु हो जानी चाहिए। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत शक्ति, अनंत सुख, अव्याबाध, वह सबकुछ, जब (अपनी) धातु उस धातु जैसी हो जाती है तब धातु मिलाप हुआ कहा जाता है। यों भी दूसरी धातु में अंतर होगा तो नहीं चलेगा न! सोने के साथ में मिलावटी सोना जोड़ने जाएँ तो क्या होगा? धातु मिलाप नहीं कहा जाएगा। आपको समझ में आया न धातु मिलाप?

धातु मिलाप की क्रिया यानी क्या? तो कहते हैं, हम जब आत्मा के गुण बोलते हैं तभी धातु मिलाप होता है और अन्य गुण बोलते हैं तब धातु का मिलाप नहीं होता। धातु मिलाप अर्थात् स्वभाव का मिलाप। उसके स्वभाव से स्वभाव रूप हो जाना, वह। आपके लिए तो मेहनत करने को रखा ही कहाँ है? इसीलिए कहता हूँ कि काम *निकाल* लेना। जल्दी से जल्दी धातु मिलाप कर लेना।

प्रश्नकर्ता : तो जितनी आपकी आज्ञा में रहते हैं उतना धातु मिलाप में परिणमित होते हैं?

दादाश्री : हंड्रेड परसेन्ट (सौ प्रतिशत)।

पारसमणि बनाता है लोहे को सोना

आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा है और आप भी ज्ञाता-द्रष्टा के उस (पद) में आ जाओगे धीरे-धीरे, तो आपका और उनका दोनों का धातु मिलाप हो जाएगा। यानी आप जो हो, लोहे में से सोना बनते जाते हो और वह तो पारस है लेकिन आपका धातु मिलाप हो जाए अर्थात् उनका जो स्वभाव है वही अपना स्वभाव हो जाता है। लेकिन अंदर वाले की *भजना* करेंगे तभी न?

हमारे साथ धातु मिलाप कर, तो तू हमारे जैसा बन जाएगा। हम अबुध हो चुके हैं। हमारे अंदर बुद्धि नहीं है, हमारे साथ यदि तुम बुद्धि से काम लोगे तो क्या होगा? यहाँ पर तो धातु से धातु को मिलाना पड़ेगा। जो अबुध हो चुके हैं उनके साथ अबुध हो जाओगे तभी मेल बैठेगा वर्ना बेकार जाएगा। धातु मिलाप होना चाहिए। स्वभाव धातु अर्थात् स्वभाव मिलाप।

भगवान में जो धातु है, तू उसी धातु रूप हो जाएगा। जो सनातन है वही मोक्ष है। सनातन अर्थात् निरंतर। जो निरंतर रहता है वही मोक्ष है।

धातु मिलाप से परिपूर्णता

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है न, कि अपनी धातु, भगवान की धातु के साथ अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र जैसा है, उसके साथ अच्छी तरह से मिलाप हो जाना चाहिए तो अपनी यानी किसकी?

दादाश्री : अपनी अर्थात् हम जिसे 'शुद्धात्मा' कहते हैं, वह शुद्धात्मा, वह अपना भाव है अभी। निश्चित किया है न खुद ने कि, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वह शुद्धात्मा, एक्ज़ेक्ट धातु मिलाप हो जाए, तब तक वह करना है।

प्रश्नकर्ता : शुद्धात्मा की परिपूर्णदशा?

दादाश्री : परिपूर्णता। उसे धातु मिलाप कहा जाता है और अभी परिपूर्णता नहीं है।

❖❖❖❖❖

इटालिक्स

पुद्गल – अहंकार

पूरण – चार्ज होना, भरना

गलन – डिस्चार्ज होना, खाली होना

निर्जरा – आत्म प्रदेश में से कर्मों का अलग होना

शाता – सुख परिणाम

अशाता – दुःख परिणाम

लक्ष – जागृति

उपाधि – बाहर से आने वाला दुःख, परेशानी

ऊपरी – बॉस, वरिष्ठ मालिक

कढापा – कुढ़न, क्लेश

अजंपा – बेचैनी, अशांति

भजना – भक्ति

गुंठाणा – गुणस्थानक

तकलादी – नाशवंत

भोगवटा – सुख या दुःख का असर, भुगतना

निकाल, निकाली – निपटारा

दादा भगवान फाउन्डेशन के द्वारा प्रकाशित हिन्दी पुस्तकें

1. आत्मसाक्षात्कार
2. ज्ञानी पुरुष की पहचान
3. सर्व दु:खों से मुक्ति
4. कर्म का सिद्धांत
5. आत्मबोध
6. मैं कौन हूँ ?
7. पाप-पुण्य
8. भुगते उसी की भूल
9. एडजस्ट एवरीव्हेयर
10. टकराव टालिए
11. हुआ सो न्याय
12. चिंता
13. क्रोध
14. प्रतिक्रमण (सं, ग्रं)
16. दादा भगवान कौन ?
17. पैसों का व्यवहार (सं, ग्रं)
19. अंत:करण का स्वरूप
20. जगत कर्ता कौन ?
21. त्रिमंत्र
22. भावना से सुधरे जन्मोंजन्म
23. चमत्कार
24. प्रेम
25. समझ से प्राप्त ब्रह्मचर्य (सं, पू, उ)
28. दान
29. मानव धर्म
30. सेवा-परोपकार
31. मृत्यु समय, पहले और पश्चात्
32. निजदोष दर्शन से... निर्दोष
33. पति-पत्नी का दिव्य व्यवहार (सं)
34. क्लेश रहित जीवन
35. गुरु-शिष्य
36. अहिंसा
37. सत्य-असत्य के रहस्य
38. वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी
39. माता-पिता और बच्चों का व्यवहार(सं)
40. वाणी, व्यवहार में... (सं)
41. कर्म का विज्ञान
42. सहजता
43. आप्तवाणी - 1
44. आप्तवाणी - 2
45. आप्तवाणी - 3
46. आप्तवाणी - 4
47. आप्तवाणी - 5
48. आप्तवाणी - 6
49. आप्तवाणी - 7
50. आप्तवाणी - 8
51. आप्तवाणी - 9
52. आप्तवाणी - 12 (पू, उ)
54. आप्तवाणी - 13 (पू, उ)
56. आप्तवाणी - 14 (भाग-1 से 4)
60. ज्ञानी पुरुष (भाग-1)
61. व्यसन मुक्ति का मार्ग

(सं - संक्षिप्त, ग्रं - ग्रंथ, पू - पूर्वार्ध, उ - उत्तरार्ध)

★ दादा भगवान फाउन्डेशन के द्वारा गुजराती भाषा में भी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई है। वेबसाइट **www.dadabhagwan.org** पर से भी आप ये सभी पुस्तकें प्राप्त कर सकते हैं।

★ दादा भगवान फाउन्डेशन के द्वारा हर महीने हिन्दी, गुजराती तथा अंग्रेजी भाषा में ''दादावाणी'' मैगेज़ीन प्रकाशित होता है।

संपर्क सूत्र

दादा भगवान परिवार

अडालज : **त्रिमंदिर**, सीमंधर सिटी, अहमदाबाद-कलोल हाईवे,
(मुख्य केन्द्र) पोस्ट : अडालज, जि.-गांधीनगर, गुजरात - 382421
फोन : +91 79 3500 2100, +91 9328661166/77
E-mail : info@dadabhagwan.org

मुंबई : **त्रिमंदिर**, ऋषिवन, काजुपाडा, बोरिवली (E)
फोन : 9323528901

पुणे : **त्रिमंदिर**, पुणे-बेंगलुरू हाईवे, खेड़ शिवापुर के पास,
वर्वे बुद्रूक, जिला-पुणे, महाराष्ट्र **फोन** : 7203098409

दिल्ली	9810098564	**बेंगलुरू**	9590979099
कोलकता	9830093230	**हैदराबाद**	9885058771
चेन्नई	7200740000	**पुणे**	7218473468
जयपुर	8890357990	**जलंधर**	9814063043
भोपाल	6354602399	**चंडीगढ़**	9780732237
इन्दौर	6354602400	**कानपुर**	9452525981
रायपुर	9329644433	**सांगली**	9423870798
पटना	7352723132	**भुवनेश्वर**	8763073111
अमरावती	9422915064	**वाराणसी**	9795228541

U.S.A. : **DBVI Tel. :** +1 877-505-DADA (3232),
Email : info@us.dadabhagwan.org

U.K. : +44 330-111-DADA (3232)

Kenya : +254 795-92-DADA (3232)

UAE : +971 557316937

Dubai : +971 501364530

Australia : +61 402179706

New Zealand : +64 21 0376434

Singapore : +65 91457800

www.dadabhagwan.org

चेतन को स्पर्श करके निकली हुई चैतन्य वाणी

यह आप्तवाणी, यह तो डायरेक्ट चेतन को स्पर्श करके निकली हुई वाणी है। अन्य किसी भी जगह पर चेतन वाणी है ही नहीं। ज्ञानी पुरुष की वाणी शुद्ध चेतन को स्पर्श करके निकली हुई होती है, इसलिए यह वाणी चेतन जैसी कहलाती है। चेतन वाणी है इसलिए असर करती है।

इन आप्तवाणियों का हमारा एक-एक शब्द मोक्ष में ले जाएगा। यह अनुभव वाणी है। प्रैक्टिकल वाणी है यह और मुझे जो बरता, वही बता रहा हूँ। इसलिए अनुभूति का स्वाद आता है।

- दादाश्री

आत्मविज्ञानी 'ए. एम. पटेल' के भीतर प्रकट हुए

दादा भगवानना
असीम जय जयकार हो

मूल दीपक से प्रकटे दीपमाला

dadabhagwan.org

9 788198 166753

Printed in India

Price ₹250